मोक्षमार्ग-प्रकाशक

द्वितीय भाग।

लेखकः—

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी,

[समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, समयसार नाटक, पंचास्तिकाय, तत्त्वभावना, स्वयंभूस्तोत्र, समाधिशतक, इष्टोपदेश, आत्मानुशासन आदिके टीकाकार तथा प्रतिष्ठापाठ, गृहस्थधर्म, जैनधर्म प्रकाश, प्राचीन जैनस्मारक व अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थोंके सम्पादक।]

प्रकाशकः—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दिगम्बर जैनपुस्तकालय, कापड़ियाभवन—सूरत।

"जैनमित्र" के ३३ वें वर्षके ग्राहकोंको
श्री० लाला शिवलालजी जैन (भक्त)—बुलंदशहर
की ओरसे भेंट।

प्रथमावृत्ति] मगसिर वीर सं० २४५९ [११००+२००

मूल्य—दो रुपया।

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस,
सूरत।

प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
ऑ० सम्पादक जैनमित्र व मालिक,
दि० जैनपुस्तकालय-सूरत।

भूमिका।

जैपुर शहर (राजपूताना) में पंडित टोडरमलजी बड़े विद्वान होगए हैं। इन्होंने श्री गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार ऐसे महान ग्रंथोंकी भाषा टीका लिखी है। गोमटसार लब्धिसारको उक्त विद्वानने वि० संवत १८१८ में समाप्त किया था। उक्त विद्वानका स्वतंत्र लिखा हुआ श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ भारतमें बहुत प्रचलित है। इसमें बहुतसी शंकाओंका समाधान करते हुए ऐसा सुन्दर विवेचन किया है कि पढ़नेवालेके दिलमें जैनधर्मके तत्वोंकी श्रद्धा बैठती चली जाती है। खेद है कि उक्त पंडितजीने सम्यक्तके कहनेका प्रारम्भ किया ही था कि वे आयुकर्मके क्षयसे इस मानव देहमें न रहे। तबसे अबतक इस ग्रन्थको पूर्ण करनेका प्रयत्न किसी जिनवाणी-प्रेमीने नहीं किया था। सागवाड़ा व बागड़प्रांतमें मेवाड़की तरफ अधिक वास करनेवाले पं० बुधचंद्रजी मुझको कई वार मिले। और जब मिले तब यही प्रेरणा की कि मैं श्री मोक्षमार्ग प्रकाशकको पूर्ण करूँ। अंतमें वीर संवत २४५७ में मेरे मनमें यह बात जम गई, तब मैंने मोक्षमार्ग प्रकाशकको पुनः पढ़ा और यह जाना कि कौन २ सा विषय वे कहना चाहते थे जिसको पंडित टोडरमलजी विना लिखे ही चल दिये।

मोक्षमार्ग प्रकाशकका एक संस्करण जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालयने वीर सं० २४३८ व सन् १९११ में निर्णयसागर प्रेस

बम्बईमें मुद्रण कराया था, उस प्रतिके पढ़नेसे नीचे लिखे स्थलोंमें वे प्रकरण मिले जिन्हें टोडरमलजी लिखना चाहते थे।

अध्याय दूसरा—पृ० ४२, आगे कर्म अन्धकारमें लिखेंगे। पांचवा पृ० ६९३, देवगुरू शास्त्रका वर्णन इस ग्रन्थमें आगे विशेष लिखेंगे। पांचवा पृ० २२३—४, सम्यक्तका साचा स्वरूप आगे वर्णन करेंगे। सम्यग्ज्ञानका साचा स्वरूप आगे कहेंगे। सम्यक्चारित्रका सांचा स्वरूप आगे कहेंगे।

अध्याय सातवां—पृ० २९३, ज्ञानीके बुद्धिपूर्वक रागादि होते जहाँ सो विशेष आगे वर्णन करेंगे।

भरतादि सम्यग्दृष्टीनिके विषय कषाय प्रवृत्ति जैसे हो है सो भी विशेष आगे कहेंगे।

अध्याय सातवां पृष्ठ ३२८, अंतरंग कषाय शक्ति घरे विशुद्धता भए निर्जरा हो है सो इसका प्रकट स्वरूप आगे वर्णन करेंगे।

अध्याय सातवां—पृ० ३३९—फल लागे है सो अभिप्राय विषे वासना है ताका फल लागे हैं सो इसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे।

अध्याय सातवां पृ० ३६१—आगे निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गका निरूपण करेंगे।

अध्याय नौवा—पृ० ४९८, सम्यक्ती विषयसेवनादि कार्य वा क्रोधादि कार्य करे हैं तथापि तिस श्रद्धानका वाके नाश न हो है याका विशेष निर्णय आगे करेंगे।

इतने स्थलोंका कथन नहीं होने पाया। तब इन ही विषयोंको ध्यानमें लेकर नीचे लिखे सात अध्यायोंमें उनका कुछ दिग्दर्शन मात्र कराया है। पं० टोडरमलजी क्या लिखना चाहते थे वह बात तो उनके साथ ही गई, परन्तु प्रकरणके अनुसार जिसमें पाठकोंको मोक्ष मार्गके जाननेमें सुभीता हो, ऐसा कुछ लिखा है। वे सात अध्याय हैं–१–सम्यक्तका विशेष स्वरूप, दूसरा–सम्यक्ती कर्ता भोक्ता नहीं। तीसरा–सम्यक्ती अबंधक कैसे, भरतादिका दृष्टांत। चौथा–कर्मका बन्ध, उदय व सत्ता कैसे रहती है। पांचमा–सम्यक्तीके निर्जरा कैसे। छठा–सम्यग्ज्ञानका स्वरूप, सातवां–सम्यक्चारित्रका स्वरूप।

मेरे इस साहसको देखकर बुद्धिमान पंडितजन हास्य करेंगे। तथापि उनके हास्यका ध्यान न देते हुए मैंने अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार श्री गोमटसार व समयसार, प्रवचनसार व श्रावकाचारके आधारसे जो कुछ समझमें आया सो लिखा है। विद्वज्जन कहीं भूल हो उसको ठीक करलें व मेरे साहसपर क्षमा करें। यदि कोई सिद्धांतशास्त्री इन्हीं छोड़ी हुई बातोंका खुलासा करते हुए दूसरा मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थ द्वितीयभाग लिखें तो और भी अच्छा हो। जबतक दूसरा कोई ग्रंथ प्रकट न हो तबतक इसीसे ही काम चले, इस भावसे यह द्वितीयभाग पूर्ण किया है। पाठकगण ध्यानसे पढ़के लाभ उठावें व मोक्षमार्गपर चलके स्वहित करें यही कामना है।

मुरादाबाद,
कार्तिकवदी १४ वी० सं०
२४५७ या वि० सं० १९८८
ता० ८ नवम्बर १९३१

ब्र० सीतल।

निवेदन।

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजीकी अमरकीर्ति स्वरूप मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थको देखकर प्रत्येक श्रद्धालु जैनका मस्तक उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ताके सामने नत होजाता है। यदि स्व० पंडितजी कुछ समयतक और भी इस जगतीतलपर रहते तो मोक्षमार्ग-प्रकाशकको पूर्ण करके हमारे सामने जैन सिद्धान्तका सम्पूर्ण सार रख जाते, किन्तु दुर्भाग्यका विषय है कि यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया। और पौनेदोसौ वर्षमें इसे किसीने भी पूर्ण नहीं किया।

बहुत कुछ विचार और अध्ययनके बाद श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने इस कामको अपने हाथमें लिया और छूटे हुये प्रकरणोंको शास्त्राधारसे पूर्ण कर दिया। वैसे तो ब्रह्मचारीजीने अभीतक समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, इष्टोपदेश, तत्वभावना आदि अनेक ग्रन्थोंकी टीकायें की हैं लेकिन हमारी समझसे आपकी यह कृति पूर्वकी तमाम रचनाओंसे अधिक महत्व रखती है।

प्रस्तुत ग्रंथमें आपने अन्य विषयोंका तो विद्वत्तापूर्ण स्पष्टीकरण किया ही है मगर कर्मकाण्डका विषय कितने परिश्रम और अध्ययनके बाद लिखा गया है यह विवेकी पाठकगण उसे पढ़कर और उनकी संदृष्टियों (नक्शों) को देखकर स्वयं समझ सकेंगे।

जिस प्रकार हमारे द्वारा प्रकाशित किये गये ब्रह्मचारीजीके अन्य ग्रन्थोंमें आगमानुकूलताका पूर्ण विचार रखा गया है उसी-प्रकार इस ग्रन्थमें भी जैनागमकी भली भांति रक्षा की गई है। फिर भी खेदका विषय है कि ब्रह्मचारीजीके कुछ विद्वेषियोंने इस निर्मल कृतिपर कीचड़ उछालना प्रारम्भ कर दिया था। आश्चर्य तो यह है कि इस ग्रन्थके प्रगट होनेके ८ माह पूर्व ही इन्दौरकी महिलापरिषद्में किसी विद्वेषीने इस अप्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक उत्तरार्धके विरुद्ध एक प्रस्ताव पास करा डाला था। ग्रन्थको देखे विना ही उसका विरोध करा देना विद्वेषकी जलती हुई निशानी है! विरोधी लोग इतना कराके ही संतुष्ट नहीं हुये किंतु 'जैनगजट' में भी मोक्षमार्ग प्रकाशक उत्तरार्धके विरोधमें बहुत कुछ लिखा गया। और जनताको अनेक असत्य कल्पनाओंसे भड़काया गया था।

परन्तु पाठकगण इस ग्रन्थको अक्षरशः पढ़कर देखेंगे कि विरोधियोंकी कल्पना कितनी विद्वेषपूर्ण एवं झूठसे भरपूर थीं। इस ग्रन्थमें तो किसी भी आगमविरोधी विषयकी गंध तक नहीं है। प्रत्युत यह ग्रन्थ तो भव्य जीवोंको मोक्षका मार्ग प्रकाशित करनेके लिये लिखा गया है, फिर भला इसमें अनर्थकारी विषयोंका कथन कैसे होसकता है?

जैन समाजमें कुछ ऐसे पण्डित कहे जानेवाले जीव हैं, जो स्वयं तो कुछ कर धर नहीं सकते हैं, किन्तु दूसरोंको कार्य करते

हुये देखकर दुखी होते हैं, विरोध करते हैं और व्यर्थका विद्वेषपूर्ण कीचड़ उछालते हैं, परन्तु सूर्यपर धूल फेंकनेसे सूर्यका कुछ भी बिगाड़ नहीं होता है। हम ब्रह्मचारीजीके इस परिश्रमकी सराहना करते हैं कि आपने इस अधूरे ग्रन्थको पूर्ण करनेमें अपने समय, शक्ति और ज्ञानका अच्छा उपयोग किया है।

इस ग्रन्थको श्रीमान् लाला शिवलालजी जैन (भक्त) बुलन्दशहरने मुद्रित कराके 'जैनमित्र' के ग्राहकोंको भेंटमें देनेके लिये जो महान दान किया है उसके लिये वे अत्यंत धन्यवादके पात्र हैं और आशा है कि अन्य श्रीमान् भी आपके इस शास्त्र-दानका अनुकरण करेंगे।

'जैनमित्र' के ग्राहकोंको तो यह ग्रन्थ भेंटमें ही प्राप्त होजायगा, परन्तु जो जैनमित्रके ग्राहक नहीं हैं वे इसके लाभसे वंचित न रह जाँय इसलिये इसकी कुछ इनीगिनी प्रतियां विक्रीके लिये भी निकाली गई हैं, जिनके शीघ्र ही बिक जानेकी पूर्ण उम्मेद है। अतः विक्रयार्थ मंगानेवाले शीघ्रता करें अन्यथा दूसरी आवृत्तिके लिये प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। समाज सेवक—

वीर सं० २४५९ } मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
मगसिर सुदी १ } प्रकाशक।
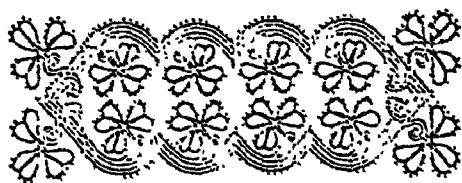
श्रीमान् लाला शिवलालजी जैन (भक्त)-बुलंदशहर।

[मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थके दानी]

संक्षिप्त परिचय.

श्रीमान् लाला शिवलालजी जैन (भक्त)-बुलन्दशहर।

सुनपत (जिला करनाल—पंजाब) निवासी लाला जटमलराय आर्थिक दशा हीन होजानेके कारण गदरसे पूर्व बुलन्दशहर (यू० पी०) में आ बसे थे। क्योंकि इस नगरके सन्निकट भूड़ ग्राममें उनके ज्येष्ठ पुत्र ला० हजारीलालजीकी ससुराल थी। उनके छः पुत्रोंमें पांचवें पुत्रका नाम ला० हजारीलाल था जिनके सुपुत्र इस पुस्तकके दानी महोदय ला० शिवलालजी (भक्त) हैं। इनका जन्म विक्रम सम्वत् १९१४में हुआ था। इनकी प्राथमिक शिक्षा उर्दू भाषामें प्रारम्भ हुई थी। २८—३० वर्षकी युवावस्थामें इन्हें कुछ चक्षु रोग होगया, जिसकी चिकित्सा कारणवश सुयोग्य वैद्य डाक्टरों द्वारा नहीं हुई, जिसका अंतिम परिणाम यह हुआ कि इन्हें आंखोंसे सर्वथा वंचित होजाना पड़ा।

इनके पिता और भाई पसरठकी दूकान किया करते थे। परन्तु इन्हें बालपनेसे ही स्वधन उपार्जनकी लालसा थी। धनकी न्यूनताके कारण यह दूसरी दूकान तो न खोल सके, किन्तु चवेना आदिका खोमचा बेचकर अपनी कार्यकुशलताका परिचय देने लगे। इस व्यवसायसे जब कुछ द्रव्य एकत्र कर लिया तो उसे ब्याजपर लगा दिया और इसी विधिसे अपनी निजी पूंजीको बढ़ाते रहे यहांतक कि इनके पास हजारों रुपयाका ठिकाना हो गया। चक्षु विहीन होनेके पश्चात् केवल लैनदैनका व्यवहार ही करते रहे और अपना अधिक समय धर्मध्यान तथा शास्त्र श्रवण आदि पुण्य-कार्योंमें बिताने लगे।

जैन धर्मके अटल श्रद्धानी होनेके उपलक्षमें प्रायः लोग इन्हें भक्तजी कहा करते हैं।

इनकी स्मरणशक्ति बहुत तीक्ष्ण है। इन्होंने छःढाला, भक्तामर स्तोत्र, बाइस परिषह, तीन प्रकारकी भावनायें, निर्वाण कांड, तीन मंगल, नित्य नियम पुजा, सिद्ध पुजा, पंचमेरु पुजा, षोडशकारण पूजा, नंदीश्वर पूजा, दशलक्षण धर्म पूजा आदि अनेक पाठस्तोत्र और पुजाओंको अल्प समयमें ही सुन२ कर कंठस्थ कर लिया था। नियम पूर्वक नित्य मँगल तथा पूजा पढवानेका इन्हें बड़ा प्रेम है। समस्त कंठस्थ पुजाओं एवं पाठोंको जाप करनेके बाद प्रातः और सायंकालमें बराबर नित्य फेर लिया करते हैं।

इन्हें शास्त्र दान करनेमें हार्दिक आनंद होता है। बालकों और स्त्रियोंको उनके उपयोगी पुस्तकें यथा समय मंगाकर वितीर्ण करते और लिखित तथा मुद्रित शास्त्र मँदिरोंमें भेजते रहते हैं।

सर्वार्थसिद्धि और गोमट्टसार जैसे महान् ग्रन्थ तथा अन्य कितने ही शास्त्र निजी व्ययसे लिखवाकर इन्होंने यहांके मंदिरमें विराजमान किये हैं।

अनाथालय, ब्रह्मचर्याश्रम तथा अन्य संस्थाओंको और दुःखित भुक्षित, त्यागी, ब्रह्मचारी आदिको समय समयपर भक्ति और श्रद्धापूर्वक यथेच्छित सहायता देते रहते हैं।

सुमेर० दिगम्बर जैन होस्टेल प्रयागमें इन्होंने एक कमरा बनवाया है और यहांके मंदिरजीमें भी अच्छी सहायता दी है।

इनके स्त्री पुत्र तो कोई नहीं है, परन्तु बाबू खेराजीलालजी मुख्तार और बाबू गुरुचरणदासजी बी० ए० एल एल० बी० एड-

बोकेट दो भतीजे हैं जिनको यह पुत्र समान ही मानते हैं और उन्हींके पास रहते सहते और खाते पीते हैं। यह दोनों भाई बड़े सुयोग्य, सुपात्र, सुशील और धर्मप्रेमी सज्जन हैं। ये अपने पूज्य चचाजीको कभी किसी धर्मकार्य या द्रव्य दान करनेमें बाधक नहीं होते। न उनके धनकी कभी इच्छा करते हैं, क्योंकि पुण्योदयसे यहांकी बिरादरीमें उनका घर चोटीका गिना जाता है। जिसप्रकार यह दोनों भाई भक्तजीको पितातुल्य मानकर तत्परतासे सेवा करते हैं वैसे ही उनकी पूज्य माताजी और धर्मपत्नियां भी इनकी यथा-योग्य टहल करनेमें कभी आलस्य नहीं मानतीं।

यद्यपि वृद्धावस्थामें उत्पन्न होनेवाले रोगोंके कारण अवश्य भक्तजीका शरीर अस्वस्थ और चित्त खेदखिन्नसा रहता है तो भी इनकी धर्मसाधना और दानवृत्तिमें कोई शिथिलता नहीं आई है।

एकवार श्री० ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी यहां पधारे थे, उनके उपदेशसे आपने ब्रह्मचारीजी द्वारा संपादित श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक द्वितीय भागको मुद्रित कराके जैन मित्रके ३१ वें वर्षके ग्राहकोंको भेट देनेकी स्वीकारता देते हुये कहा कि 'स्व० पं० टोडरमलजीके कथनके शेषांशका जैन समाजमें प्रचार होजावे और मोक्ष मार्गका सच्चा स्वरूप प्रकाशित हो—यह मेरी आंतरिक भावना है।" तद-नुसार यह ग्रन्थ आपकी ओरसे छपाया गया है।

प्रतिसमय हमारी मनोकामना यही है कि भक्तजी चिरायु हो और धर्मध्यानमें विशेष लीन रहें। ता० १९-११-३२.

—भोलानाथ दरखशा, बुलन्दशहर।

शुद्धिपत्र ।

नोट—कृपाकर नीचेकी अशुद्धियां शुद्ध करके फिर ग्रन्थका स्वाध्याय करें ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४	१७	होगा या	हो जाया
३४	११	समाधिकी	सम्पत्तिकी
,,	११	उत्सव	इन सब
५५	१४	तितना	जितना
५६	१०	समता	समर्थता
६६	७	मान्न योग	भावयोग
६६	१२	वे ही कर्मरूप	सातावेदनीय रूप ही कर्म
७०	१८	तीव्रतासे	मंदतासे
८१	९	जेगिणो	जोगिणो
९६	६	अथ रुचि	आत्मरुचि
९७	१३	सम्यग्दर्शनके	सम्यग्दर्शनके बाधक
१२२	१२	मह्ओ	मह्ओ
,,	१७	निर्मल	मोहसे निर्ममत्त्व
१२५	३	हित	रहित
१२७	१८	जो	जोग
१३३	१९	औपादिक	औपाधिक
१५२	१३	अघातीय	पुण्य रूप अघातीय
१७०	१५	एक बंध	९ का बंध

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७६	१	+ज्ञु०	+ज्ञु० भ०
,,	९	३ युगल	२ युगल
२००	२१	उधय	उदय
२०१	२१	११२९	११९२
२१०	२४	८९३	९३–
२११	३	पापोंका	पांचोंका
२१४	३	जहां जहां ३का अंक है	वहां वहां ७ समझना चाहिये
२१५	८	९२	१२
२१९		आयुके खानेमें जहां ९ हैं वहां १ समझना चाहिये	
२२८	७	सेंके हुए	फेंके हुए
,,	२१	कर्मोंके नाशक हैं	पाप कर्मको, शुभ भाव जो मंदकषायरूप हैं वे पुण्यकर्मको बांधते हैं। शुद्ध भाव जो वीतराग-रूप हैं वे कर्मोंके नाशक हैं
२३३	१९	मुआदि तज्ञं	मुआदि तत्त्वं
२३४	६	शंका	शोक
२३५	२२	समंतभद्राचार्य	अमृतचंद्राचार्य
२३७–८	७	निसंयोजन	विसंयोजन
२३९	१७	बुद्धि	वृद्धि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४१	१	मुकवा	मुक्त्व
२५१	९	अगम	आगम
२६४	१३	अमूर्तीक कर्म	मूर्तीक
,,	१८	ज्ञानके विषयन	ज्ञानके विषय
२६८	१३	भवति सति	भवति
२६९	१७	भोत्तूण	मोत्तूण
२७०	१९	सुभिः	सुनिः
२८३	२१	ज्ञानाज्ञान	ज्ञान ज्ञान
२८५	२३	अनगाराणां	अनगाराणां
२९२	२१	णिदि	ठिदि
३०४	२२	अमास्वायि	आमास्वपि
३१२	२२	दो मिनट	४८ मिनट
३२६	१८	गृध्नता	गृद्धता
३२८	१९	१८ व्रतों	१२ व्रतों

विषय-सूची।

मोक्षमार्ग प्रकाशक।

द्वितीय भाग।

मंगलाचरण।

श्री अरहंत महन्तको, ध्याऊँ मन वच काय।
मोह ग्रंथि जासो कटे, बनै जु मोक्ष उपाय ॥१॥

सिद्ध शुद्ध परमात्मको, सुमरूं बारम्बार।
सिद्ध कार्य निज आतम हो, काटूं जड़ संसार ॥२॥

आचारज नृप जैनके, मार्ग चलावनहार।
दीक्षा शिक्षा देत हैं, नमहुं नमहुं गुणकार ॥३॥
उपाध्याय परमेष्ठिको, वंदूं मन उमगाय।
श्रुतज्ञान पाठी महा, ज्ञान देत सुखदाय ॥४॥
साधु शुद्ध मारग चलैं, साधत ध्यान निजात्म।
कर्म निर्जरा बहु करैं, नमहुं सुमर अध्यात्म ॥५॥
वर्तमान इस कल्पके, भरत क्षेत्र जिनराज।
वृषभ आदि महावीर लों, वँदों आतमकाज ॥६॥
श्रीमन्धरको आदि ले, बीस तीर्थ कर्तार।
विहरत क्षेत्र विदेहमें, नमहुं ज्ञान भर्तार ॥७॥
गौतम गणधर सुमरिके, जंबू चरण नमाय।
कुन्दकुन्द आचार्यको, ध्याऊँ चित्त लगाय ॥८॥
मोक्षमार्ग परकाश यह, ग्रंथ परम गुणदाय।
पंडित टोडरमल्लजी, रचा शास्त्र बल पाय ॥९॥
पूर्ण करे विन कालवश, पहुँचे स्वर्ग मंझार।
उनके बहु उपकारको, सुमर सुमर हरवार ॥१०॥
उपजी बुद्धि नवीन यह, करहुं पूर्ण यह वेद।
शक्ति नहीं पर भक्तिसे, उद्यम धर बिन पेद ॥११॥
पंडित वरके गुणनको, सन्मुख धर मतिरूप।
लिखत ग्रंथ बुधजन निमित, जिन आगम अनुरूप ॥१२॥

प्रथम अध्याय।

सम्यग्दर्शनका विशेष स्वरूप।

यद्यपि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता रूप है तथापि उनमें सम्यग्दर्शन प्रधान है। इसी लिये उसको तीनोंके आदिमें कहा है। यद्यपि ज्ञान विना सम्यग्दर्शनका उदय नहीं होता तथापि जबतक सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं होता तबतक ज्ञान सम्यग्ज्ञानका नाम नहीं पाता। यद्यपि सम्यग्दर्शनके होते ही उसी समय ज्ञान सम्यग्ज्ञान होजाता है तथापि सम्यग्ज्ञानके लिये सम्यग्दर्शन कारण है इसलिये सबसे पहले कहना योग्य है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विना चारित्र कुचारित्र नाम पाता है, चाहे वह जैन शास्त्रानुसार व्यवहार चारित्र कैसा भी उज्वल हो। परंतु सम्यग्दर्शन और सत्यग्ज्ञानके साथ थोड़ा भी चारित्र सम्यक्चारित्र नाम पाता है। इसलिये इन दोनोंके पीछे सम्यग्चारित्रको कहा गया है। व्यवहार नयसे मोक्ष-मार्गके तीन भेद किये गए हैं। निश्चयनयसे मोक्षमार्ग एकरूप आत्माका स्वभाव है। जो बिलकुल वस्तुस्वरूप हो उसे निश्चय कहते हैं। जो उसका भेद रूप वर्णन कारणवश किया गया हो सो व्यवहार है। निश्चयसे या असलमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र तीनों ही आत्माके गुण हैं। आत्मासे अभेदरूप हैं। इसलिये एक आत्मा ही मोक्षमार्ग है।

यहां यह प्रश्न होगा कि जब आत्मा ही मोक्षमार्ग है तब मोक्ष रूप क्या है। इसका समाधान यह है कि आत्मा ही मोक्ष रूप है, आत्मा ही मोक्षमार्ग है। आत्माकी पूर्ण शुद्ध अवस्था मोक्षरूप है।

तब उसी शुद्ध अवस्था पर लक्ष्य रखते हुए—द्रव्य दृष्टिसे अपने आत्माको सर्व द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म रागद्वेषादि, नोकर्म शरीरादि इन सबसे व अन्य सर्व आत्माओंसे व पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पांच द्रव्योंसे भिन्न अपने यथार्थ स्वरूपमें जैसा है वैसा श्रद्धान करते हुए व उसका ज्ञान करते हुए उसीका अनुभव करना। उसके द्रव्य स्वरूपमें एकाग्र हो तन्मय होना अर्थात् आत्मामय होना यही मोक्षमार्ग है। आत्मामय होना आत्मासे पृथक् नहीं है इसलिये आत्माकी साधक अवस्था मोक्षमार्ग है जब कि आत्माकी पूर्ण अवस्था मोक्षरूप है। वास्तवमें मोक्षमार्ग भी आत्माहीमें है व मोक्ष भी आत्मामें ही है। आत्मा रूप होना व स्वसमय रूप रहना भी मोक्षमार्ग है।

श्री अमृतचंद्र आचार्य समयसार कलशमें कहते हैं:—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥ १५॥

भावार्थ—यह आत्मा सदा ही ज्ञानका समुदाय है। यही साध्य है, यही साधक है। इसतरह दो रूप होकर भी एक ही है, ऐसा समझकर जो सिद्धि चाहते हैं उनको उपासना करने योग्य है। वे ही आचार्य तत्त्वार्थसारमें कहते हैं:—

स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद्द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः॥ २१॥

भावार्थ—पर्यायार्थिक नय या व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र तीन रूप मोक्षमार्ग है परन्तु द्रव्यार्थिक नय या निश्चयनयसे सर्वदा ही अद्वितीय एक ज्ञाता आत्मा ही मोक्षमार्ग है।

श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासनमें स्वात्मानुभवको ही मोक्षमार्ग कह रहे हैं। यथा—

दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्जानन् पश्यन्नुदासिता।
चित्सामान्यविशेषात्मा स्वात्मनैवानुभूयतां ॥ १६२ ॥

भावार्थ-सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रूपमई होनेसे सामान्यतया विशेष स्वरूप आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा श्रद्धान करते हुए, जानते हुए व उदासीन होते हुए अनुभव करो। श्री देवसेनाचार्य तत्वसारमें आत्मध्यान या आत्मानुभवको ही मोक्षमार्ग कह रहे हैं—

झाणेण कुणउ भेयं पुग्गलजीवाण तहय कम्माणं।
घेत्तव्वो णिय अप्पा सिद्ध सरूवो परो बंभो ॥ २५ ॥
मल रहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥

भावार्थ-ध्यानके बलसे जीवका पुद्गल तथा कर्मादिसे भेद करके अपने आत्माको सिद्ध स्वरूप व परम ब्रह्म स्वरूप निश्चयसे समझकर ग्रहण करना चाहिये। जैसे सिद्ध अवस्थामें सिद्ध भगवान सर्व मल रहित तथा ज्ञानमई विराजते हैं तैसे अपने शरीरके भीतर परम ब्रह्म स्वरूप आत्माको अनुभव करना चाहिये।

यह आत्मा निश्चयसे या अपने स्वरूपसे सर्व अनात्मासे रहित है। आप आपरूप है। ज्ञान दर्शन सुख वीर्य सम्यक्त व चारित्र रूप है। अमूर्तीक है। परम निर्मल आकाशके समान निर्लेप है। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी होकर भी शरीर प्रमाण अपने आकारको रखनेवाला है। द्रव्य अपेक्षा नित्य है पर्यायकी अपेक्षा परिणमनशील या अनित्य है। अपने गुणोंसे व पर्यायोंसे सदा तन्मय है। जैसा श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेशमें कहते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥ २१॥

भावार्थ–यह आत्मा लोक व अलोकका ज्ञाता दृष्टा है, अत्यन्त सुख स्वरूप है, अविनाशी है, शरीर मात्र आकारधारी है तथा स्वसंवेदन या स्वानुभवसे ही अनुभवमें आकर प्रकाशित होता है।

इस ही स्वरूप अपने आत्माको श्रद्धान कर व जानकर व इसी रूप अनुभव करना जहां होता है वहां एक स्वानुभव स्वरूप आत्मा ही मोक्षमार्ग होजाता है। जहां शुद्ध आत्माका ध्यान होगा वहां वीतरागता झलकेगी। वीतरागता ही कर्मोंका संवर तथा निर्जरा करनेवाली है इसलिये आत्मानुभव ही वह उपाय है जिससे आत्मा बंधनसे मुक्त होकर शुद्ध होसक्ता है।

निश्चय मोक्षमार्गकी प्राप्ति उस समय तक नहीं हो सक्ती है जिस समय तक सम्यग्दर्शन गुणका विकाश इस आत्मामें न हो। इस सम्यक्त गुणका विपरीत परिणमन अर्थात् मिथ्यात्व भाव मिथ्यात्व कर्म तथा अनंतानुबन्धी कषायोंके उदयके कारण अनादिकालसे इस संसारी जीवके होरहा है। जबतक यह उदय न हटे तबतक सम्यक्त गुण प्रगट नहीं हो सक्ता है। इसलिये मुमुक्षु भव्य जीवका यह परम पुरुषार्थ होना चाहिये कि वह इस उदयको उपशमन करके सम्यक्तको लाभ करे। श्री अमृतचन्द्र आचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रंथमें कहते हैं–

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम्॥ १५॥

भावार्थ–विपरीत अभिप्राय या श्रद्धानको दूर करके व भले-प्रकार अपने तत्त्वको निश्चय करके जो उस अपने तत्त्वसे चलायमान न होना अर्थात् उसमें दृढ़ता रखना यही पुरुषार्थ सिद्धिका उपाय है।

ऊपर लिखित पांच कर्म प्रकृतियोंके अनुभाग या रसके वेगसे यह संसारी आत्मा उन्मत्त होरहा है। यह विपरीत भाव अनादिकालसे छाया हुआ है कि मैं एकेंद्रिय हूं, द्वेन्द्रिय कीट हूं, तेन्द्रिय हूं, चौन्द्रिय हूं, पशु हूं, पक्षी हूं, मानव हूं, देव हूं, नारकी हूं, यह तन मेरा है, यह धन व परिग्रह मेरा है, यह कुटुम्ब मेरा है, यह संपत्ति मेरी है। यह प्राणी शरीर रूप ही अपनेको मान रहा है। शरीरके जन्मसे अपना जन्म व शरीरके मरणसे अपना मरण कल्पना कर रहा है। शरीरके सुखमें सुखी व शरीरके दुखमें दुखी अपनेको मान रहा है। इन्द्रिय विषय भोगकी तृष्णाका पूर्ण करना ही इसका ध्येय बन रहा है। यह प्राणी हरएक शरीरमें जबतक रहता है उस शरीरमें जितनी इंद्रियें होती हैं उनकी इच्छाका प्रेरा हुआ उद्यम क्रिया करता है। इच्छाकी पूर्तिमें और तृष्णाको बढ़ा लेता है। यहांतक कि मरण आजाता है और यह निराश हो मरकर दूसरे शरीरमें जन्म लेता है। वहां भी यही दशा रहती है। इस तरह अनंत-काल इस संसारी जीवने वृथा ही गमा दिया। मिथ्यात्वके नशेमें तत्त्वको जाना नहीं, सच्ची सुखशांतिका पता पाया नहीं। मिथ्या-त्वसे कैसी बुरी दशा इस जीवकी होरही है इसका वर्णन पंडित टोडरमलजीने पहले भागमें भले प्रकार दिखा दिया है। इस मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभका किस तरह

दमन करना इस पुरुषार्थकी आवश्यक्ता है। यह पुरुषार्थ सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जागृत रूप व बुद्धिवान ही कर सक्ता है।

सम्यक्तकी प्राप्तिका राजमार्ग यह है कि पांच लब्धियोंकी प्राप्ति कीजावे। प्रथम क्षयोपशम लब्धि है। सैनी पंचेन्द्रिय जीवके ऐसी अवस्थाकी प्राप्ति होना जब उसके पाप कर्मोंका उदय समय समय अनंतगुणा हीन आवे। अर्थात् परिणामोंमें आकुलताके कारण कम हों वह क्षयोपशम लब्धि है। जिस प्राणिको शरीर सम्बंधी कष्टोंकी तीव्रता होती है उसका परिणाम रात दिन उन कष्टोंके निवारणमें ही तन्मय रहता है। आत्महितकी तरफ लक्ष्य नहीं होता है। यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि आत्माकी अवस्था अवनतिसे उन्नतिमें लानेके लिये आत्माके पास उसका वह ज्ञान तथा आत्म बल है जो ज्ञानावरण तथा अंतराय कर्मके क्षयोपशमसे प्रकाशित हुआ है। साथमें मिथ्यात्व और कषायका जितना बल कम होता है उतना उनकी तरफसे ज्ञान और आत्म बलके प्रयोगमें विघ्नबाधा कम होती है। हरएक संसारी जीवके चाहे वह छोटासे छोटा निगोद एकेन्द्रिय जीव भी क्यों न हो कुछ न कुछ ज्ञान व आत्मवीर्य प्रगट रहता है। यही पुरुषार्थ करनेकी कुँजी है।

मनवाला प्राणी विचारपूर्वक इस कुंजीसे बहुत काम लेसक्ता है उतना काम मनरहित एकेन्द्रियादि जीव नहीं लेसक्ते हैं। तथापि असैनी जीव भी इसी शक्तिसे इच्छानुसार काम किया करते हैं। रागद्वेष पूर्वक काम करनेमें लीनताको कर्मचेतना कहते हैं। सुख दुःखमें लीनताको कर्मफल चेतना कहते हैं। ये दोनों चेतनाएं सर्व ही मिथ्यादृष्टी जीवोंको अवश्य होती हैं। एकेन्द्रिय

जीवोंमें कर्मफल चेतनाकी मुख्यता है, कर्म चेतनाकी गौणता है क्योंकि उनका हलन चलन कार्य प्रगट देखनेमें नहीं आता तथापि कर्म चेतनाके ही बलसे वृक्षादि पानी मिट्टी आदि अपना खाद्य घसीटते हैं व अपनी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओंका उपाय अपनी शक्तिके अनुसार किया करते हैं। शक्ति अल्प होनेसे उपाय बहुत पराधीनतासे होता है।

यदि किसी वृक्षको सूखी मिट्टीपर रख दिया जाय व हवा-पानी न पहुँचाया जाय तो वह स्वयं कीट आदिके समान चलकर अन्यत्र नहीं जासकेगा, वहीं खाद्य न पाकर मर जायगा इसलिये कर्मचेतनकी गौणता है। परन्तु द्वेन्द्रियादि जीवोंके कर्मफल चेतना और कर्म चेतना दोनोंकी मुख्यता है। मक्खी, चीटी, भिड़, मकड़ी, खटमल, पतंग, मच्छर आदिके कार्य जो वे अपनी चार संज्ञाओंके कारण किया करते हैं, हमारे नित्य अनुभवमें आते हैं। कार्यके करनेमें पुरुषार्थ करनेवाला ज्ञान और आत्मवीर्य है। इन हीसे प्राणीके पाप पुण्य बन्धमें हीनता व अधिकता होती है। यद्यपि पाप व पुण्यका बंध कम व अधिक कषायकी मात्राके ऊपर निर्भर है तथापि कषाय भावोंके कम व अधिक होनेमें ज्ञान व आत्मवीर्यका कार्य निमित्त कारण होजाता है।

असैनी जीव किसतरह उन्नति करके सैनी पंचेन्द्रिय पदका लाभ कर सक्ते हैं, इसका समाधान यह है कि किसी बाहरी निमित्तके कारण जब कषाय मंद होजाती है, लेश्या अनुकूल होजाती है तब असैनी एकेन्द्रिय जीव भी मनुष्य गति व मनुष्य आयु बांधकर मनुष्य जन्म पा लेता है।

कषाय मंद होनेके बाहरी निमित्त अनेक प्रकारसे असैनी जीवोंको मिल सके हैं। जैसे कहीं साधुजन तपस्या व ध्यान करते हों, धर्मचर्चा होती हो व पूजापाठ होता हो व परोपकार व दानकी चर्चा होती हो व अन्य कोई शुभ कार्य होता हो वहां उन कार्य करनेवालोंके भावोंके निमित्तसे वातावरणपर असर पड़ता है। उस वातावरणका असर एकेन्द्रिय आदि जीवोंपर पड़ता है। यही कारण है जो ध्यानी तपस्वी साधुकी संगतिसे कहीं२ वृक्ष जो प्रफुल्लित न थे खिल जाते हैं। वातावरणका असर जैसे हम सैनी जीवोंके भावोंपर पड़ता है वैसे असैनी जीवोंके भावोंपर पड़ता है। हमारे ऊपर बुद्धिपूर्वक व अबुद्धि पूर्वक दोनों तरहसे असर पड़ता है जब कि असैनी जीवोंमें अबुद्धिपूर्वक असर पड़ता है। इस वातावरणसे कषाय मंद होजाती है। उसी समय उन्नतिकारक कर्मका बंध हो जाता है।

सैनी जीवोंमें असैनीकी अपेक्षा इतना ही अंतर है कि वे मन द्वारा तर्क वितर्क व कारण कार्यका विचार अधिक कर सक्ते हैं, शेष सब बातोंमें समानता है। कृष्ण, नील, कापोत तीन प्रकारकी लेश्याएँ एकेंद्रियादि जीवोंके पाई जाती हैं। उनमें भी कषायकी तीव्रता व मंदता होती है। जिसमें अंतरंग कारण ज्ञान व आत्मवीर्यका विकाश व बाहरी कारण वातावरण है। अबुद्धिपूर्वक जहां हमारे भावोंमें अच्छा व बुरा परिवर्तन हो, हम देख सके हैं कि वातावरणका कैसा असर होता है। जैसा अबुद्धिपूर्वक असर हमारे ऊपर पड़ता है वैसा ही असर अन्य एकेन्द्रियादि असैनी जीवोंपर भी पड़ सक्ता है। सुसंगतिमें बैठना व कुसंगतिसे बचना,

इसीलिये उपदेश किया गया है। विना उपदेशके ही कुसंगतिसे बुरा व सुसंगतिसे अच्छा असर पड़ता है।

यह सब वातावरणका कारण है। इसीसे शांतपरिणामी साधुओंके पास जंगलके कुत्ते आदि पशु शांति पाकर बैठे रहते हैं। जैसे कानसे सुननेवालोंपर नाना प्रकारके वाजोंका असर नाना प्रकारका होता है वैसे वातावरणका होता है। वीर गाना भावको वीर, शोकित गाना भावको शोकित, शृंगारपूर्ण गाना भावको शृङ्गारित व वैराग्यमयी वैराग्यमय बना देता है। भावोंके पलटनेमें बाहरी निमित्त बड़ा भारी काम करता है।

सैनी पंचेन्द्रिय जीवने क्षयोपशम लब्धिको पाकर अपना पुरुषार्थ इतना विकसित पा लिया है कि यह आगे चढ़नेका विशेष उद्यम कर सक्ता है। उद्यमका साधन वही ज्ञान और आत्मवीर्य है जो कर्मोंके असरके हटनेसे प्रकाशित होरहा है। विशुद्ध लब्धि दूसरी है। इसके लिये कुछ बाहरी प्रयत्नकी जरूरत है। वह बाहरी प्रयत्न सुशिक्षा व सत्संगतिका लाभ लेना है।

इसलिये हरएक बालक व बालिकाको सुविद्यासे भूषित करना चाहिये जिससे उसको हित व अहितकी, नीति व अनीतिकी, हिंसा व दयाकी, क्रूरता व नम्रताकी, क्रोध व क्षमाकी, मान व मृदुताकी, माया व सफलताकी, लोभ व संतोषकी, कामभाव व ब्रह्मचर्यकी, आलस व उद्योगकी, अपकार व उपकारकी, अस्वास्थ्य व स्वास्थ्यके नियमोंकी, असत्य व सत्यकी, चोरी व ईमानदारीकी, आदि बातोंके दोष व गुणोंकी पहचान होजावे। अक्षरज्ञान व भाषाज्ञान तो मात्र सुशिक्षाके लिये कारण हैं। भाषाज्ञानके द्वारा

भाषाकी पुस्तकें ऐसी उत्तम होनी चाहिये व उनके शिक्षक ऐसे उत्तम होने चाहिये, जो शिष्योंके भावोंमें अच्छा असर डाल सकें।

हरएक मानव शरीर, वचन, मन व आत्मा इन चार प्रगट शक्तियोंका धारी है। व इन हीसे उसे संसार-यात्रामें काम करना पड़ता है। इसलिये इन शक्तियोंके विकाशकी शिक्षा ही सुशिक्षा है। शरीर तन्दुरुस्त रहे, वचन प्रौढ़, सत्य, हितमित हो, मन सुविचारवान हो तथा आत्मा आत्मज्ञानी व अपनेको समझनेवाला हो ऐसी सुशिक्षा आवश्यक है।

शरीरकी तन्दुरुस्तीके लिये तीन बातोंकी शिक्षा प्रयोग सहित दी जानी चाहिये। (१) स्वच्छ वायु, जल व शुद्ध भोजनकी। गंदी वायु, गंदा जल व बासी सड़ा गला तुषा व मादक पदार्थ व मांसादिका भोजन शरीरके लिये महान हानिकारक है। सादा व ताजा अन्न, शाक, घी, दुध, फलादिका भोजन शरीरको लाभकारी है। (२) व्यायाम करनेकी। कसरत करनेसे शरीरके भीतरकी गंदी वायु व गंदापना बाहर आजाता है व स्वच्छ वायु भीतर संचार करती है, रुधिर खूब दौड़ता है। बालक व बालिका दोनोंको यथायोग्य व्यायाम सिखाना चाहिये। मनको पुरुषार्थी बननेके लिये बाहर भी पुरुषार्थी प्रयोगोंके जाननेकी आवश्यक्ता है जैसे-लाठी चलाना, शस्त्र चलाना आदि २। सुशिक्षके साथ व्यायामकी दी हुई शिक्षा सुमार्गमें ही प्रयोग की जायगी। परंतु यह शिक्षा शरीरको साहसयुक्त, उद्योगी, निर्भय व परिश्रमी बनानेके लिये अति आवश्यक है। (३) ब्रह्मचर्य या वीर्यरक्षाकी-वीर्य ही शरीरका राजा है। भोजनपान हवाका अंतिम सत वीर्य

है, उसहीके प्रतापसे शरीर व उसकी इंद्रियाँ दृढ़ रहती हुई काम कर सक्ती हैं। वीर्यकी रक्षा करना शरीर स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है, बालक व बालिकाओंके चित्तके भीतर यह बात जमा देनी चाहिये कि वीर्यरक्षासे क्या क्या लाभ हैं व हानि करनेसे क्या क्या नुक्सान हैं।

वाचिक शक्तिको बनानेके लिये भाषा साहित्यका ज्ञान व भले प्रकार सत्य भाषणकी आदत डलवानी चाहिये। सत्य विना वाणीका विश्वास नहीं होता है। अपने विचारोंको वाणीसे प्रगट करनेका अभ्यास जमानेके लिये भाषण देनेका प्रयोग करना चाहिये। इन उपायोंसे वचनकला ठीक बनेगी। मानसिक शक्तिको ठीक करनेके लिये नीतिशास्त्रका ज्ञान देना जरूरी है। इससे व्यवहारमें कुशलता आती है। क्षत्रचूड़ामणि जैन ग्रंथमें नीतिका बहुत मसाला है। पंचतंत्र व हितोपदेशमें भी है। जिस सम्बन्धका विचार करना हो उस विषयका जितना अधिक ज्ञान होसके दिया जाना चाहिये। तथा मनमें सुविचार करनेकी आदत हो इसके लिये लेख व पुस्तक लिखनेका अभ्यास कराना चाहिये।

आत्मिक शक्तिके विकाशके लिये आत्माकी पहचान जलका दृष्टान्त देकर बता देनी चाहिये। जैसे जल मिट्टीसे मिला हुआ मैला दीखता है वैसे यह आत्मा कर्मोंसे मिला हुआ मैला होरहा है परंतु जल स्वभावसे जैसे निर्मल, ठंडा और मीठा है वैसे यह आत्मा स्वभावसे पूर्ण ज्ञान स्वरूप, वीतराग तथा आनन्दमय है। इसतरह आत्माकी पहचान कराकर बालक व बालिकाओंको कुछ प्रयोग आत्मविचारके बता देने चाहिये जिनका वे नित्य अभ्यास

करें। श्री जिनेन्द्र भगवानका दर्शन करना व दर्शन करनेके पीछे भोजन करना, यह अभ्यास उनके मनमें वीतरागताका आदर्श जमाएगा। कुछ स्तुति कंठ करा देना चाहिये जो श्री अरहंत व सिद्ध परमात्माके गुणोंको झलकाने वाली हो जिसे वे रोज दर्शन करते समय पढ़ें। छोटी २ कथाएं ऐसी पढ़नेको दी जावें जिनसे आत्माके गुणोंमें रुचि हो व क्रोधादि कषायोंसे चित्त हटे। कुछ भजन या पद याद कराने चाहिये जो आत्माके गुणोंको झलकाने-वाले हों। प्रातःकाल व संध्याकाल उनको ९ व १० मिनटके लिये एकांतमें बैठकर व आसन जमाकर जाप करनेकी व आत्माके विचारनेकी आदत डलवा देना चाहिये। इसतरह आत्मबलकी उन्नति होती जावगी। सुशिक्षा मन वचन कायको सुमार्ग पर चलानेके लिये एक प्रवीण रक्षिकाका काम करती है।

दूसरी बात सुसंगति है। बालक व बालिकाएं किसी भी समय खोटी संगतिमें न बैठें इस बातकी सम्हाल रखनी चाहिये। खोटी संगतिसे ही जुआ रमनेकी, नशा पीनेकी, गाली बकनेकी, लड़नेकी इत्यादि बुरी२ आदतें पड़ जाती हैं। वे सदा सुसंगतिमें रहें इस बातका प्रबन्ध रखना चाहिये। जिन बालक बालिकाओंने कुमार वयके कई वर्ष सुशिक्षा व सत्संगतिमें बिताए होंगे उनको विशुद्धि लब्धिका लाभ अति सुगमतासे होजायगा। जहां भावोंमें शुभ काम करनेकी रुचि हो तथा अशुभ व अन्यायसे अरुचि हो ऐसे परिणामोंकी प्राप्तिको विशुद्धि लब्धि कहते हैं।

अभी इस जीवने किसी बातके त्यागका नियम किया है तो भी ऐसी तीव्रता कषायकी नहीं है जो अभक्ष्य खाने व अन्याय

करनेमें हर्ष माने। यदि उसके हाथमें कुछ धन होगा तो वह उसको किसीके उपकारमें खर्च करना हितकारी समझेगा, उसे खेल तमाशे आदिमें वृथा नहीं गमाएगा। अपनी संतानोंको विद्या पढ़ानेमें अधिक धन खरचेगा परन्तु उनके विवाहमें कम लगाएगा। अपने मन, वचन, काय व धन आदि शक्तियोंको सदुपयोगमें लगानेकी जहां भावना जागृत होजावे तब विशुद्धि लब्धि हुई ऐसा समझना चाहिये। इस लब्धिके होते हुए इसको यह विचार होगा कि मैं अपना जीवन किसतरह सफल करूँ। मैं क्यों श्री जिनेन्द्रकी स्तुति करता रहूं। क्यों कोई साधु होता है, क्यों कोई त्याग व नियम लेता है, क्यों कोई व्रत उपवास करता है। मेरा जीवन यदि मरनेके पीछे भी रहेगा तो मुझे क्या करना चाहिये। मेरा सच्चा हित क्या है। ऐसी जिज्ञासा पैदा होजायगी। इस जिज्ञासाके उठनेपर वह किसी गुरु व धर्मशिक्षकके पास जाकर उपदेश सुनेगा व शास्त्र सीखेगा व स्वयं शास्त्रोंका अभ्यास करने लग जायगा। उसको धर्मोपदेश सुननेकी, उसको धारणामें रखनेकी, उसपर विचार करनेकी गाढ़ रुचि होजायगी। तब तीसरी देशना-लब्धिका प्रारंभ हुआ है ऐसा समझना चाहिये। दयालु गुरु इसको यह उपदेश करेंगे कि तुझे सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना चाहिये।

सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है उसको मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबन्धी चार कषायोंने मलीन कर रक्खा है। इनके हटानेका उपाय व्यवहार सम्यग्दर्शनका सेवन है। व्यवहार सम्यग्दर्शन उन निमित्तोंको मिलाना है जिनके होते हुए संभव है कि सम्यक्त होनेका अवसर आजावे। व्यवहार सम्यग्दर्शन साक्षात् सम्यक्त

उत्पत्तिका उपाय नहीं है। परन्तु मात्र बाहरी निमित्त कारण है।
सम्यक्त तो तब ही होगा जब अंतरंग बाधक कारण हटेगा। परंतु
एक पुरुषार्थीके लिये यही पुरुषार्थ है कि वह सम्यक्त होनेके
निमित्त मिलावे। जैसे रोगीका रोग तो तब ही जायगा जब अंतरंग
रोग उपशम होगा परन्तु औषधि खाना, पीना, लगाना, खान-
पानका परहेज इत्यादि पुरुषार्थ उस रोगीके आधीन है जिसे उसे
करना उचित है। उसी तरह सम्यक्त प्राप्तिका साधन जो व्यवहार
सम्यक्तका आराधन है उसे हरएक उद्यमीको साधना चाहिये।

व्यवहार सम्यक्तमें यह आवश्यक है कि जिन्होंने सुखशांतिका
पूर्ण लाभ किया है व जो स्वतंत्र होगए हैं उनको व जो इस हेतु
साधन कर रहे हैं उनको व इस साधनका उपाय बतानेवाले आग-
मको पहचाना जावे और उनपर दृढ़ विश्वास लाया जावे अर्थात्
देव, गुरु, शास्त्रका या देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान किया जाय या
देव, शास्त्र, गुरु व धर्मका श्रद्धान किया जाय या आप्त आगम
पदार्थोंपर विश्वास लाया जावे।

सच्चे देव शास्त्र गुरुका स्वरूप।

विना आदर्शको पहचाने हुए उस आदर्शपर पहुंचनेके लिये
पुरुषार्थ होना असंभव है। जैसे किसीको अच्छा गवैया होना है
तो वह किसी आदर्शरूप गवैयेका ध्यान चित्तमें रखता है, किसीको
वीर योद्धा होना है तो वह बाहुबलि, भीमसेन, हनूमान आदिका
आदर्श सामने रखता है इसी तरह स्वतंत्रता व पूर्ण सुख शांतिका
आदर्श क्या है उसे हमें पहचानना चाहिये। संसारी प्राणी अज्ञान

व कषायके आधीन हैं। इसलिये उन्होंको पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान नहीं है तथा क्रोध, मान, माया, लोभसे ग्रसित हैं, इच्छाके आधीन हैं। स्वतंत्र वही है जो पूर्ण ज्ञानी हो व जिसे कोई राग द्वेष व इच्छा न हो। उसको कोई आकुलता नहीं होगी न कोई चिन्ता होगी। न उसे सांसारिक क्षणिक दुःख तथा सुखकी परवाह होगी। ऐसा ही व्यक्ति पूर्ण सुख व शांतिका भंडार होगा।

सामान्यसे देव वही होसक्ता है जिसके अज्ञान व कषाय न हो अर्थात् जो पूर्ण सर्वज्ञ तथा कषाय रहित वीतराग या शांत हो। जगतमें मानवोंका इन्द्र चक्रवर्ती है, देवोंका इन्द्र सौधर्म इन्द्र आदि है, पशुओंका इन्द्र अष्टापद है, पाताललोकका प्रसिद्ध इन्द्र धरणेन्द्र है। ये सब लौकिक प्राणी अज्ञान व कषायसे शून्य नहीं हैं। ये न सर्वज्ञ हैं न वीतराग हैं। जगतके प्राणी सांसारिक कामनाके वशीभूत हो जिन लौकिक देवोंकी स्थापना करके पूजा पाठ करते हैं उनका स्वरूप यदि विचार किया जावेगा तो उनमें अज्ञान व कषायका अभाव नहीं मिलेगा।

जिन देवी देवताओंको—काली, भवानी, दुर्गा, पद्मावती, भैरों, क्षेत्रपाल आदिको देवी देव मानके पूजा जाता है वे सब सौधर्म इन्द्रकी अपेक्षा कम ज्ञानी व अधिक रागी हैं। तब यथार्थ देवपना उनमें नहीं पाया जासक्ता है। जो लोग एक ऐसे ईश्वरको देव मानकर पूजते हैं जो जगतको बनाता है व जगतके प्राणियोंको पुण्य तथा पापका फल देता है वे लोग भी सच्चे देवको नहीं पूजते हैं। जो परमात्मा ईश्वर होगा वह राग द्वेष रहित, इच्छा रहित, व समदर्शी होगा। बुद्धिपूर्वक किसी वस्तुको बनानेके लिये

इच्छाकी आवश्यक्ता है। व पुण्यात्मापर प्रेम व पापीपर द्वेषभाव होनेमें या कमसे कम पुण्यात्माको अच्छा व पापीको बुरा समझकर पुण्यका फल अच्छा व पापका फल बुरा देनेमें राग द्वेषकी कल्पना आवश्यक है। तब वीतरागता व समदर्शीपनेका अभाव आता है। तथा जो जगतको बनानेवाला हो व बहुत विचारवान व ज्ञानवान हो तो वह ऐसे जीवोंको पैदा ही क्यों करें जो अपराध करने लगें व जिनको दंड देना पड़े। जो ईश्वर कृत कृत्य होगा वह कभी किसी काम करनेकी इच्छा नहीं कर सक्ता, नहीं तो कृतकृत्य नहीं रह सकेगा।

जगतमें सर्व काम मन, वचन, कायके द्वारा होते हुये देखे जाते हैं। निराकार ईश्वरमें ये तीनों नहीं हैं तब न कोई विचार या संकल्प विकल्प होसक्ता है न वाणीसे किसीको आज्ञा दी जासक्ती है न हाथ पैरोंका हलन चलन होसक्ता है। निर्लेप आकाशके समान परमात्माके कार्यके लिये आवश्यक मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति असंभव है। जो एक ईश्वरको कर्ता धर्ता मानते हैं वे उसे सर्वशक्तिमान, दयावान, अंतर्यामी, घट घट व्यापी या सर्वव्यापी भी मानते हैं। तथा कोई२ यहांतक कहते हैं कि उसकी मरजी विना पत्ता नहीं हिलता है।

एक तो ईश्वरके इच्छा या संकल्पका होना ही असंभव है। कदाचित इच्छा या संकल्प या कुछ राग द्वेषका अंश मान लिया जावे तो सर्वशक्तिमान समर्थको ऐसा जगत बनाना था जो सदैव सुखमय रहता व जो ईश्वरकी आज्ञानुसार वर्तन करता। तथा कदाचित यदि किसीके भावोंमें अन्याय या अत्याचार करनेका

भाव आता तो शासक रूप समर्थ प्रभुका यह प्रथम कर्तव्य होता कि उसका भाव पलट दे, उसके चित्तसे पाप करनेका संकल्प हटा दे। यदि दयावान होनेसे उसको ऐसा करना उचित भी था तो जगतमें कोई अपराध नहीं होता तब अपराधका फल देना आवश्यक न होता। यदि कोई कहे कि ईश्वरने जीवोंको कर्म करनेकी स्वतंत्रता दे दी है, जब वे पाप करते हैं तब उसे दंड देना ही पड़ता है, यह बात न्यायके विरुद्ध है।

जगतके भीतर ऐसा न्याय है कि जो किसी देशका रक्षक होता है वह आज्ञा देता है या कानून बना देता है कि अमुक अमुक काम नहीं करो, जो करेगा उसे दंड दिया जायगा। ऐसी आज्ञा देकर ही वह बैठ नहीं रहता, वह ऐसे कर्मचारी नियत करता है जो इस बातकी जांच करते रहें कि कौन चोरी व डाका डालनेवाला है, कौन कानूनके विरुद्ध चलनेवाला है। जिनका पता चल जाता है उनको हरतरह रोक दिया जाता है कि वे चोरी लूटपाट आदि अपराध न करें। रक्षकोंका पहला फर्ज अपराधोंसे रोकनेका है। जिनके अपराधका पता न चले व जिनको रोकनेकी शक्ति न होसकी उन्होंने यदि कानूनके विरुद्ध अपराध कर लिया तो उनको फिर वह दंड देता है कि वह भी आगामी ठीक हो-जावे तथा उसके दंडको देखकर दूसरे शिक्षा पावें। भाव यह हुआ कि अज्ञान व असमर्थताकी दशामें ही सांसारिक शक्ति हीन व अल्पज्ञ रक्षकोंके द्वारा अपराधी अपराध करनेसे रोके नहीं जा-सक्के व अपराध होजाता है तब रक्षकोंको दंड देना पड़ता है।

सर्वका ज्ञाता, घटघटमें व्यापी, सर्वशक्तिमान व दयावान

ईश्वरके द्वारा न तो ऐसा होसक्ता है कि किसीके अपराधका पता न चले और न ऐसा होसक्ता है कि किसीको रोका न जा सके। जब सर्व अपराधी रुक जावें तब पाप कौन करे और दंड देनेकी आवश्यक्ता किसको होवे? यदि कहो कि वह ऐसा नहीं करता है तो कहना होगा कि ईश्वरका शासन अनीतिपूर्ण है। जो रक्षक किसीका माल लुटते देखकर चुपचाप देखा करे, रोके नहीं और फिर पकड़कर दड देवे तो वह रक्षक अयोग्य व कर्तव्य विहीन कहा जायगा। रक्षकका प्रथम कर्तव्य उसे रोकना था। जो रक्षक किसीको रोकनेकी सामर्थ्य नहीं रखता है उसका दंड देना भी गौरवपूर्ण व प्रभावशाली न होगा। इसलिये यह बात नहीं जमती कि ईश्वर कुछ बनाता हो व किसीको सुख दुख देता हो। तब यह जगत कैसे हुआ व सुख दुख कैसे मिट जाता है, पाप पुण्यका फल कैसे होता है उसका कथन आगे करेंगे।

कर्ता धर्ता ईश्वर सच्चा देव नहीं होसक्ता, इस चर्चाको पंडित टोडरमलजीने प्रथम भागके पांचवें अध्यायमें भलेप्रकार दर्शाया है। व वहीं कुदेवादिका निराकरण भी किया है। प्रयोजन यहांपर यह है कि सच्चा देव किसको माना जावे उसकी सीधीसी पहचान यह है कि जिसके पास वह दोष न हों जो संसारी जीवोंमें पाए जाते हैं। वे दोष है अज्ञान (कम ज्ञान) और क्रोधादि कषाय। बस इन दोषोंसे रहित जो सर्वज्ञ और वीतराग है वही देव—सच्चा देव व आदर्श प्रभु श्रद्धानमें लाने योग्य है।

ऐसे देवको जैन शास्त्रोंमें अरहंत व सिद्धकी पदवीसे विभूषित किया है। ये दोनों ही सर्वज्ञ व वीतराग हैं। इनहीको

सच्चा देव मानना चाहिये जो शरीरमें रहते हुए भी चार घातीय कर्मोंको नाशकर क्षायिक सम्यक्ती, परम वीतरागी, अनंतज्ञानी, अनंत दर्शी व अनंतबली होगए हैं व जो जगतको सच्चे धर्मका उपदेश देते हैं, स्वयं कामना व रागद्वेष रहित हैं। उपदेश भी कर्मोदयसे निकलता है। वे अरहंत हैं, जिनके कोई क्षुधा, तृषा, रोग, शोक आदिकी बाधा नहीं होती है। वे ही अरहंत जब शेष चार अघा-तीय कर्मोंका भी नाश कर देते हैं तब शरीर रहित शुद्ध आत्मा होजाते हैं और ऊर्ध्वगमन स्वभावसे लोकाग्रमें निवास करते हैं उनको सिद्ध कहते हैं। अरहंतको सकल परमात्मा और सिद्धको निकल परमात्मा कहते हैं। उनका स्वरूप वही है जिसे हम संसारी प्राप्त करना चाहते हैं।

हम संसारियोंके ज्ञानावरणादि आठ कर्मका सम्बंध है इसीसे हमारी दशा अज्ञानमई, दीन, पराधीन, इच्छारूप, आकुलता रूप, जन्म मरणादिके वशरूप होरही है। हम रातदिन सांसारिक सुख व दुःखमें हर्ष विषाद किया करते हैं। हमें सुख व शांतिका लाभ नहीं होरहा है। जब हम इन कर्मशत्रुओंको जीत लेंगे, हम भी जिन होजांयगे। हम भी अरहंत व सिद्ध हो जांयगे तब ही हम पूर्ण स्वाधीन, सुखी व वीतराग होंगे। इसलिये हमारे लिये आदर्श रूप देव श्री अरहंत व सिद्ध भगवान हैं। हमें इनहीको सच्चा देव मानना चाहिये। अरहंतसे हमें धर्मोपदेशका लाभ भी होता है क्योंकि वे शरीर सहित हैं इससे उनके वाणीका विकाश होता है। इससे अरहंतको आप्त या सच्चा वक्ता कहते हैं। अरहंतके जब सर्वज्ञता, वीतरागता व हितोपदेशकता तीन गुण माने हैं तब

सिद्धमें केवल सर्वज्ञता व वीतरागता है। सिद्धोंके स्वरूपका ज्ञान भी अरहंतोंसे होता है इसीलिये णमोकार मंत्रमें पहले अरहंतोंको परोपकारी जानके नमस्कार किया है, पीछे सिद्धोंको नमन किया है।

श्री समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें आप्तका स्वरूप ऐसा कहा है, यथा—

आप्तेनोच्छन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथाह्याप्तता भवेत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—आप्त वास्तवमें वही होसक्ता है जो दोष रहित वीतराग हो, सर्वज्ञ हो और आगमका स्वामी हितोपदेशी हो। इन तीन गुण रहित आप्त नहीं होसक्ता।

जो सर्वज्ञ न होगा वह सर्व पदार्थोंका ज्ञाता न होगा। जो वीतराग न होगा वह रागद्वेष सहित होनेसे ठीक उपदेश न कर सकेगा। इसलिये धर्मको मूल प्रकाश करनेवाले अरहंत परमात्मा ही हैं। जो लोग निराकार ईश्वरको धर्मका उपदेशक मानते हैं उनका कथन ठीक नहीं जंचता क्योंकि विना शरीरके व विना वाणीके शब्दोंका प्रकाश असंभव है। यदि यह कहा जाय कि ईश्वरने किसी अपने प्यारे महात्माके भीतर ज्ञान भर दिया और उस महात्माने कहा तो यह कहना ठीक होगा कि उस महात्माने ही बताया तथा वह ज्ञान भी महात्माका ही था जो उसने आत्मध्यान या अनुभवसे प्राप्त किया। ईश्वरके न संकल्प विकल्प होता है न वह इच्छा करता है न वह किसीको ज्ञान देसक्ता है क्योंकि देनेका साधन मनका विचार अथवा वाणीका प्रकाश है, सो दोनों

ही निराकार ईश्वरके पास नहीं हैं। इसलिये निराकार ईश्वरको आगमका कर्ता कहना व्यर्थ है। यदि जैन सिद्धांतमें सिद्धको आगमका वक्ता कहा जाता तो वह बात भी नहीं बैठती परन्तु शरीर सहित व वाणी सहित जीवन्मुक्त परमात्माका उपदेशकपना विरोधरूप नहीं होसक्ता है।

वीतराग व निर्दोष परमात्मामें प्रसिद्ध अठारह दोष नहीं होते हैं। जैसा ऊपर लिखित ग्रंथमें स्वामीने कहा है–

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥ ६॥

भावार्थ–जिसके भूख, प्यास, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, आश्चर्य, राग, द्वेष, मोह, और खेद, स्वेद (पसीना), चिन्ता, गर्व, अरति, निद्रा व शोक ऐसे १८ दोष नहीं हैं वही सच्चा आप्त है।

अरहंत भगवानके न तो भूखकी बाधा होती है और न वह हम साधारण जीवोंके समान ग्रास लेकर भोजन करते हैं इस बातका खुलाशा पंडित टोडरमलजीने पहले भागके पांचवें अध्यायमें कर दिया है। इच्छा–मोहनीय कर्मके उदयका कार्य है सो अरहंतके मोहके नाश होनेसे हो नहीं सक्ती। अनंतबली होनेसे यह भाव नहीं होसक्ता कि हम भोजन न करेंगे तो निर्बल रहेंगे। अनंतबलीके कायरता व दीनता संभव नहीं है। केवलज्ञान होनेके पहले बारहवें क्षीण गुणस्थानमें केवलीका शरीर साधारण औदारिकसे परमौदारिक होजाता है जिसको सप्त धातु रहित कहा गया है। जैसे स्फटिकमणिकी व कपूरकी प्रतिमा हो तद्वत् तपस्याके बलसे शुद्ध

होजाता है उसकी पुष्टिके लिये साधारण शरीरको पोखनेवाले अन्नादि जो रुधिरादि बनाते हैं आवश्यक नहीं हैं । उस रत्नमई शरीरको पुष्टि देनेके लिये शुद्ध आहारक वर्गणा योगशक्तिसे खिंचकर आती है व शरीरमें मिल जाती है इसीसे शरीर दीर्घ-कालतक टीका रहता है । जैसे खानमें रत्नोंका आहार चारों तरफके पुद्गल हैं व वृक्षोंके लिये लेपाहार है वे वृक्ष मिट्टी पानीको खींच लेते हैं वैसे केवलीके नोकर्म आहार है ।

अरहंत भगवानका वाणीका प्रकाश व उनका विहार आदि उनकी इच्छा पूर्वक न होकर उनके नामकर्मके उदयके अनुसार होता है । बहुतसे कार्य विना चाहे हुए कर्मोंके उदयसे व पुद्गलके स्वयं परिणमनसे होजाते हैं । जैसे आंखका फड़कना, नींदमें बोल उठना, शरीरमें भोजनका पककर रुधिरादि बनना, शरीरमें विकारका पककर रोगोंका होजाना, पूर्वके अभ्यासके विना इच्छाके किसी पाठका पढ़ा जाना व मार्गमें चलते हुए पूर्वके अभ्याससे मन तो कुछ और विचार करता है व पग कहीं और पड़ जाता है । इत्यादि बहुतसे दृष्टांत ऐसे मिलेंगे जहां कर्म व बाहरी पुद्गलोंका परिणमन मानवकी इच्छा विना होआया करता है इसी तरह केवलीके भीतर काय व वचनकी क्रियाएं उनके पुण्यकर्मके उदयसे होजाया करती हैं । हमारा हित ऐसे ही आत्माको आदर्श माननेसे होगा । इसलिये अरहंतको ही आप्त मानना चाहिये तथा सच्चा देव—अरहंत व सिद्ध दोनोंको मानना चाहिये ।

सच्चा शास्त्र।

अरहंत परमात्माने अपनी दिव्य वाणीसे जो प्रकाशित किया हो उसके अनुसार जो गणधरोंने व उनके शिष्य प्रशिष्य आचार्योंने शब्दोंको जोड़कर जो वाक्य व वाक्योंका समुदाय संगठित किया हो वह शास्त्र है। शास्त्रका लक्षण स्वामीजीने रत्नकरंडमें यथार्थ किया है—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥९॥

भावार्थ—शास्त्र वह है जिसमें इतनी बातें हों (१) आप्तका कहा हुआ हो व आप्तके अनुसार कहा हुआ हो, (२) जिसको कोई खण्डन न कर सके, (३) प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणसे जिसमें विरोध न आवे, (४) तत्त्वका उपदेश करनेवाला हो, (५) सर्व जीवोंका हितकारी हो, (६) मिथ्यामार्गका निराकरण करनेवाला हो।

सामान्यसे शास्त्र वह है जो आप्तकथित हो। परन्तु आप्तका व आप्तके अनुसार कहा हुआ हो। इसकी परीक्षा कैसे हो, उसके लिये अन्य ६ विशेषण बताए हैं। जिस शास्त्रमें ये छहों विशेषण पाए जावें वही आप्तकी वाणीके अनुसार कहा हुआ है ऐसा माना जायगा। जिसका कथन खण्डन योग्य होगा वह आप्त जो सर्वज्ञ वीतराग है उनका वचन कैसे होगा? खण्डन योग्य है यह बात कैसे समझी जावे? इसलिये तीसरा विशेषण दिया है कि जिसके कथनको प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाणसे बाधा नहीं आवे। न्यायशास्त्र परीक्षामुख आदिमें पदार्थोंकी सत्यताकी परीक्षाके लिये प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो प्रमाण बताए हैं, उनसे शास्त्रमें कही हुई बातोंकी परीक्षा कर लेनी चाहिये। यदि परीक्षामें कथन ठीक जंचे तब ही सर्वज्ञका

वचन यथार्थ है, ऐसा मानना चाहिये। यदि परीक्षामें ठीक न बैठे तो वह यथार्थ कथन नहीं है ऐसा मानना चाहिये और यह वचन किसी अल्पज्ञका है, सर्वज्ञकी परम्पराका नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

पांच इंद्रिय और मनके द्वारा जो प्रत्यक्ष बोध हो वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। जैसे आंखसे देखकर जानना कि यह घट है। इंद्रियोंकी सहायताके विना आत्माके द्वारा जानना वह मुख्य प्रत्यक्ष है जैसे अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवलज्ञान। परोक्ष वह प्रमाण है जिससे प्रत्यक्षका ज्ञान किया जासके। जैसे स्मृति (जानी हुई बातकी याद), प्रत्यभिज्ञान (जानी हुई बातको फिर जानकर समझना कि यह वही है या वैसी ही है), तर्क (यह विचार कि जहां यह चिह्न होगा वहां यह चिह्नवाला अवश्य होगा जैसे जहां धूम होगा वहां अग्नि अवश्य होगी, जहां कमल प्रफुल्लित होंगे वहां सूर्यका उदय अवश्य होगा, जहां चेतन गुण प्रगट होगा वहां आत्मा अवश्य होगा, जहां श्वासोश्वास चलता होगा वहां प्राणी सजीवित होगा), अनुमान (तर्कसे जाने हुए हेतु द्वारा साध्यका या चिह्नवालेका निर्णय कर लेना, जैसे धूएंको देखकर अग्निका, श्वासको देखकर सजीवित प्राणीका, छत्रको देखकर छायाका, रसको स्वादमें लेकर उसमें कोई रूप है ऐसे अविनाभाव रहनेका निर्णय करना), आगम (प्रमाणीक वक्ताके ऊपर विश्वास लाकर सुक्ष्म, दूरवर्ती, दीर्घकालवर्ती पदार्थोंका निश्चय करना जिनका निश्चय हम इंद्रिय या मन द्वारा नहीं कर सकते हैं जैसे-सुमेरु पर्वत है, श्री ऋषभदेव होगए हैं व अगुरु लघु-

गुणके द्वारा सर्व द्रव्योंमें स्वभाव परिणमन होता है इत्यादि)।

जिन पदार्थोंका निर्णय हम अल्पज्ञानी सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे या तर्क या अनुमान आदिसे कर सकते हैं उनका निर्णय करके हमको अपना ज्ञान पक्का करना चाहिये। परन्तु जिस किसी शास्त्रके कथनको हम अपने द्वारा किये जाने योग्य किसी अन्य प्रमाणसे निर्णय नहीं कर सक्ते हैं उसकी सत्यताका विश्वास आगम प्रमाणसे करना चाहिये।

जिस आगममें वे बातें जिनका हम निर्णय कर सक्ते हैं ठीक हैं तो वे बातें जिनकी हम परीक्षा नहीं कर सक्ते हैं व जिनमें कोई बाधा भी हम किसी अन्य प्रमाणसे नहीं खड़ी कर सकें, उन बातोंको हमें शास्त्रवक्ताके विश्वास पर सच्ची इसलिये मान लेनी चाहिये कि यह पुरुष प्रमाणिक है क्योंकि निर्णय की जाने योग्य बातें ठीक पाई जाती हैं।

शास्त्रमें कथन तीन प्रकारके होते हैं—हेय अर्थात् त्यागने योग्य, उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य, ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य। इनमेंसे हेय और उपादेयसे हमारा हित सधता है। उनको तो हमें अपनी बुद्धिबलसे विचारकर निर्णय कर लेना चाहिये। जैन सिद्धांतमें कषायोंको घटाकर वीतरागता व आत्मज्ञानको बढ़ानेका प्रयोजन है व इस प्रयोजनमें जो जो सहायक हैं उनको उपादेय व जो जो बाधक हैं उनको हेय बताया है। एक बुद्धिमान इस बातकी परीक्षा कर सक्ता है कि यह बात साधक है या बाधक। परंतु ज्ञेय पदार्थोंमें बहुतसी बातें ऐसी होती हैं जिनकी परीक्षा नहीं होसक्ती हैं उनको वक्ताके विश्वास पर ही मानना होता

है। यदि वक्ताने यथार्थ जानकर लिखा है तो वे ठीक हैं। यदि वक्ताने अपने अल्पज्ञानसे किसी बातको ठीक नहीं भी लिखा है और हमने वक्ताको सच्चा मानकर उस बातको ठीक मान लिया है तो इसमें हमारा अलाभ कुछ नहीं होता है। हेय व उपादेयको ठीक न समझनेसे हमारी हानि होगी।

जैन शास्त्रोंकी वहुतसी बातें वर्तमान विज्ञानकी खोजसे मिलती जाती हैं, जैसे शब्द जड़ मूर्तीक है, एक पानीकी बूंदमें बहुत त्रस जीव हैं, वृक्षोंमें जीव है। उनके आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञा है व उनके क्रोधादि कषाय हैं इत्यादि। जैन शास्त्रोंमें जो मध्यलोकका बहुत बड़ा विस्तार बताया है व उसमें असंख्यात द्वीप समुद्र बताए हैं व जम्बूद्वीपको एक लाख योजन (२००० कोसका) व्यासवाला व उसमें सात क्षेत्र भरतादि बताए हैं व भरतक्षेत्रका विस्तार ५२६-६/१९ योजन बताया है व उसके उत्तरमें इसका दुगना चौड़ा हिमवान पर्वत व मध्यमें विजयार्द्ध पर्वत व महागंगा व महासिंधु नदी व भरतके ६ खण्ड बताए हैं। दक्षिणकी तरफ आर्यखण्ड बताया है। उसके मध्यमें उपसमुद्र आदि बताए हैं व जम्बूद्वीपमें दो सूर्य व दो चन्द्रमा बताए हैं इत्यादि कथन ऐसा है जिसका निर्णय नहीं किया जासक्ता है। यह मात्र ज्ञेय पदार्थ हैं।

वर्तमानमें जो भूगोलकी खोज हुई है उसको देखते हुए कुछ लोग इस कथनको प्रमाणीक नहीं मान रहे हैं, कुछ यह समझते हैं कि अभी भूगोलकी खोज उत्तर व दक्षिण ध्रुवकी ओर होरही है और नई भूमियें भी मिल रही हैं तब संभव है कि विशाल क्षेत्र मिल जावे और जैन भूगोल ठीक बैठ जावे। वास्तवमें जहांतक

खोज होरही है वहांतक ज्ञेय मानके छोड़ देना चाहिये। यदि सर्व तरह खोज होजानेके बाद यह निर्णय होजावे कि जैन शास्त्रमें कहा हुआ कथन प्रत्यक्ष ज्ञानसे खंडित होजाता है तो हमें इसके माननेमें कोई बाधा नहीं है कि इतना कथन जिसने लिखा है वह अपने ही अल्पज्ञानसे लिखा है, उसको सर्वज्ञके कथनकी परम्पराका ज्ञान इस सम्बंधमें नहीं था। काल दोषसे जैन शास्त्र नष्ट होगए हैं व नष्ट कर दिए गये हैं। जैनधर्मके बहुत विरोधी समर्थ राजा आदि मध्यकालमें होगए हैं जिनके द्वारा प्राचीन जैन साहित्यका नाश होचुका है। जो कुछ बचा खुचा साहित्य मिला है उसमें श्री महावीर भगवान तीर्थंकर व श्री जम्बूस्वामी अंतिम केवलज्ञानीके ५०० वर्ष पीछेके शास्त्र रचित मिलते हैं। दिगम्बरोंमें प्राचीनसे प्राचीन शास्त्र श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि हैं व श्री उमास्वामी या उमास्वाति रचित श्री तत्त्वार्थसूत्र है। व श्री धवल जयधवल व महाधवलका मूल है। श्वेतांबरोंमें वीर संवत ९०० के अनुमान देवर्द्धिगण द्वारा संकलित सूत्र हैं। किसी भी जैन आम्नायमें कोई ग्रन्थ श्री सर्वज्ञ भगवानके समयका वर्तमानमें नहीं मिलता है, तब ज्ञेय विषयमें संभव है कि ५०० वर्षोंके भीतर ज्ञान कुछका कुछ होगया हो या भूगोलका विषय स्मरणमें न रहा हो और उसको उस समयके विद्वानोंकी संमतिसे विचार कर लिखा हो।

जब शास्त्रका लक्षण ही यह है कि बात वह मानी जावे जिसमें किसी प्रमाणसे बाधा न आवे तब हमें उस बातके न माननेमें कोई संकोच न करना चाहिये। जो बात प्रमाणसे खण्डित

होजावे वह जैनागम ही नहीं है, ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिये। सर्वज्ञकी परम्पराका कोई कथन किसी भी प्रमाणसे बांधा नहीं जा सकता है। यही शास्त्रके कथनका सच्चा विशेषण है।

चौथा विशेषण शास्त्रका तत्त्वका उपदेश करनेवाला इसलिये दिया है कि प्रयोजनभूत तत्त्वका ज्ञान शास्त्रसे हो। इस आत्माका प्रयोजन वीतराग भावसे है वह सच्चे आत्मज्ञानसे होगा। आत्मज्ञान भेद विज्ञानसे होगा। जब यह विवेक होगा कि आत्मा आत्मासे व रागादिसे व पाप पुण्यसे व अन्य समस्त पर वस्तुओंसे जुदा है। भेद विज्ञान सात तत्त्व व नौ पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानसे होगा। इसलिये जिस शास्त्रसे इस तत्त्वज्ञानका प्रयोजन न सधै वह कल्याणकारी शास्त्र नहीं है।

जैनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग चार अनुयोगोंमें विभाजित है तथापि चारोंका प्रयोजन यही दिखलाता है कि यह जीव अपने राग द्वेष मोह भावोंसे कर्मका बन्ध करता है और वीतराग विज्ञानमई या रत्नत्रयमई भावसे कर्मका सम्वर व कर्मकी निर्जरा करता है व अन्तमें सर्व कर्मसे मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा होजाता है।

पांचवा विशेषण शास्त्रका सर्व जीव हितकारी इसलिये दिया है कि शास्त्रमें अहिंसा तत्त्वकी पुष्टि हो, एकेंद्रिय आदि सर्व छोटे या बड़े जीवोंकी रक्षाका साधन बताया हो। उस शास्त्रमें हिंसाको धर्म प्रतिपादन नहीं किया हो। जीव मात्रका कल्याण जिस शास्त्रके कथनसे झलकता हो, जिसमें किसीसे द्वेष या वैरभाव रखनेका भाव न हो। किन्तु सर्वसे समताभाव रखनेका व सर्वके

साथ हित या मैत्रीभाव करनेका उपदेश हो। जिसके उपदेशके अनुसार सर्व प्राणीमात्रका हित हो। यह सार्व विशेषणका अभिप्राय है।

छठा विशेषण मिथ्यामार्गका निराकरण करनेवाला दिया है। यह भी आवश्यक है कि शास्त्र यह बतावे कि कुमार्ग क्या है जिससे जीवको बचना चाहिये। शास्त्र वही होसक्ता है जो मोक्षके सच्चे मार्गका द्योतक हो व जो सच्चा मार्ग नहीं है उसको युक्तिपूर्वक कुमार्ग है ऐसा सिद्ध करनेवाला हो। जबतक ऐसा स्पष्ट कथन न मिलेगा तबतक जगतके प्राणी कुमार्गसे हटकर सुमार्ग पर नहीं चल सकेंगे। यह जैन मत स्याद्वाद या अनेकांतवाद है। अर्थात् पदार्थमें अनेक धर्म या स्वभाव हैं उनको भिन्न २ अपेक्षासे झलकानेवाला है। जैसे हरएक वस्तु अपने रूपसे भावरूप है, परवस्तुकी अपेक्षा उसी समय अभाव स्वरूप है। हरएक वस्तु गुणोंको सदा स्थिर रखनेसे नित्य है, वही वस्तु नित्य पर्यायोंमें परिणमन होनेकी अपेक्षा अनित्य है, हरएक वस्तु अखण्ड होनेसे एक रूप है, वही वस्तु स्वतंत्र अनेक गुणोंकी सत्ता अपनेमें सर्वव्यापक रखनेकी अपेक्षा अनेक रूप है। इत्यादि पदार्थोंका यथार्थ स्वभाव झलका कर जो कोई मत पदार्थको एकांत रूप मानते हैं अर्थात भाव रूप ही मानते हैं या अभावरूप ही मानते हैं, नित्य ही मानते हैं, या अनित्य ही मानते हैं, एक रूप ही मानते हैं, या अनेक रूप ही मानते हैं उनके इस एकांत माननेमें क्या क्या दोष आते हैं, उनको स्पष्ट बतलाया हो।

इस तरह वह शास्त्र जिसमें ऊपर लिखे ६ विशेषण घट सकें वही सच्चा शास्त्र है; जिसपर हमको श्रद्धा लानी योग्य है।

साधारण ज्ञानीके लिये यह कह देना उचित होगा कि इस दि० आम्नायमें श्री कुन्दकुन्द आचार्यके वचन श्री गौतम गणधर व श्री महावीरस्वामीके वचनके तुल्य माने जाते हैं तब ही शास्त्र-सभाओंमें प्रारम्भमें यह श्लोक पढ़ा जाता है—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमोगणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलं ॥

शास्त्र सभामें इस श्लोकके पढ़नेका प्रयोजन यही है कि जो कुछ शास्त्रका भाषण होगा वह इनके कथनके अनुसार होगा ।

यह आचार्य विक्रम संवत ४९में हुए हैं व अबतक जो प्राचीन ग्रन्थ मिलते हैं उनमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ इन्हींके हैं । इसलिये इनके रचित ग्रंथ प्रमाणीक हैं। वे ग्रंथ हैं—पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, आदिक । इन ग्रन्थोंके विपरीत जो शास्त्र कथन करता हो वह जैन शास्त्र नहीं होसक्ता है । किन्तु जो शास्त्र कुन्दकुन्दाचार्यके कथनके अनुकूल कथन करता हो चाहे वह ऋषि-प्रणीत हो चाहे वह गृहस्थरचित हो, प्रमाणीक मानने योग्य है । जैसे सच्चा देव वह है जो अज्ञान व कषायसे रहित होकर सर्वज्ञ व वीतराग हो, वैसे सच्चा शास्त्र वह है जो अज्ञान व कषायके मिटानेका व सर्वज्ञ वीतराग होनेका उपाय बताता हो, यह संक्षेपसे शास्त्रकी पहचान है । हमें ऐसे शास्त्रोंपर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिये ।

सच्चे गुरुका स्वरूप।

सच्चा गुरु वही है जो नित्य प्रति अज्ञान व कषायके दूर करनेका प्रयत्न करता है, जिसका ध्येय परमात्म पद हो व जो उसी मार्गका निर्दोष साधन करता हो जिस मार्गसे सम्यग्ज्ञान व शांतभाव उन्नति करता चले। समन्तभद्रस्वामीने रत्नकरंड श्रावकाचारमें गुरुका लक्षण यह बताया है:—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥ १०४॥

भावार्थ—वही तपस्वी गुरु प्रशंसा योग्य है जो—(१) विषयोंकी आशाकी आधीनतासे दूरवर्ती हो, (२) आरम्भ जिसने छोड़ दिया हो, (३) जिसने सर्व परिग्रहका त्याग किया हो, (४) जो शास्त्र ज्ञान तथा आत्मध्यान व निर्दोष तपमें लवलीन हो, इन चार विशेषणोंका जो धारी हो वही सच्चा गुरु मानने योग्य है।

पहला विशेषण यह है कि उसने पांचों इंद्रियोंकी तृष्णा मिटा दी हो। जिसका मन इंद्रिय विषयोंकी तृप्तिमें उलझ रहा होगा वह अतींद्रिय आनन्द व मुक्तिके लिये सच्चा प्रयत्नशील न होसकेगा। वह निर्दोष मोक्षमार्गका साधन न कर सकेगा। इसलिये उसके भावमें इंद्रिय विषयसुख दुःखरूप व आकुलतारूप व बंधका कारण व अतृप्तिकारी व समभावका विरोधक झलक गया हो व अतींद्रिय सुख निराकुल बंधका नाशक, तृप्तिकारी व समता भावका साधक है, ऐसा प्रतीतिमें आगया हो, जिसने पांचों इंद्रियोंको ऐसा वश कर लिया हो कि कंकरीली कठोर भूमिका स्पर्श जिसको बाधक न हो व जिसने स्पर्शन इंद्रिय सम्बन्धी काम विका-

रको बिलकुल मार दिया हो, जिसने जिह्वा इंद्रियके स्वादको जीता हो, रस नीरस जो भोजन मिल जाय उसमें संतोषी हो। उदररूपी गड्ढा भरके शरीर स्थिर करके आत्मरस पीना जिसका ध्येय हो, जिसको सुगन्ध सूंघनेका व मनोज्ञ वस्तु निरखनेका चाव न रहा हो न जिसे अच्छे ताल स्वर सुननेका राग हो, ऐसा पंचेन्द्रियोंकी इच्छाओंका विजयी सच्चा जैनगुरु होनेयोग्य है।

दूसरा विशेषण यह है कि वह आरम्भका त्यागी हो। गृहस्थियोंको असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या, शिल्प इन आरंभोंको आजीविका वश करना पड़ता है व रहनेको मकान व खानपानको रसोई पानीका प्रबंध करना पड़ता है व अपनी रक्षाका उपाय व अपनी सम्पत्तिकी रक्षाका उपाय करना पड़ता है। इन सब आरंभोंका जिसके त्याग है। जो भोजन पानका भी स्वयं आरम्भ न करता हो। जो भिक्षावृत्तिसे भोजन पान करता हो। जो उस भोजनको स्वीकार न करता हो जो उसके निमित्त बना हो। परन्तु उसी भोजनका अंश लेता हो जिस भोजनको गृहस्थने शुद्धतापूर्वक अपने कुटुम्बके अर्थ बनाया हो। वह २४ घंटेके भीतर दिनमें एक दफे भोजनपान लेता हो। जो गृहस्थ भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए साधुको देखकर स्वयं कहे—अन्न आहार पानी शुद्ध है तिष्ठिये तिष्ठिये तिष्ठिये, उसीके यहां इस विश्वाससे कि भोजन शुद्ध-ग्रह्य है वह महात्मा जाता है व मौनसे संतोषपूर्वक जो मिलता है उसे ही लेकर शरीर रक्षा करता है।

तीसरा विशेषण यह है कि वह परिग्रह रहित हो। परिग्रह मूर्छाको कहते हैं। वह अंतरंग बहिरंग परिग्रहकी मूर्छाका त्यागी

हो। जिसने अंतरंग तो अपनी बुद्धिपूर्वक चौदह प्रकारका भाव त्यागा हो। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, पुरुष वेद ये चौदह प्रकार अंतरंग परिग्रह हैं। और बाहरमें त्यागनेयोग्य दस प्रकारके परिग्रहका त्याग किया हो—(१) क्षेत्र, (२) वास्तु (मकान), (३) हिरण्य (चांदी), (४) सुवर्ण, (५) धन (गोमहिषादि) (६) धान्य, (७) दासी, (८) दास, (९) कुप्य (कपड़े आदि) (१०) भांड (वर्तनादि)। ये दस परिग्रह एक गृहस्थको आवश्यक होते हैं। इस महात्माने गृहका त्याग किया है इसलिये इसे इनके रखनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि ये सब परिग्रह ममत्व बढ़ानेके लिये व प्रमादभाव लानेके लिये व हिंसाके लिये साधनी भूत हैं।

मूर्छासे बचनेके लिये मूर्छाके कारणोंका त्याग आवश्यक है। इसलिये जैन गुरु बालकके समान वस्त्रादि रहित नग्न रहते हैं। जिस शरीरसे पैदा हुए थे उसी शरीररूप रहते हैं, जिससे वीरताके साथ शीत, उष्ण, डंस मच्छर, लज्जा आदिके भावोंको जीत सकें। जो अपनेको बालकवत् साधारण व सरल भावका धारी बनालें। एक या दो वर्षके अभ्यासके बलसे मानवका शरीर नग्न अवस्थामें सर्व ऋतुके कष्टोंको सहन करनेयोग्य होजाता है।

चौथा विशेषण यह है कि वह प्रमादी न हो। रातदिन जिसका समय शास्त्रज्ञानके मननमें, आत्मध्यानमें व बारह प्रकार तपके साधनमें बीतता हो।

वे बारह प्रकार तप हैं—(१) अनशन या उपवास, (२) ऊनोदर—कम भोजन। (३) वृत्तिसंख्यान—भोजनार्थ जाते हुए कोई

अप्रगट नियम लेना जिसको कभी भी प्रकाश न करना—उसकी पूर्ति पर ही भोजन लेना। (४) रसपरित्याग—दूध, दही, घी, शक्कर, तेल, निमक इन छः रसोंको यथासंभव व यथाशक्ति नित्यप्रतिके लिये त्यागना व किसीको अपना त्याग प्रगट न करना। (५) विविक्त शय्यासन—एकांतमें सोना बैठना। (६)कायक्लेश—शरीरका सुखियापन मेटना। (७) प्रायश्चित्त—लगे हुए दोषोंका दंड ले शुद्धि करना। (८) विनय। (९) वैय्यावृत्य—सेवा। (१०) स्वाध्याय—शास्त्र पठन। (११) व्युत्सर्ग—काय आदिका ममत्व त्याग। (१२) ध्यान—धर्मध्यान आदि।

इन चार विशेषणोंका धारी नग्न दिगम्बर जैन साधु होगा जिसके पास १ पींछी मुलायम मोरपंखकी होगी, जिससे वह जीवोंकी रक्षा कर सके। दूसरे काष्ठका कमंडल होगा जिसमें शौचके लिये प्राशुक जल रख सके। तीसरे यदि आवश्यक हो तो स्वाध्यायके लिये शास्त्र होगा। ऐसे विरक्त साधुओंको जैन गुरु श्रद्धान करना चाहिये। इन गुरुओंके तीन प्रसिद्ध पद हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमें जो मुनिसंघकी रक्षा कर सक्ते हों, मार्गप्रदर्शक हों, दीक्षा देसक्ते हों, प्रायश्चित्त देसक्ते हो वे आचार्य-पदके धारी होते हैं। जो विशेषज्ञ होकर ग्रन्थोंका पाठ देसक्ते हों वे उपाध्याय होते हैं। जो मात्र साधनमें रत हों वे साधु हैं। तीनोंका बाहरी भेष एक समान होता है। ऐसे गुरुओंमें दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिये। इस तरह देवशास्त्र गुरुका स्वरूप समझना चाहिये।

देव शास्त्र गुरुकी सेवा ।

जब देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान होजावे तब उस श्रद्धाका फल यह है कि उनकी भक्ति करके उनसे लाभ उठाया जावे । जैसे किसी धनवानको इसी लिये पहचाना जाता है कि उसकी सेवा करके धनका लाभ उठाया जावे, वैसे देव शास्त्र गुरुकी सेवा करके लाभ उठाना चाहिये । परिणामोंकी उज्वलता व स्वतंत्रताकी प्राप्तिका उत्साह तथा सम्यक्त होनेके बाधक कर्मोंका बल कम करना यही प्रयोजन है, जिसके लिये इनकी भक्ति करना आवश्यक है ।

देवकी भक्ति किसतरह की जावे ।

अरहंत तथा सिद्ध परमात्मा देव हैं, उनके गुणोंमें जिस तरह रंजायमान हुआ जावे उस तरह भक्ति करना आवश्यक है । स्तुति पढ़नेसे गुणोंका स्मरण होता है । परन्तु साधारण प्राणियोंकी भक्ति मात्र स्तुतिके द्वारा बहुत थोड़ी ही देर हो सकेगी । अधिक देर स्तुति होसके इसके लिये पूजन समारंभकी जरूरत है । पूजनके लिये पूज्य, पूजक व पूजा इन तीन बातोंके मेल मिलनेकी जरूरत है । पूजाके लिये पूज्यके सामने होनेकी जरूरत है । यह सब द्रव्यपूजाके लिये सामग्री आवश्यक है । इस द्रव्यपूजाके द्वारा भावपूजा करना है । यों तो स्तुति मात्रको भावपूजा कह देंगे; क्योंकि स्तुति मात्रसे भावपूजा बहुत थोड़ी देर होती है इसलिये द्रव्यपूजा करनी चाहिये, जिससे भावपूजाका अवसर अधिक देरतक हो सके । गृहस्थोंका मन चंचल है, बाहरी इंद्रिय-प्रिय आलंबनोंके द्वारा ही चित्त धीरे धीरे शांत व वैराग्यरसमें आसक्ता है ।

इसलिये द्रव्यपूजामें पूज्य, पूजक व पूजा इन तीनका विचार करना उचित है। पूजने योग्य देव, शास्त्र, गुरु हैं। क्योंकि ये तीनों ही मोक्षमार्गमें सहायक हैं। देवमें अरहंत व सिद्ध भगवान हैं, शास्त्रमें जिनवाणी है, गुरुमें आचार्य, उपाध्याय तथा साधु हैं। सर्व स्थलोंपर अरहंत केवली या तीर्थंकरका एकसाथ विहार नहीं होसक्ता और न सर्व कालोंमें ही उनका अस्तित्व मिल सक्ता है। इसी तरह आचार्यादि तीन गुरु भी सर्व क्षेत्र व सर्वकालमें एक साथ मिलना कठिन हैं। तब जहां कोई प्रत्यक्ष न मिल सके तो उसकी स्थापना धातु या पाषाणकी मूर्तिमें उनहीके समान रूपवाली करके उस मूर्तिमें मूर्तिमानको मानके व उनको प्रतिष्ठा व भक्तिसहित विराजित करके पूज्यका काम निकाला जासक्ता है। यह स्थापना निक्षेप इसीलिये है कि किसी वस्तुका स्वरूप समझनेके लिये यदि वह वस्तु वहां साक्षात् न हो तो उस वस्तुकी मूर्तिसे वही काम निकाल लेते हैं। जैसे कहींपर सिंह नहीं होता है और किसीको सिंहका स्वरूप बताना है तब उसको सिंहकी मूर्ति बताकर सिंहका स्वरूप समझा देते हैं।

कहीं कोई महान पुरुष देशसेवक नहीं होते हैं तो उनका चित्र विराजमान करके उनका स्वरूप समझते है। तथा यह भी लोकमें व्यवहार है कि किसीकी मूर्ति व किसीके चित्रकी प्रतिष्ठा उसहीकी प्रतिष्ठा समझी जाती है जिसकी वह मूर्ति हैं व जिसका वह चित्र है। इसी तरह यदि किसीकी मूर्ति या किसीके चित्रका निरादर किया जावे तो उसीका निरादर समझा जाता है जिसकी वह स्थापना है। इसका भी कारण यही है कि प्रतिष्ठाकर्ता या

प्रतिष्ठा कर्ताका भाव वैसा ही उस स्थापनाके निमित्तसे हुआ जैसा उसके सामने रहनेसे रहता जिसकी वह स्थापना है। अपने२ भावोंका ही फल होता है। यदि कोई भावोंसे किसीकी इज्जत करता है तो वह विनयवान और यदि वेइज्जत करता है तो वह अविनयी समझा जाता है।

इसलिये जहांपर अरहंत सिद्ध आचार्यादि न हों वहांपर उनकी स्थापनासे वैसा ही काम चल सक्ता है जैसा प्रत्यक्षसे। उनकी मूर्ति उनके अंतरंग गुणोंको अपनी आभासे झलकाएगी और दर्शक तथा पूजकके मनमें अपनी वीतरागताका पूर्ण असर करेगी। जो भावोंमें उज्वलता समवशरणमें विराजित साक्षात श्री महावीर भगवानके ध्यानाकार शरीरके दर्शनसे होती है वैसी ही उज्वलता उनही वीर भगवानकी ध्यानमय मूर्तिके दर्शन व पूजनसे होती है। रञ्चमात्र भी अतर नहीं है। मात्र वाणीसे उपदेशका लाभ जड़ मूर्तिसे नहीं हो सकेगा। इसके लिये हमें शास्त्र या गुरुका शरण ग्रहण करना होगा। चित्रोंका वड़ा भारी असर पड़ता है। यदि कहीं किसी सुन्दर स्त्रीका चित्र होता है वह ऐसा असर करता है कि मानों साक्षात् स्त्रीने जादू करदिया है। इसीसे साधु या महात्मागण उन स्थानोंपर नहीं बैठते न ध्यान स्वाध्याय करते जहांपर शृंगारित स्त्रियोंकी तसवीरें लगी हों। यदि कोई आदरणीय महापुरुषकी मूर्ति है और कोई उस मूर्तिका निरादर करे तो जो उस महापुरुषके भक्त हैं उनको वड़ा ही दुख पहुंचेगा और वे यही मानेंगे कि हमारे महापुरुषका घोर निरादर किया गया है। इसलिये जैन सिद्धांतमें श्री जिनेन्द्रकी मूर्तिका स्थापन पुज्यकी प्राप्तिके लिये

पूज्यकी भक्तिके लिये बहुत आवश्यक है। मूर्ति ध्यानाकार उसी प्रकारकी होनी उचित है जैसी अरहंत अवस्थामें होती है। जिससे यह झलके कि मानों अरहंत भगवान आत्मानुभवमें तल्लीन हैं।

अरहंतकी प्रतिमामें पांचों कल्याणकका स्थापन प्रतिष्ठाके द्वारा मंत्रोंकी सहायतासे किया जाता है। इसलिये हम गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण पांचों कल्याणकोंकी भक्ति उस प्रतिमाके द्वारा कर सक्ते हैं। तथा इस एक प्रतिमामें अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय, साधु पांचों परमेष्ठियोंका आदर्श झलकता है। तथा जिस प्रतिमाके साथ सिंहासन छत्र चमर अशोकवृक्षादि प्रातिहार्य बने होते हैं वह अरहंतकी प्रतिमा व जिस प्रतिमामें कोई प्रातिहार्य व कोई यक्षादि भक्ति करते हुए न होवें—मात्र शुद्ध ध्यानाकार प्रतिमा हो वह प्रतिमा केवल सिद्धकी समझी जाती है। द्रव्यपूजाके लिये पूज्य साक्षात् व उनकी प्रतिमाकी जरूरत है; इसीके द्वारा भक्तिमें भाव चढ़ते हैं।

पूजक श्रद्धावान होना चाहिये। उसे मदिरा व मांसका तो अवश्य त्याग होना चाहिये। जीवदया उसको अवश्य प्रिय होनी चाहिये। पूजकको चाहिये कि पूजाके लिये छने हुए जलसे या लवंग चूर्णादि डालकरके प्राशुक करे हुए जलसे स्नान करे और शुद्ध स्वदेशी वस्त्रोंको पहने। ये वस्त्र अलग धोए रक्खे रहें। इन वस्त्रोंको पहनकर दूसरे मिश्रित वस्त्रोंके संपर्कसे भिन्न रहा जावे। एक धोती एक डुपट्टा इन दो वस्त्रोंको अवश्य पहना जावे। यदि मौसम शरदीका हो तो गाढ़ेकी मिरजई या दोहर आदि भी काममें लाया जासक्ता है। पूजकको बड़ी थिरतासे दिल लगाकर जितनी

देर आकुलता न हो उतनी देर पूजन करनी चाहिये।

पूजाके लिये आठ द्रव्योंकी आवश्यक्ता है। आठ द्रव्योंके द्वारा आठ प्रकारकी धर्म भावनाएं आत्माकी उन्नतिके लिये की जाती हैं। जलसे पूजा करनेका भाव यह है कि जन्म जरा मरणका नाश हो। चंदनसे पूजाका भाव यह है कि भवका आताप शांत हो। अक्षतसे पूजाका भाव यह है कि अक्षय गुणोंकी प्राप्ति हो। पुष्पसे पूजाका भाव यह है कि कामका बाण विध्वंश हो। नैवेद्यसे पूजाका भाव यह है कि क्षुधारोगका विनाश हो। दीपसे पूजाका भाव यह है कि मोह अंधकार नाश हो। धूपसे पूजाका भाव यह है कि आठ कर्म दग्ध हों। फलसे पूजाका भाव यह है कि मोक्ष-फलकी प्राप्ति हो। आठ द्रव्योंको मिलाकर अर्घ चढ़ानेका भाव यह है कि पूर्ण व सत्य सुखकी प्राप्ति हो। इन आठ द्रव्योंको सचित्त या अचित्त दोनों प्रकार पूजामें व्यवहार करनेकी रीति जैन समाजमें है। जिसकी जैसी इच्छा हो उसतरह पूजा करे। जलको प्राशुक करे। जल व शुद्ध केशर चंदनसे घिसकर चंदन तय्यार करे। दीर्घ अखंड चावलोंको अक्षतोंमें लेवे। पुष्पोंको जो त्रस जंतु रहित हों काममें लेवे। पुष्प सचित्त हैं। जो सचित्तसे पूजा न करना चाहे वह केशरसे रंगे हुए चावलोंको या लवंगको या चांदी सोनेके बने हुए पुष्पोंको काममें लेवे। नैवेद्यमें ताजी शुद्ध बनी हुई मिठाई काममें ले या गोलेके खंडोंकी लेवे। दीपमें कपुर-का या घीका दीपक जलावे या अचित्तसे पूजना हो तो गोलेके खंडोंको केशरसे रंग लेवें। धूपमें सूखा चंदनका बुरादा सुगंधित सूखे द्रव्योंसे मिला हुआ अग्निमें क्षेपण करे। फलोंमें आम, संतरा

आदि सचित्त फलोंको या बादाम छुहारे कमलगट्टा सुपारी आदि सूखे फलोंको काममें लेवें। जिस वस्तुका जिसके जब व्यवहारका त्याग है तब वह उस वस्तुको पूजामें भी न ले। जिसको स्वयं पुष्प सूंघनेका व हरे फलोंका व्यवहार करनेका व दीपक जलानेका त्याग होगा वह फूल, फल न चढ़ाएगा न दीपक जलाएगा। उपवासके दिन प्रायः श्रावकोंको आरम्भका त्याग होता है। इसलिये उस दिन प्राशुक व अचित्त द्रव्योंसे पूजन करना चाहिये। ऐसा कथन श्री अमृतचन्द्र आचार्यने श्री पुरुषार्थसिद्धचुपाय ग्रन्थमें किया है—

> प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
> निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्राशुकैर्द्रव्यैः॥ १५५॥

भावार्थ-प्रोषधोपवासी सवेरे उठकर उस समयकी सर्व क्रिया करके जैसा कहा है वैसा श्री जिनकी पूजाको प्राशुक या अचित्त द्रव्योंसे करे। इस आज्ञामें भी सचित्त जलको अचित्त कर लेनेका त्याग नहीं है। इसलिये पूजाकी विधिमें सचित्तका या अचित्तका हठ नहीं करना चाहिये। जिसकी जैसी इच्छा हो उसको वैसे पूजन करना चाहिये। इतनी बात मात्र ध्यानमें रखनी चाहिये कि पूजा बहुत यत्नसे प्रमादरहित कीजावे जिससे बहुत ही कम हिंसासे काम चल जावे। द्रव्य हिंसाके भयसे अपने रागादि भाव हिंसाकी परिणतिको दूर करनेके लिये पूजाका आरम्भ ही न करना लाभके स्थानमें हानि उठाना है। क्योंकि वह मानव द्रव्यपूजाके आलम्बन विना अपने भावोंको देर तक शुद्ध नहीं रख सकेगा।

गृहस्थी जबतक आरंभका त्यागी नहीं है तबतक वह अपना

मकान व उद्यान आदि जैसे बना सक्ता है वैसे वह जिन मंदिर, धर्मशाला, साधुशाला, उपाश्रय, सरस्वती मंदिर, सामायिक शाला, आदि धर्मसेवनके स्थान भी बना सक्ता है। यद्यपि इन धर्मस्थानोंके निर्मापणमें बहुतसी हिंसा त्रस जंतुओंकी भी होजाती है तथापि भावोंकी उन्नतिके लिये इनको गृहस्थी करता ही है। इसी तरह पूजाके कार्यमें भावोंकी उज्वलताके लिये गृहस्थी द्रव्य सामग्रीका विवेकपूर्वक आरंभ करता है। थोड़ी आरंभी हिंसा होती है उसका दोष बहुत अल्प है, जब कि भावोंकी शुद्धिका लाभ इस दोषसे कोटि कोटिगुणा है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने ऐसा ही श्री स्वयंभू-स्तोत्रमें कहा है—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥ ५८ ॥

भावार्थ—आप पूजनीय जिन हैं। जो मानव आपकी पूजा करता है उसको बहुत पुण्यका समूह प्राप्त होता है तब पाप बहुत ही अल्प होता है। यह थोड़ा पाप उस महान् पुण्यके सामने दोषकारी उसी तरह नहीं है जिस तरह विषकी एक कणी यदि क्षीरसमुद्रमें डाल दीजाय तो उसको दूषित नहीं कर सक्ती है।

पूजा करते हुए स्थापना करना चाहिये या नहीं, इसका समाधान किसी प्राचीन ग्रन्थमें तो मिला नहीं परन्तु नरेन्द्रसेन-कृत प्रतिष्ठादीपकमें इसतरह कहा है—

साकारादिनिराकारा स्थापना द्विविधा मता ।
अक्षतादिनिराकारा साकारा प्रतिमादिषु ॥ ८० ॥
आह्वाननं प्रतिष्ठानं सन्निधिकरणं तथा ।
पूजाविसर्जनं चेति निराकारे भवेदिदं ॥ ८१ ॥

साकारे जिनबिम्बे स्यादेक वोपचारकः ।
सचाष्टविध एवोक्तः जलगंधाक्षतादिभिः ॥ ८२ ॥

भावार्थ—साकार और निराकारके भेदसे स्थापना दो प्रकारकी होती है। अक्षत आदिमें स्थापन करना निराकार है। जिन प्रतिमादिमें स्थापना करना साकार है। निराकार स्थापनामें ही आह्वानन, प्रतिष्ठापन, सन्निधिकरण, पूजा तथा विसर्जन ये पांच बातें करनी योग्य हैं परन्तु जिन प्रतिमाओंके होते हुए एक पूजा ही करनी चाहिये। यह पूजा जल गंध अक्षत आदिसे आठ प्रकारसे करनी कही गई है।

यह कथन बुद्धिमें अधिक रुचता है इसलिये जिन प्रतिमाके विराजमान होते हुए केवल मात्र पूजा ही करनी चाहिये। जहां जिन प्रतिमा नहीं है परन्तु पूजन करना हो वहां अक्षतादिमें जिनका स्थापन किया जाता है तब पांचों ही अंग पूजाके करने योग्य हैं।

किसी२ आचार्यका मत है कि इस पंचम निकृष्ट कालमें निराकार स्थापना नहीं करना चाहिये, उसमें हेतु उनका इतना ही है कि ऐसी निराकार स्थापनाकी चाल अजैनोंमें भी है तब दर्शकको देखनेसे जैन अजैनकी पूजामें कोई भेद नहीं मालूम पड़ेगा यह युक्ति बहुत प्रबल समझमें नहीं आती इससे यदि कहीं प्रतिमा नहीं है तौभी पूजक पूजा कर सक्ता है। उसकी विधि वही है जो आजकल प्रतिमाके होते हुए पांच तरहसे कीजाती है। ऐसी दशामें स्थापनारूप अक्षतोंको अग्निमें दग्ध करना ही उत्तम है।

पूजाएं वे ही पढ़ी जानी चाहिये, जिनका अर्थ या भाव अपनी समझमें आता हो। क्योंकि द्रव्यपूजा भावपूजाके लिये ही

कीजाती है। इसलिये अर्थोंके समझे विना भाव कभी बदल नहीं सकेगा। इस पूजाका फल यह है कि परिणामोंकी उज्वलता होगी। जो भाव संसारके प्रपंचजालमें उलझे हुए थे वे भाव संसार देह भोगोंके मोहसे छूटकर मोक्षके आनन्दकी प्राप्तिके लिये उत्सुक होंगे क्योंकि जिनकी हम पूजन करेंगे, उनके गुणानुवादसे यही उत्तम शिक्षा प्राप्त होगी। भावोंकी विशुद्धता ही निश्चय सम्यक्तके बाधक कारणोंको हटाएगी। अर्थात् इन भावोंसे ही अनंतानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्मका बल कम होगा व उनकी स्थिति घटती जायगी। इसके सिवाय शुभ भावोंसे महान पुण्यका बंध होगा, असाता वेदनीय आदि पाप कर्मोंका रस कम होगा। अंतराय कर्मका बल हटेगा तब दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्यके प्रयोगमें बाधा न उपस्थित होगी।

स्वामी समंतभद्राचार्यने नीचेके श्लोकमें क्रमसे स्वयंभू स्तोत्र व रत्नकरंड श्रावकाचारमें पूजाका फल बताया है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरितांजनेभ्यः ॥ ५७ ॥

भावार्थ—हे वीतराग भगवान! आपको हमारी पूजासे कोई प्रयोजन नहीं है। आप वीतराग हैं इसलिये आप हमपर प्रसन्न नहीं होंगे और यदि हम आपकी निन्दा करें तो आप वैर रहित हैं—इसलिये आप कोई द्वेषभाव हमपर नहीं करेंगे तौ भी आपके पवित्र गुणोंका स्मरण हमको पापके मैलसे छुड़ाकर पवित्र करदेगा।

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥

भावार्थ—राजग्रही नगरीमें एक मेंढक अपने पूर्व जन्मके स्मरणसे पूजाकी विधि समझकर श्री महावीर भगवानकी पूजा करनेके लिये एक पुष्प मुंहमें दबाकर पूजा करनेके आनन्दमें उन्मत्त हुआ चला रहा था वह श्रेणिक महाराजके हाथीके पग तले दबकर मरता है और उसी क्षण स्वर्गमें जाकर देव होजाता है। इस मेंढकने अर्हत्‌के चरणोंकी पूजाका क्या महात्म्य है यह बात महात्माओंको प्रगट करदी। पूजाके भावोंसे पाप क्षय व पुण्यका विशेष लाभ होता है। इसलिये देवकी भक्तिमें मुख्यतासे अष्ट द्रव्यसे पूजा करना उचित है। प्रतिमा या चरण चिह्न आदिकी पूजामें अभिषेक पूर्वक पूजन इसीलिये जरूरी बताया है कि एक तो जन्म कल्याण-ककी भक्तिका भाव है, दूसरे प्रतिमादिकी आभा यथार्थ निर्मल दर्शनमें आएँ जिससे मनमें भावशुद्धि जागृत होसके। इसलिये जब जब द्रव्य पूजा करे तबतब अभिषेक या प्रक्षाल सहित ही करनी चाहिये। दर्शन करना भी एक द्रव्यके द्वारा स्तुति सहित द्रव्य पूजा करना ही है। यह भी एक बहुत छोटा पूजाका ही अंग है।

शास्त्रकी भक्ति कैसे करे।

शास्त्रकी भी भक्ति देव पूजाके समान आठ द्रव्योंके द्वारा शास्त्र पूजासे की जाती है। परन्तु यह शास्त्रकी मुख्य भक्ति नहीं है। मुख्य भक्ति वह है जिससे शास्त्रका ज्ञान मिले। शास्त्रोंको नित्य रुचि सहित व विनय सहित पढ़ना और उसके यथार्थ भावको समझना शास्त्रकी मुख्य भक्ति है। शास्त्रोंको पांच तरहसे पढ़ना चाहिये। इसीलिये शास्त्रस्वाध्यायके पांच भेद हैं—(१) वाचना—ग्रन्थको भले

प्रकार पढ़ना या सुनना। (२) पृच्छना—पूछना जहां कहीं कोई बात समझमें न आई हो उसको पूछना। विशेष ज्ञानीसे समझ लेना जिससे भाव ठीक२ झलके। (३) अनुप्रेक्षा—समझी हुई बातोंको वारवार चिन्तवन करना जिससे वह विषय पक्का समझमें आजावे। (४) आम्नाय—शुद्ध शब्द तथा अर्थको घोखकर कंठस्थ कर लेना कि धारण हो जावे, मात्र पुस्तकके आश्रय ही ज्ञान न रक्खा रहे। (५) धर्मोपदेश—जानी हुई धर्मकी वार्तोका उपदेश करना। इस तरहसे शास्त्रोंका पठन करनायोग्य है। शास्त्र पढ़नेवालेको एक कापी सादी व पेन्सल अपने स्वाध्यायके ग्रंथकेसाथ रखनी चाहिये व उसमें कंठ करनेयोग्य बातोंको व जो बातें समझमें न आवें उनको लिख लेना चाहिये। बहु ज्ञानीका निमित्त मिलाकर शंकाओंको मिटा देना चाहिये।

यद्यपि जिनवाणीमें अनेक विषय जानने योग्य हैं। परन्तु मुख्य विषय जानने योग्य मोक्षमार्गमें प्रयोजनीय सात तत्त्व तथा नौ पदार्थ हैं। जिनमें इनका विशेष स्वरूप कथित हो उन ग्रंथोंका विशेष मनन करना योग्य है। प्रारम्भमें द्रव्य संग्रह और तत्त्वार्थ सूत्रका अर्थ व भाव मूल२ भलेप्रकार जान लेना चाहिये।

फिर द्रव्य संग्रहकी बड़ी टीका, बृहत् द्रव्य संग्रह तथा तत्त्वार्थसूत्रकी टीका, पं० सदासुखजी कृत अर्थ प्रकाशिका या पं० जयचन्द कृत सर्वार्थसिद्धि भाषाटीका भलेप्रकार मनन कर जाना चाहिये। फिर श्री गोम्मटसार, राजवार्तिक, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार तथा समयसार आदि समझनेकी गति होजायगी। जबतक सात तत्त्वका ज्ञान नहीं होगा तबतक सात तत्त्वका श्रद्धान नहीं

होगा। सात तत्त्वोंके ज्ञान व मननसे ही यह बोध होता है कि यह आत्मा इस प्रकार कर्मोंसे बंधता है व इस प्रकार कर्मोंसे छूट सकता है। इसलिये शास्त्रकी सच्ची भक्ति यही है कि मोक्षमार्गमें कारणीभूत जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वोंपर या पुण्य पाप सहित नौ पदार्थोंपर पक्का श्रद्धान लाया जावे। शास्त्रोंकी रक्षा करना, उनका प्रचार करना, प्राकृत संस्कृत ग्रंथोंका उल्था करना कराना आदि सब शास्त्रकी भक्ति है। शास्त्रोंके अर्थको दिल लगाकर विचारनेसे व सात तत्त्वोंके स्वरूपका चिन्तवन करनेसे सम्यग्दर्शनके बाधक अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्वका रस घटता है व उनकी स्थिति कम होती है।

गुरुकी भक्ति कैसे करे।

गुरुका भी पूजन आठ द्रव्योंसे किया जासक्ता है परन्तु उनका अभिषेक नहीं होसक्ता है; क्योंकि वे स्नानके त्यागी हैं। गुरुकी वैय्यावृत्त्य करना, उनके संयमके साधक शरीरकी रक्षा करना गुरु भक्ति है परन्तु यह भक्ति गौण है। मुख्य भक्ति यह है कि गुरुके द्वारा ज्ञानका लाभ किया जावे। उनसे उपयोगी विषयोंपर प्रश्न करके उत्तर समझा जावे। गुरु मोक्षमार्ग पर चलनेवाले होते हैं इसलिये उनको तत्त्वोंके स्वरूपका सच्चा अनुभव है। वे किसी भी विषयको बहुत स्पष्ट समझा सक्ते हैं। जो ज्ञान स्वयं शास्त्रोंको पढ़नेसे छः मासमें हो वह ज्ञान गुरुके द्वारा एक घण्टेमें होसक्ता है। गुरुकी संगति परिणामोंको शांत करनेवाली है। इससे भी सम्यग्दर्शनके बाधक कर्मोंका बल घटेगा।

पूजामें चढ़ाए हुए द्रव्यका क्या करना।

इस सम्बन्धकी स्पष्ट चर्चा किसी दिगम्बर जैन ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आई। तब अपनी ही युक्तिसे विचार किया जाय तो यह समझमें आता है कि वह सामग्री जिसको भावोंके सुधारके लिये आलम्बन मानके हम अपना मोह उससे त्याग चुके उसको अपने काममें तो लेना नहीं चाहिये। परन्तु उसको निरर्थक मानके जलाना भी उचित नहीं है। वास्तवमें जल चंदनादि द्रव्योंका संग्रह एक मात्र भावोंके सुधारके लिये किया जाता है। जिसतरह मुनिको दान होता है उस तरह अरहंत आदिको यह दान रूप नहीं है, क्योंकि इस सामग्रीसे उनका कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता है। जो लोग यह कहते हैं कि 'पूजाकी सामग्रीको जला दिया जाय उनका यह भाव है कि यह वस्तुएं श्री जिनेन्द्रको अर्पण की जा चुकीं हैं, वे वीतराग हैं किसीको देते नहीं इसलिये यह किसी भी मानव या पशुके काममें नहीं आसक्तीं। इसको जला देना ही ठीक है।' यह बात इसलिये समझमें नहीं आती है कि श्री अरहंत भगवानके लिये जल चंदनादि निरर्थक हैं, उनके कामके नहीं हैं। ये तो मात्र उसी तरहका पूजकको आलम्बन रूप हैं जैसे-वर्तन, शास्त्र आदि आलम्बन रूप हैं। जैसा कि संस्कृत देवपूजामें कहा है—

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं।
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तुकामः॥
आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गान्।
भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम्॥११॥

भावार्थ—शास्त्रोक्त द्रव्यकी शुद्धि करके अपने भावकी शुद्धिको अधिक करनेकी इच्छा करता हुआ नाना प्रकारके आलम्बनोंको लेकर यथार्थ पूजने योग्य भगवानका मैं पूजन करता हूं।

इससे सिद्ध है कि सामग्रीका चढ़ाना मात्र अवलम्बन रूप है। न तो भगवानको दान है न उनके द्वारा उसका ग्रहण है। इसलिये इसको अपने निजीय काममें न लेकर यदि नीचे लिखे किसी काममें किया जाय तो कुछ हर्ज नहीं दिखता है—

(१) दुःखी गरीब अपाहजोंको बांट दी जावे।

(२) मंदिरकी सेवा करनेवालोंको दे दी जावे।

(३) सामग्रीको बेचकर द्रव्यका उपयोग किसी आवश्यक धर्म व दानके काममें उसे खरचा जावे। जलानेसे वृथा ही प्रचुर सामग्रीको बेकाम किया जायगा। इसका उपयोग मात्र अपने जातीय काममें न लिया जावे क्योंकि पूजक उससे ममत्व छोड़ चुका है।

इस तरह देव, शास्त्र, गुरुकी जो श्रद्धा एक मुमुक्षुने की थी उनकी भक्ति करते रहना चाहिये। विना भक्तिके श्रद्धाका कोई उपयोग नहीं होसक्ता है।

सात तत्त्वोंका स्वरूप।

प्रथम तो सच्चे देवशास्त्र गुरुका स्वरूप जानकर उनमें गाढ़ श्रद्धा रखनी चाहिये, इसीको व्यवहार सम्यग्दर्शन श्री समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है। फिर सात तत्त्वोंको जानकार उनपर गाढ़ श्रद्धा लानी चाहिये यह भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है। जैसा श्री उमास्वामी महाराजने तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है।

देव शास्त्र गुरुके द्वारा ही तत्त्वोंका यथार्थ बोध होता है। इसलिये इन तीनके श्रद्धानको व्यवहार सम्यक्त कहा है। मानवोंके लिये देशनालब्धिमें यह अत्यन्त आवश्यक है कि जीवादि सात तत्त्वोंपर श्रद्धान लाया जावे। इसलिये उनका कुछ स्वरूप यहां कहते हैं—

यदि कोई मानव अपना ही स्वरूप देखने लग जावे तो उसको इन तत्त्वोंकी खोज होने लग जायगी। वह कौन है जो जाननेवाला है। वह कौन है जो आंखसे देखकर, कानसे सुनकर, जीभसे चाखकर, नाकसे सूंघकर, शरीरसे स्पर्श करके जानता है। जो जाननेवाला है उसे ही जीव कहते हैं। यह शरीर, यह वस्त्र यह चौकी, यह मेज, यह कलम, यह दवात, यह पलंग, यह खिलौना कुछ भी नहीं जानते हैं। इसलिये ये अजीव हैं। जो जाने सो जीव, जो न जाने सो अजीव। यह जगत चेतन व अचेतन पदार्थोंका समुदाय है। यह बात साफ २ झलक रही है। मुख्य तत्त्व इस विश्वमें दो ही हैं—जीव और अजीव। जीवका शरीरादिसे सम्बन्ध क्यों है, क्यों छूटता है, क्यों फिर होता है तथा क्या शरीरादिसे जीवका सम्बन्ध सदाके लिये छूट सक्ता है इन्हीं बातोंकी चर्चा शेष पांच तत्त्वोंमें है। आस्रव व बन्ध तो शरीरादिके सम्बन्धको, संवर और निर्जरा शरीरादिके वियोगको, मोक्ष जीवका सम्बन्ध अजीवसे पूर्णपने सदाके लिये छूटनेको बताते हैं। संसार कैसे है और मोक्ष कैसे होगा, यह सब कथन इन सात तत्त्वोंसे मालूम होता है। बंध और मोक्ष तब ही घट सके हैं जब जीव और अजीव दो पदार्थ माने जावे। यदि इस जगतमें एक ही जीव पदार्थ हो तो न उसके बंध होसक्ता है और न मोक्ष।

वास्तवमें यह जगत जीव और अजीव पदार्थोंका समुदाय है। जीव तत्त्वमें तो सर्व संसारी और मुक्त जीव गर्भित हैं। अजीव तत्त्वमें पांच द्रव्य हैं–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। यह विश्व छः द्रव्योंका समुदाय है। आकाश द्रव्य वह है जो सर्वको स्थान देता है। आकाश अनंत है व विस्तारमें सबसे महान है। इस आकाशके मध्यमें यह लोक या विश्व है। इस लोकाकाशमें शेष पांच द्रव्य सर्वत्र भरे हुए हैं। द्रव्यका लक्षण सत् है। अर्थात् जो सदा ही पाया जावे, जिसकी सत्ता या मौजूदगी कभी भी दूर न होवे। सत्का स्वरूप यह है कि वह उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य स्वरूप हो। उत्पाद उत्पत्तिको, व्यय नाशको व ध्रौव्य स्थिरताको कहते हैं।

हरएक सत पदार्थ परिणमनशील है। अर्थात उसमें समय समय अवस्थाका होना व बिगड़ना होता रहता है। पुरानी अवस्थाका व्यय होगा तब ही नई अवस्था या पर्यायकी उत्पत्ति होगी तौभी वह पदार्थ अपने स्वभावसे बना रहेगा यही ध्रौव्यपना है। दृष्टान्तमें एक गेहूंका दाना लिया जावे जिसको जब पीसा तब ही गेहूंपनेकी अवस्थाका व्यय हुआ व आटेपनेकी अवस्थाका उत्पाद हुआ। परन्तु जितने परमाणु गेहूंमें थे उतने परमाणु आटेमें हैं व उनका स्वभाव भी वैसा है यही ध्रौव्यपना है। पर्यायका पलटना यदि न हो तो वस्तु बेकामकी होजाय और यदि वह मूल वस्तु बनी न रहे तो उसकी पर्यायोंका होना व बिगड़ना ही नहीं झलके। जैसे सुवर्ण मूल द्रव्य है। उसको कड़ेकी दशासे कुण्डलकी दशामें बदला। जिस समय ऐसा हुआ कड़ेकी दशाका व्यय हुआ, कुंडलकी दशाका उत्पाद हुआ तथा दृष्टिसे सुवर्णपनेकी अपेक्षा स्थिरता

या ध्रौव्यपना रहा । इस दृष्टिसे पदार्थ नित्य तथा अनित्य उभयरूप है । ऐसा ही स्वामी समंतभद्र आचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जो सत् पदार्थ है वह सामान्य रूपसे या द्रव्य रूपसे न तो उत्पन्न होता है न नाश होता है क्योंकि वह पदार्थ अपनी सर्व पर्यायोंमें प्रकाशमान रहता है परन्तु विशेष रूपसे या पर्याय रूपसे पदार्थ उत्पन्न या नाश होता है । इससे सत् पदार्थमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों स्वभाव एक ही समयमें पाए जाते हैं । जो जो दृश्य पदार्थ हमारे सामने हैं उनमें यही देखनेमें आयगा कि उनकी अवस्थाएं पैदा होती हैं व नष्ट होती हैं परन्तु मूल पदार्थ अविनाशी हैं । इससे यह जगत जो जीवादि छः द्रव्योंका समुदाय है वह भी सत्रूप है, सदासे है व सदा बना रहेगा, मात्र अवस्थाओंके पलटनेकी अपेक्षा उपजता विनशता रहेगा । अवस्थाओंकी अपेक्षासे यह जगत् अनित्य है परन्तु मूल द्रव्योंकी अपेक्षासे यह जगत् नित्य है । इसीसे यह विश्व या विश्वके पदार्थ अकृत्रिम हैं—किसीके किये हुए नहीं हैं, स्वाभाविक हैं ।

इस जगतमें पुद्गलोंके नाना प्रकारके संयोगसे अनेक कार्य तो स्वभावसे होते रहते हैं । जैसे पानीका भाफ बनना, मेघ बनना, पानीका वरसना, नदीमें बाढ़ आना, पृथ्वीका जमकर बन जाना आदि । तथा जितने कार्य बुद्धिपूर्वक होते हैं उनके कर्ता इच्छावान संसारी जीव हैं । जैसे खेती करना, मकान बनाना, वर्तन बनाना, कपड़ा बनाना, घोसला बनाना, बिल बनाना, रेशम बनाना, दीमकों

द्वारा पुस्तकोंका खाना, लकड़ीका व अन्नका घुन जाना। इसमें किसी ईश्वर कर्ताकी जरूरत नहीं है। जो इच्छावान होगा वह कर्ता होगा, इच्छावान ईश्वर नहीं होसक्ता, वह तो कृतकृत्य निर्विकार व परम संतोषी व परमानंदमय है। यह जगत कभी नहीं था सो नहीं है। यह अनादि अनंत छः सत् द्रव्योंका समुदाय है।

जीव द्रव्य या तत्त्वका स्वरूप।

चेतना लक्षणको रखनेवाले सर्व ही जीव हैं। सर्व ही जीव अपनी२ सत्ताको या स्वभावको या मौजूदगीको भिन्न२ रखते हैं। यदि सर्व जीवोंकी एक सत्ता हो तो सर्व जीव एकसा ज्ञानवाले व एकसी स्थितिवाले देखनेमें आवें सो ऐसा नहीं है-कोई सुखी है तो कोई दुखी है, कोई जन्मता है तो कोई मरता है, कोई बालक है तो कोई वृद्ध है। एक ही समयमें एक ही स्थानपर तिष्ठे हुए जीव नाना प्रकारके परिणामवाले पाए जाते हैं। इससे एक ही जीव हो ऐसा सिद्ध नहीं होता है; किन्तु जीवोंकी सत्ता भिन्न२ अनंत हैं। संसारके भीतर जो जीव हैं वे अशुद्ध हैं। वे कर्म बंध संयुक्त हैं। क्योंकि उनमें अज्ञान व कषाय या राग द्वेषका दोष पाया जाता है। अज्ञान व क्रोधादि कषाय औगुण हैं, यह सर्वमान्य बात हैं। ये कभी जीवके गुण नहीं हैं। इसलिये संसारी जीवोंकी अशुद्धता प्रत्यक्ष चमक रही है। तब यह प्रश्न होगा कि जीवका असली स्वभाव क्या है।

प्रत्येक जीव अपने स्वभावकी अपेक्षासे एक समान है। जीवमें बहुतसे स्वभाव हैं। मुख्य या विशेष स्वभाव दर्शन, ज्ञान,

चारित्र, आनंद, सम्यक्त, वीर्य आदि हैं। वस्तु सामान्य तथा विशेष रूप है। सत् सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन है व सत् विशेषको जाननेवाला ज्ञान है। ज्ञानकी प्रगटता हम अल्प ज्ञानियोंकी समझमें आसक्ती है। ज्ञान हरएक जीवमें परिपूर्ण है। जितना ज्ञान प्रगट होता है वह भीतरसे ही प्रगट होता है। ज्ञान बाहरसे भीतर नहीं जाता है, क्योंकि एकका ज्ञान दूसरेमें भरा नहीं जासक्ता। यदि ज्ञान दिया या लिया जावे तो जहांसे दिया जावे वहां ज्ञान घटे व जहां लिया जावे वहां उतना ही बढ़े जितना ज्ञान देनेवालेका घटा है। सो यह बात प्रत्यक्षसे विरोधरूप है। पैसा तो देनेसे घटता है परन्तु ज्ञान देनेसे घटता नहीं किन्तु अधिक होजाता है और पानेवालेका भी ज्ञान बढ़ता है।

ज्ञानमें वास्तविक लेनदेन नहीं होता है। ज्ञान सबके भीतर पूर्ण है। उसपर ज्ञानावरण कर्मका परदा पड़ा है। उपदेश या शास्त्रके निमित्तसे जितना अज्ञानका परदा हटता है उतना ही ज्ञान प्रकाशित होता है। इसलिये हरएक जीवमें सर्वज्ञपनेकी शक्ति है ऐसा दृढ़ विश्वास करना योग्य है। इसी तरह जीवमें चारित्र स्वभाव है। रागद्वेष रहित वीतरागभाव या शांतभावको चारित्र कहते हैं।

एक पदार्थमें जितने गुण होते हैं वे परस्पर सहायक होते हैं बाधक नहीं होते व वे एक साथ उन्नति भी करते हैं। जैसे एक आमके फलमें जो जड़ पदार्थ है उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये चार गुण हैं। यदि कोई कच्चे आमको देखेगा तो उसमें इन चारोंकी हीन दशा मिलेगी। उसीको पका हुआ देखनेसे इनही चारों गुणोंकी उन्नत दशा प्रगट होगी। अतएव ये चारों गुण उस

जड़ पदार्थके हैं ऐसा मानना ही होगा। इसी दृष्टांतसे हम देखेंगे तो ज्ञानका सहायक चारित्र है। जितनी२ वीतरागता बढ़ती जाती है उतना२ ज्ञान विकसित होता जाता है। शांतभावमें ज्ञान अपना काम ठीक करता है जबकि रागद्वेषमय अशांतभावमें ज्ञान मैला हो जाता है व ज्ञानका प्रकाश रुक जाता है।

इसलिये चारित्र या शांतभाव भी इस जीवका स्वभाव है। क्रोध, मान, माया, लोभ, स्वभाव नहीं है किन्तु विभाव है, दोष है, मैल है। आनन्द भी आत्माका स्वभाव है, यह सुख विषय जनित सुखसे विलक्षण है, इन्द्रियोंका सुख पराधीन है, इच्छित वस्तुके मिलनेपर व इंद्रियोंकी समर्थता होनेपर भोगा जाता है, तथापि कभी तृप्ति नहीं देता है। यह सुख इच्छा या तृष्णाकी आगको बढ़ाता ही जाता है। जो सुख जीवका स्वभाव है वह परम समतारूप निर्मल व स्वाधीन है तथा तृष्णाको रोकनेवाला है। जब कोई मानव विना किसी स्वार्थके परोपकार करता है तब उसको जो हर्ष होता है वही आत्मिक सुखका झलकाव है। यह सुख इंद्रियजनित सुख नहीं है क्योंकि परोपकार करते हुए किसी भी इंद्रियका भोग नहीं किया गया। यदि जीवका गुण सुख नहीं होता तो कभी भी परोपकारियोंके अनुभवमें नहीं आता।

इसी तरह सम्यग्दर्शन भी जीवका स्वभाव है। साधारण सांसारिक जीवोंके इस गुणको मिथ्यात्व कर्मने दबा रक्खा है। इस कारण इसकी विपरीत बुद्धि रहती है। इसको अपने सच्चे जीवपनेका बोध नहीं होता कि यह मेरा जीव रागादि भावकर्मोंसे, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंसे व शरीरादि नोकर्मोंसे भिन्न है। यही

परब्रह्म स्वरूप परमात्मा है, यह अनुभव नहीं होता। सम्यक्तके प्रगट होनेसे आपको अपने स्वरूपकी सच्ची रुचि होजाती है। इसी तरह आत्मवीर्य भी आत्माका ही स्वभाव है। आत्मबलका विकाश भी भीतर हीसे होता है। आत्मबलका धारी मानव साहसी, वीर व उत्साही होता है। जितना २ अपने स्वरूपका मनन होता है उतना २ आत्मवीर्य बढ़ता जाता है।

इसलिये यह बात यथार्थ है कि निश्चयनयसे या अपने २ स्वभावकी अपेक्षासे सर्व ही संसारी जीव पूर्ण ज्ञानमय, वीतराग, आनंदस्वरूप, स्वरुचिधारी परमात्मा रूप है। संसार अवस्थामें ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका बंध इस जीवके साथ है, इसलिये यह अशुद्ध या संसारी कहलाता है। उस पाप पुण्यकर्मके संयोगके कारण ही जीव संसारमें एकेन्द्रियसे लेकर पंचेंद्रियरूपमें नारकी, देव, तिर्यंच या मानवके मध्यमें दिखलाई पड़ रहे हैं।

कर्मबन्धकी अपेक्षा जीवोंके तीन भेद किये जासक्ते हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। जो आत्मासे बाहरके पदार्थ शरीरादिमें अपनापना मानके मूर्छित, मोही व स्वभावसे प्रतिकूल होरहे हैं वे बहिरात्मा हैं। जो इंद्रियभोगके लम्पटी होते हुए बाहरी उन्नतिको ही उन्नति समझते हैं व जिनको सच्चा आत्मज्ञान नहीं है वे मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा हैं।

जो अपने भीतर आत्माको ही अपना स्वरूप मानते हैं, जिनके भीतर यह सच्चा श्रद्धान है कि यह आत्मा कर्मबन्धमें पड़ा हुआ भी कर्मोंसे अलिप्त श्री सिद्ध भगवानके समान है, जो संसारदशाको एक कर्मोंका नाटक समझते हैं, जो स्वतंत्रता ही प्राप्त करना

अपना ध्येय बना लेते हैं, जो आत्मीक स्वाधीन सुखको ही सच्चा सुख मानते हैं, जो इंद्रिय सुखको कटुक, अतृप्तिकारी व रोगका क्षणिक इलाजवत् मात्र जानते हैं, जो जगतमें कमलवत् अलिप्त रहते हैं उनको अंतरात्मा कहते हैं। अंतरात्मा ही सम्यग्दृष्टी, ज्ञानी व महात्मा होते हैं। ये ही आत्मध्यानसे जब आत्माको शुद्ध कर लेते हैं तब परमात्मा होजाते हैं।

जिनके आत्मामेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोह इन चार घातीय कर्मोंका मेल छुट गया है तथा जो सर्वज्ञ वीतराग होकर भी शरीर सहित हैं वे अर्हंत परमात्मा कहलाते हैं। जो आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय इन चार अघातीय कर्मोंसे भी रहित हैं अर्थात् जिनकी आत्मामें कोई प्रकार भी अनात्मासे संबंध नहीं रहा है, जो शुद्ध सुवर्णके समान परम शुद्ध हैं वे शरीर रहित सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। ज्ञानी मानवोंको उचित है कि बहिरात्मापना त्याग योग्य समझें व अंतरात्मा होकर परमात्म पद पानेकी भावना भावें व उसके लिये पुरुषार्थ करें। जीवोंमें अनेक प्रकारकी शक्तियां हैं। उनमेंसे एक वैभाविक शक्ति भी है जिसके कारण यदि मोहनीयकर्मके उदयका निमित्त होता है तो यह जीव विभावरूप या रागादिरूप परिणमन कर जाता है। जैसे पानीमें गर्म होजानेकी शक्ति है। यदि अग्निका निमित्त मिले तो गर्म हो जाता है नहीं तो शीतल बना रहता है उसी तरह जीवमें वैभाविक शक्ति है। कर्मबन्ध सहित अवस्थामें कर्मोंके उदयसे विभाव रूप होजाता है। जब कर्मका संयोग बिलकुल छूट जाता है तब यह कभी भी रागादि विभावरूप नहीं होता है। ज्ञानी वही है,

जो अपने जीवको यथार्थरूप ही जाने व अनुभव करे। यही सच्चा ज्ञान है, अज्ञानी मोही जीव अपनेको विभावरूप ही जानने लगता है। यह अनुभव उसके संसार बढ़ानेका बीज है।

जैसा श्री पूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा है—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

भावार्थ—इस शरीरमें ही आत्मापनेकी भावना करना पुनः पुनः देह धारण करनेका बीज है। तथा अपने आत्मामें ही आत्मापनेकी भावना करना देह रहित होजानेका बीज है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थमें कहते हैं—

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

भावार्थ—यह जीव कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले रागादि भावोंसे वास्तवमें रहित है तो भी यह रागी द्वेषी ही है। यह जीव उन रूप ही है ऐसा जो अज्ञानसे अज्ञानी जीवोंको झलकता है यही झलकना व यही समझ उनके संसार बढ़ानेका असलमें बीज है।

जीव तत्त्वको समझकर हमें अपने आत्माको परमात्मा रूप होनेका उपाय करना चाहिये। अशुद्धता कर्ममैलकी है ऐसा समझकर उसके छुड़ानेका उपाय करना चाहिये।

अजीव तत्त्व।

इस विश्वमें अजीव द्रव्य पांच हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल। इनमेंसे पुद्गल, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणोंका धारी होनेसे मूर्तीक है, शेष चार द्रव्य इन गुणोंसे शून्य हैं इसलिये

जीवोंकि समान अमूर्तीक हैं। जो मिले व बिछुड़े, पूरे व गले उसे पुद्गल कहते हैं। मिलना व बिछुडना मूर्तीक पुद्गल द्रव्यहीमें संभव है। अमूर्तीक द्रव्य न कभी किसीसे मिलते, न कभी किसीसे बिछुड़ते, न कभी खंड खंड होते, वे सदा ही अखंडित बने रहते हैं। पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं-परमाणु और स्कंध। ऐसा सबसे छोटा पुद्गलका अंश जिसका दूसरा भाग नहीं होसका है, उसको परमाणु कहते हैं। दो या तीन या चार या पांच या छः इसी-तरह संख्यात व असंख्यात व अनंत परमाणुओंकि एक बन्धरूप पर्यायविशेषको स्कन्ध कहते हैं। इस विश्वमें अनेक प्रकार बन्ध होनेके कारण स्कंध भी अनेक प्रकारके होते हैं।

हमारे द्वारा जाननेकी अपेक्षा पुद्गलके छः भेद किये गए हैं-(१) स्थूल स्थूल-वे पुद्गलके स्कन्ध जो टूटनेपर विना तीसरी वस्तुके द्वारा मिलाए स्वयं न मिल सकें। जैसे लकड़ी, पत्थर, लोहा, ताम्बा, कपड़ा, कागज आदि। (२) स्थूल-वे पुद्गलके स्कंध जो पतले या बहनेवाले होते हैं, जो अलग होनेपर भी स्वयं विना किसी दूसरी वस्तुके संयोगके मिल सकें। जैसे पानी, शरबत, दूध आदि। (३) स्थूल सूक्ष्म जो पुद्गलके स्कंध देखनेमें तो आसके परन्तु जिनको हाथोंसे ग्रहण न किया जासके जैसे धूप, छाया, उद्योत आदि। (४) सूक्ष्म स्थूल-जो पुद्गलस्कंध देखनेमें तो न आवें परन्तु अन्य चार इंद्रियोंसे जाननेमें आवें, जैसे-वायु, रस, गंध, शब्द आदि (५) सूक्ष्म-जो पुद्गलके स्कंध किसी भी इंद्रियसे जाने न जासकें जैसे कार्मणवर्गणा जो आठ कर्म रूप होकर अशुद्ध जीवके साथ बन्धती व छुटती रहती हैं। (६) सूक्ष्म-

सूक्ष्म–सबसे सूक्ष्म एक परमाणु। इन छः भेदोंमें सर्व जगतके स्कंधोंको विभाजित किया जासक्ता है।

पुद्गलोंसे बने हुए सूक्ष्म स्कंध अनेक प्रकारके होते हैं। जिनसे संसारी जीवोंका विशेष सम्बंध हैं वे स्कंध पांच तरहके होते हैं उनके नाम हैं–आहारकवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा, कार्मणवर्गणा।

आहारकवर्गणासे मनुष्य व पशुओंका स्थूल शरीर औदारिक, देव व नारकियोंका सूक्ष्म शरीर वैक्रियिक व ऋद्धिधारी मुनियोंके मस्तकसे निकलनेवाला सूक्ष्म आहारक शरीर बनता है। भाषावर्गणाओंके संगठनसे शब्द बनता है। मनोवर्गणाओंके संगठनसे द्रव्यमन बनता है। जो सैनी जीवोंके भीतर हृदयस्थानमें आठ पत्तोंके कमलके आकार होता है। तैजसवर्गणाओंसे तैजस शरीर या बिजलीका शरीर बनता है जो सर्व संसारी जीवोंके साथ हरसमय रहता है। कार्मणवर्गणाओंसे कार्मण शरीर बनता है। वह भी संसारी जीवोंके साथ हरसमय रहता है। यही पुण्य तथा पापका बना हुआ देह है।

स्थूल शरीरमें रहते हुए हरएक जीवके साथ साधारणरूपसे तीन शरीर होते हैं। तैजस शरीर व कार्मण शरीर तो सबके साथ हरसमय रहता है, इसके सिवाय देव व नारकियोंके वैक्रियिक, तथा मनुष्य व पशुओंके औदारिक शरीर और होता है। जब यह संसारी जीव मरता है तब तैजस व कार्मण शरीर साथ जाता है। मात्र औदारिक या वैक्रियिक छूट जाता है। एक, दो या तीन समय मात्र ही इस शरीरका वियोग रहता है, फिर इन दोनोंसे कोई शरीर ग्रहण कर लिया जाता है।

वैक्रियिक शरीरको छोड़कर वैक्रियिक शरीर ग्रहणमें नहीं आता है, किन्तु औदारिक ही आता है, परन्तु औदारिक शरीरको छोड़कर औदारिक या वैक्रियिक कोई भी धारण किया जासक्ता है। इसीलिये देव मरकर देव या नारकी न होगा, मानव या तिर्यंच होगा। नारकी मरकर नारकी या देव न होगा, मानव या तिर्यंच होगा, परन्तु मानव या तिर्यंच मरकर मानव, तिर्यंच, देव या नारकी चारों गतियोंको पासक्ता है। तिर्यंचोंमें एकेंद्रिय वनस्पति आदि व द्वेन्द्रियादि सर्व पशुगति गर्भित हैं। संसारी जीवोंके शरीर, वचन, मन व श्वासोछ्वास होना पुद्गलका ही कार्य है। इसी तरह संसारिक सुख, दुःख, जीवन, मरण होना कर्म रूपसे बन्धे हुए पुद्गलोंका ही काम है। जिनके कर्मोंका बन्ध नहीं रहता है उनके न शरीर, वचन, मन श्वासोछ्वास है और न संसारीक सुख दुख व जीवन या मरण है।

पुद्गलोंका संयोग संसारी जीवोंके साथ प्रवाह रूपसे अनादि कालसे लगा हुआ है। जगत अनादि है इससे संसारी जीव भी अनादि हैं। उनके नए पुद्गल आते रहते हैं, पुराने छूटते रहते हैं। तथापि वे पुद्गलसे मिश्रित ही हर समय झलकते हैं। जैसे कोई कुण्ड सदा पानीसे भरा हुआ दीखे, यद्यपि उस कुण्डमें नया पानी आकर भरता है व पुराना पानी उसके द्वारसे निकल जाता है।

पुद्गलोंके ही परस्पर संयोगसे मेघ बनते हैं, इन्द्र धनुष बनता है, ओले बनते हैं, बिजली बनती है। नाना प्रकारकी अवस्थाएं पुद्गलोंके संघसे होती रहती हैं। नदीमें पड़े हुए पत्थरके खंड पानीकी रगड़से चिकने बनते जाते हैं। पुद्गल स्वयं एक

दूसरेकी प्रेरणासे मिलकर बहुतसी अवस्थाएं जगतमें उत्पन्न करते हैं। वास्तवमें जो कुछ हमको इंद्रियोंसे जान पड़ते हैं वे सब पुद्गल ही हैं। अनेक प्रकारके स्कंध इंद्रियोंसे नहीं दिखते हैं परन्तु उनसे बने हुए कार्य दिखते हैं। कार्योंको देखकर कारणका अनुमान होता है।

क्रोध नाम मोहनीयकर्मके उदयसे मन व काय क्रोधित व क्षोभित होजाते हैं तब आंख लाल होजाती है, शरीर कंपित हो जाता है। इस क्रोधजनित चेष्टाको देखकर जो कि इंद्रियगोचर है यह अनुमान होता है कि वह क्रोध नामा कर्म जिसके असरसे क्रोध हुआ व क्रोध सम्बन्धी चेष्टा हुई वह भी पुद्गलमई जड़ है। पुद्गल-द्रव्य इस विश्वमें बड़ा भारी काम करता है। पुद्गलका संयोग जीवके साथ न हो तो यह जीव बिलकुल निष्क्रिय गमनागमन रहित, बिलकुल इच्छा रहित परम कृतकृत्य अपने निज स्वभाव हीमें रमण करे। पुद्गलके संयोगसे ही जीवका संसार नाटक बन रहा है। इसीलिये श्री अमृतचन्द्र आचार्यने समयसार कलशोंमें कहा है—

> अस्मिन्नादिनि महत्यविवेकनाट्ये ।
> वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ॥
> रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध ।
> चैतन्यधातुमयमूर्त्तिरयं च जीवः ॥ २–१२ ॥

भावार्थ—इस अनादिकालके महान अज्ञानके नाटकमें वास्तवमें वर्णादिमई पुद्गल ही नृत्य कर रहा है, और कोई नहीं। यह जीव तो निश्चयसे रागादि भाव जो पुद्गल द्रव्यके विकार हैं उनसे विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातुमई मूर्ति है।

यह जीव पुद्गलकी संगतिमें पड़ा हुआ अपनी उन्नति व अवनतिका आप ही अधिकारी है। यदि यह आत्माको जाने, आत्मबलसे पुरुषार्थ करे, वीतराग भावमें रमण करे तो वह पुद्गलसे छूटकर शुद्ध होजावे और यदि यह कर्मोदयके साथ आसक्त रहेगा तो सदा ही पुद्गलके संयोगमें पड़ा हुआ संसारमें भ्रमण करेगा। श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतकमें कहते हैं—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव वा ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥ ७५ ॥

भावार्थ—यह जीव आप ही अपनेको संसारमें अथवा निर्वाणमें होजाता है इसलिये निश्चयसे आत्माका गुरु आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है।

पुद्गल और जीव ये दो मुख्य द्रव्य हैं, जिनमें हलन चलन क्रिया होती है, ये रुक जाते हैं, ये स्थान पाते हैं, इनकी दशाएं बदलती हैं। इनके ये चार काम हमको प्रत्यक्ष प्रगट हैं। हरएक कार्यके लिये दो कारणोंकी आवश्यक्ता पड़ती है—एक उपादान कारण, दूसरे निमित्त कारण। जैसे गेहूंका आटा बननेमें उपादान कारण गेहूं है निमित्त कारण चक्की आदि है। इसी तरह इन चार कार्योंके उपादान कारण तो इनमें ही रही हुई कार्य या परिणमन करनेकी शक्ति है। परन्तु निमित्त कारण ऐसे चाहिये जो सर्व विश्वके पुद्गल और जीवोंके साथ उपकारी हों। इसी लिये इस जगतमें चार अमूर्तीक अजीव द्रव्योंकी सत्ता है। उनमेंसे धर्मास्तिकाय द्रव्य व अधर्मास्तिकाय द्रव्य इस लोकमें सर्वत्र व्यापी है।

धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलके गमनमें उसी तरह सहकारी है जैसे मछलीके गमनमें जल सहकारी है। अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलके ठहरनेमें उसी तरह सहकारी है जैसे वृक्षकी छाया पथिकके ठहरनेमें सहकारी होती है। ये दोनों द्रव्य उदासीनपनेसे परम आवश्यक सहायक हैं। ये प्रेरक सहायक नहीं हैं। सर्व वस्तुओंको एक साथ जगह देनेवाला अनन्त व्यापी आकाश है। इसीके मध्यमें लोकाकाश या लोक है। काल द्रव्य वस्तुओंकी दशा या पर्याय पलटनेमें कारण है। कालाणुरूप कालद्रव्य लोकाकाशके प्रदेशोंमें जोकि असंख्यात हैं सर्वत्र अलग अलग व्याप्त हैं। इस-तरह ये चार द्रव्य बड़े आवश्यक अजीव द्रव्य हैं व अमूर्तीक हैं। अजीव तत्वके भीतर पुद्गल सहित इन पांच द्रव्योंको समझकर इनका विश्वास करना चाहिये। इन धर्मादि चार द्रव्योंकी सिद्धिकी चर्चा श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित प्रवचनसार ग्रन्थमें विस्तारसे है वहांसे विशेष जानना योग्य है। यहां विस्तार भयसे इस कथनको संकोच करके कहा है।

आस्रव तत्व।

कार्माण वर्गणारूप पुद्गल स्कंधोंसे जीवका कार्माण शरीर बनता रहता है। अशुद्ध जीवमें योग और कषाय पाए जाते हैं। उन ही के प्रयोगसे कार्माण वर्गणाका खिंचकर बंधके सन्मुख होना होता है और इन हीसे उनका बंध भी अशुद्ध आत्मासे होजाता है।

इस जीवमें एक योगशक्ति है जिसके द्वारा यह पुद्गलोंको अपनी ओर आकर्षण करता है। यह योगशक्ति शरीर नामा नाम-

कर्मके उदयसे अपना काम करती है। जिससमय हमारा मन चंचल होगा या हम कुछ वचन कहेंगे या हमारा शरीर हलन चलन करेगा उसी समय आत्माके प्रदेश भी सकम्प होंगे; क्योंकि मन वचन कायका जहां कार्य होता है वहां आत्मा सर्वत्र व्यापक है, इसलिये मन वचन कायके निमित्तसे उसीसमय आत्मा कम्पता है। इस आत्मकम्पनको द्रव्ययोग कहते हैं। उसी समय योगशक्ति क्षोभित होकर पुद्गलोंको खींचती है। इस योगके कार्यको मन योग कहते हैं। वास्तवमें भावयोग ही कर्मोंके पुद्गलके आस्रव अर्थात् आनेके कारण हैं।

क्रोधादि कषायोंका प्रगटपना योगोंको विशेषरूप कर देता है। इससे विशेष रूपसे कर्म पुद्गलोंका आना होता है, यदि कषायका असर योगोंमें न हो तो मात्र वे ही कर्मरूप बंधेंगे। और यदि कषायका असर भी योगके साथ होगा तो ज्ञानावरणादि आठों कर्मरूप होनेयोग्य या आयुकर्मको छोड़ सात कर्मरूप होनेयोग्य या दशवें सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानमें मोहनीय व आयुरहित मात्र छः कर्मरूप होनेयोग्य कर्म पुद्गलोंका आना होता है।

इन कषायोंके भेद मिथ्यात्व अविरति व कषायोंमें भी कर सक्ते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थानमें अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व, अप्रत्याख्यानावरणादि कषायके उदयसे अविरति भाव व अन्य भी कषाय रहते हैं। ये सब विशेष आस्रवोंके कारण हैं। सासादन दूसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्व नहीं रहता है, शेष सब रहते हैं। मिश्र गुणस्थानमें अनंतानुबंधी कषाय नहीं रहता है। अविरति गुणस्थानमें भी यही बात है। अविरति भाव और अप्रत्याख्यानादि

कषाय रहते हैं। पांचवे देशविरत गुणस्थानमें श्रावकका चारित्र होता है, इससे कुछ अविरति भाव रहता है व अप्रत्याख्यान कषायका बल नहीं रहता है। छटे प्रमत्त गुणस्थानमें अविरति भाव चला जाता है। यह मुनिका प्रारम्भ गुणस्थान है। यहां प्रत्याख्यान कषाय भी नहीं रहते हैं। मात्र संज्वलन चार कषाय और हास्यादि नौ नोकषाय रह जाते हैं। ७ वें अप्रमत्त गुणस्थानमें इनका मंद उदय होता है। आठवें अपूर्वकरण व नौमें अनिवृत्तिकरणमें इन कषायोंका उदय घटते घटते बंद होता जाता है। तब दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें मात्र सूक्ष्म लोभका ही उदय रह जाता है। फिर उपशांतकषाय ११वेंमें, क्षीण कषाय १२वेंमें, सयोगकेवली तेरहवेंमें, यह कषाय भी नहीं रहती है, मात्र योग ही रहता है। १४ वें अयोगकेवली गुणस्थानमें योगका कार्य भी नहीं रहता है, इसलिये इस श्रेणीमें कर्म पुद्गलोंका बिलकुल आना नहीं होता है।

सातवें अप्रमत गुणस्थान तक कभी आठ कर्म व कभी आयु विना सात कर्मोंके योग्य कर्म पुद्गल आते हैं। आठवें व नौवेंमें आयुको छोड़कर मात्र ७ प्रकार कर्मके योग्य और दसवेमें मोहको छोड़कर मात्र ६ प्रकार कर्मके योग्य पुद्गल आते हैं। आयुका बंध तीसरे मिश्र गुणस्थानमें नहीं होता है। आयुका बंध आठ त्रिभागमें या मरणके पहले अन्तर्मुहूर्तमें होता है। कर्मभूमिके मानव या तिर्यंचोंकी अपेक्षा जब नियत आयुका दो तिहाई भाग बीत जाता है तब पहला अवसर एक अन्तमुहूर्तके लिये आता है। फिर दो तिहाई भाग आयु बितनेपर दूसरी दफे, फिर दो तिहाई

भाग वीतनेपर तीसरी दफे, इस तरह आठ त्रिभागमें एक एक अन्तर्मुहूर्तके लिये आयुबंधका समय आता है। जैसे किसीकी ८१ वर्षकी आयु है तो ५४ वर्ष वीतनेपर पहला, फिर ७२ वर्ष वीतनेपर दूसरा, ७८ वीतनेपर तीसरा, ८० वीतनेपर चौथा, ८० वर्ष ८मास वीतनेपर पांचवा,८० वर्ष ८ मास ८० दिन वीतनेपर छठा, ८० वर्ष ८ मास १०६ २/३ दिन वीतनेपर सातवां; ८० वर्ष ८ मास, ११५ ५/९ दिन वीतनेपर आठवां अर्थात् मात्र ४ ४/९ दिन शेष रहनेपर आठवां समय आयगा। यदि इनमें न बंधे तो मरणके पहले अंतर्मुहूर्तमें आयु परलोकके लिये बंधेगी। देव व नारकी अपने मरणके ६ मास पूर्व व भोगभूमिके जीव अपने मरणके ९ मास पूर्व आठ त्रिभागके नियमसे आयु बांधते हैं।

इन आठ कर्मोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोह पापकर्म हैं; क्योंकि ये आत्माको अपवित्र करते हैं। शेष चार अघातीयमें शुभ आयु अर्थात् मानव, देव, तिर्यंच आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र व सातावेदनीय कर्म पुण्य कहलाते हैं तथा अशुभ नर्क आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र व असातावेदनीय कर्म पाप कहलाते हैं। जब जीवोंके परिणाम सामान्यपने अशुभ होते हैं तब पापकर्म बंधनेयोग्य कर्म पुद्गल आते हैं और जब उनके भाव शुभ होते हैं तब अघातीयमें पुण्य कर्मयोग्य पुद्गल परन्तु घातीयके चारों कर्मयोग्य पुद्गल आते हैं। शुभ भाव हों या अशुभ भाव हों चारों घातीय कर्मोंका बंध अवश्य होता है। मात्र अघातीयमें कभी पुण्यका व कभी पापका होता है।

जहां क्रोध, मान, माया, लोभकी तीव्रता होती है उसको अशुभ भाव व जहां इनकी मंदता होती है उसको शुभ भाव कहते हैं। जैसे हिंसक भाव, कठोर भाव, कपट भाव, चोरी आदिका भाव, अभक्ष्य भक्षण भाव, अन्यायसे वस्तु ग्रहण भाव, कुशील भाव, इंद्रिय लोलुपताके भाव इत्यादि तीव्र कषाय सहित भाव अशुभ हैं। जबकि दयाका भाव, विनयका भाव, कपट रहित सरल भाव, न्यायसे धन कमानेका भाव, परोपकार भाव, ब्रह्मचर्य पालन भाव, संतोष भाव, इंद्रियनिग्रह भाव, भक्ति भाव, गुणानुराग भाव, मैत्री भाव, सेवा भाव आदि मंद कषायरूप शुभ भाव हैं।

जैसा भीतर अभिप्राय होता है वैसा कर्मयोग्य पुद्गलका आस्रव होता है। संक्षेपमें यह संसारी जीव अपने ही भावोंसे पुण्य या पाप कर्मका आस्रव करता है। हरएक संसारी जीव एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक हरएक दशामें चाहे जागृत हो या निद्रित हो या मूर्छित हो १३वें गुणस्थान तक अपने २ भावयोग और कषायोंके अनुसार कर्मपुद्गलोंका आकर्षण किया करता है। क्योंकि आत्माकी चंचलता और क्रोधादि कषायकी कालिमा इन सब दशाओंमें विद्यमान रहती है। छोटे बड़े सर्व प्राणियोंके भीतर चार संज्ञाएं या इच्छाएँ पाई जाती हैं। १ आहारसंज्ञा—भोजन करनेकी इच्छा। २ भयसंज्ञा—अपनी हानि न हो यह खटका। ३ मैथुनसंज्ञा—परस्पर स्पर्श करनेकी इच्छा। ४ परिग्रहसंज्ञा—अपने शरीरादिकी ममता। वृक्षोंमें भी ये चारों बातें हैं।

बंधतत्त्व।

जिस समय कर्म पुद्गल आते हैं उसी समय उनका बंध पूर्वबद्ध कार्माण देहके साथ होजाता है। बंध होते हुए चार अवस्थाएं होती हैं इसीलिये बंध चार प्रकारका कहलाता है। प्रकृतिबंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध। जो कर्म पुद्गल बंधे उनमें प्रकृति या स्वभाव प्रगट होगा कि ये ज्ञानावरण रूप है, ये दर्शनावरण रूप है, इत्यादि यह प्रकृति बंध है। कितनी संख्याको लिये हुए ज्ञानावरणके या दर्शनावरणके या मोहनीय इत्यादिके कर्म पुद्गल बन्धे सो प्रदेश बंध है। हर प्रकारके बंधे हुए कर्मोंमें कितने दिन तक ठहरनेकी शक्ति, कम या अधिक कालके लिये पड़ना सो स्थिति बंध है। हर तरहके बंधे हुए कर्ममें तीव्र या मन्द फल दानकी शक्ति होना सो अनुभाग बंध है। योगोंकी मुख्यतासे प्रकृति व प्रदेश बंध व कषायोंकी मुख्यतासे स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं। जब कषाय अधिक तीव्र होती है तो आयुकर्मको छोड़कर शेष सात प्रकारके सर्व ही अशुभ या शुभ कर्मोंमें स्थिति अधिक कालके लिये पड़ती है और जो कषाय मन्द होती है तो इनमें स्थिति कम कालके लिये पड़ती है। आयुकर्ममें तीव्र कषायसे नर्क आयुमें स्थिति अधिक व मंद कषायसे कम पड़ती है परन्तु शेष तीन शुभ आयुकर्ममें कषायकी मंदतासे स्थिति अधिक पड़ती है।

अनुभाग बंधमें यह नियम है कि जब कषाय तीव्र होगी तो पापकर्मोंमें अनुभाग अधिक व पुण्य कर्मोंमें कम पड़ेगा और

जब कषाय मंद होगी तो पुण्य कर्मोंमें अनुभाग अधिक व पाप कर्मोंमें कम पड़ेगा। जैसे किसीके दान करनेके भाव हुए तब मंद कषायसे उस समय बन्धनेवाले सात कर्मोंमें स्थिति कम होगी परन्तु शुभ आयुकर्ममें स्थिति अधिक पड़ेगी तथा उसी समय पाप-रूप चार घातीय कर्मोंमें अनुभाग कम, जब कि पुण्य रूप अघा-तीय कर्मोंमें अनुभाग अधिक पड़ेगा। इस तरह योग और कषाय ही सामान्यसे कर्मबंधके भी कारण हैं, जैसे वे कर्मोंके आस्रवके कारण हैं।

ये कर्म बंध जानेके पीछे अपने समयपर गिरते जाते हैं। यदि अनुकूल निमित्त होता है तौ वे फलको प्रगट करते हैं। यदि अनुकूल निमित्त नहीं होता है तौ वे फलको विना प्रगट किये हुए झड़ जाते हैं। कर्म बंधनेके पीछे कमसे कम एक अंतर्मुहूर्त व अधिकसे अधिक ७००० वर्ष पीछे वे झड़ना शुरू होजाते हैं। दृष्टांतमें यदि किसीने ६३०० कर्म ४९ समयकी स्थितिवाले बांधे इसमें एक समय पक्काल व अबाधा काल माना जावे तौ ४८ समयमें वे कर्म पहले अधिक फिर कम कम हर समय अवश्य गिर जांयगे। इन ६३०० कर्मोंके गिरनेका हिसाब श्री गोम्मट-सारके अनुसार इस तरह पर होगा। आठ आठ समयकी एक गुणहानि, ऐसी छः गुणहानि ४८ समयमें होंगी—

गुणहानि—संदृष्टि।

	१	२	३	४	५	६	
अष्टम	२८८	१४४	७२	३६	१८	९	४८ वां समय
सप्तम	३२०	१६०	८०	४०	२०	१०	
षष्ठम	३५२	१७६	८८	४४	२२	११	
पंचम	३८४	१९२	९६	४८	२४	१२	
चतुर्थ	४१६	२०८	१०४	५२	२६	१३	
तृतीय	४४८	२२४	११२	५६	२८	१४	
द्वितीय	४८०	२४०	१२०	६०	३०	१५	
प्रथम	५१२	२५६	१२८	६४	३२	१६	
जोड़	३२००	१६००	८००	४००	२००	१००	सब ६३००

इस नक्शेसे विदित होगा कि ४८ समयके आठ आठ समयोंके छः भाग किये गए जिनको गुणहानि कहते हैं। प्रथम गुणहानिमें हर समय बत्तीस२ कम हुए, दूसरेमें १६, तीसरेमें ८, चौथेमें ४, पांचवेमें २, छठेमें १ इसतरह ३२००, १६००, ८००, ४००, २००, १०० की छः गुणहानियां हुई। पहलीमें प्रथम समय ५१२ कर्म गिरेंगे, फिर ४८०, इस तरह आठवें समयमें २८८, फिर दूसरी गुणहानिमें प्रथम समयमें या नौमें समयमें २५६ झड़ेंगे; उसीके आठवें समयमें या १६ वें समयमें १४४ झड़ेंगे। इसी तरह छठी गुणहानिके प्रथम समयमें १६, आठवें समयमें या ४८ वें समयमें ९ झड़ेंगे। इसके निकालनेका हिसाव गोम्मटसार कर्मकांड स्थिति बन्धके अधिकारसे देख लेना चाहिये।

यह कायदा है कि जब झड़ना शुरू होता है तब पहले समयमें सबसे अधिक व अंत समयमें सबसे कम झड़ते हैं। जैसे यहां पहले समयमें ५१२ फिर अंतके समयमें ९ झड़े।

वास्तवमें देखा जाय तो ४९ समयकी स्थिति उन कर्मोंकी ही हुई जो अन्तमें झड़े, अर्थात् ९ कर्मवर्गणाओंकी। इस तरह हरएक कर्म बन्धनके पीछे अपने पकनेके कालके पीछे झड़ना शुरू होता है और अपनी स्थितिके अन्ततक सब झड़ जाता है। यह हिसाब आयुकर्मको छोड़कर सात कर्मोंमें है। आयुकर्मका हिसाब यह है कि वह बन्धनेके पीछे जबतक भोगी जानेवाली आयु समाप्त न हो तबतक झड़ना शुरू नहीं होता है। जब दूसरा शरीर धारण करनेको जीवका गमन होता है तब उस आयुका उदय शुरू होता है। अर्थात् आयुकर्म तब झड़ना शुरू होता है और जबतक स्थिति पूर्ण न हो तबतक झड़ता रहता है।

वास्तवमें एक समयप्रबद्ध मात्र कर्मवर्गणाएं हर समय आती हैं व एक समयप्रबद्ध ही हर समय झड़ती हैं। डेढ़ गुणहानिसे गुणित समयप्रबद्ध मात्र सत्तामें रहती हैं। ऊपरके दृष्टांतमें यदि ६३०० को समयप्रबद्ध मान लिया जावे व इतना ही बन्ध हर समय ४८ समय तक हो तब ४८वें समयमें कितनी सत्ता रहेगी। यह १॥ गुणहानि आयाम गुणित ६३०० से कुछ कम कर्मोंकी सत्ता रहेगी। यहां गुणहानि आयाम ८ है, तब–$\frac{3}{2}$×८×६३००= ७५६०० कर्म वर्गणाएं आती हैं। इससे कुछ कम अर्थात् ७१३०४ सत्तामें रहेंगी। ४८ वें समयमें बंधी तो सब ६३०० हैं। ४७वें समयमें बंधी थी उसमेंसे ५१२ गिर गईं, तब ५७८८

रहीं। ४६ वें समयमें बंधी थी उनमेंसे ५१२ व ४८० गिरी तब ९३०८ रहीं। इस तरह पहले समयकी ९ बाकी रहीं। इन सबका जोड़ ७१३०४ होगा।

अभव्य राशिसे अनन्त गुणे कमसेकम व सिद्धराशिके अनन्तवें भाग अधिकसे अधिक कर्मवर्गणाओंके समूहको समयप्रबद्ध कहते हैं। (देखो कर्मकांड गाथा २६०)।

कर्म वर्गणाएं जब झड़ने लगती हैं तब निमित्त हो तो फल दिखलाती हैं अन्यथा नहीं। जैसे किसीके क्रोध कषायकी कर्म वर्गणाएं बराबर ३० मिनट तक झड़ रही हैं, १९ मिनट तक उसको कोई निमित्त क्रोध करनेका नहीं हुआ, वह लोभकी तरफ फंसा था, तबतक क्रोधकी वर्गणाएं विना फल दिखलाए झड़ गईं; १९ मिनट पीछे उसके क्रोध होनेके लिये निमित्त बन गया तो क्रोध रूप कर्म फल दिखलाने लगा अर्थात् वह मानव क्रोधी होगया। उसने अपने ज्ञान बलसे विचार किया तब क्रोध शांत हो गया। इसमें ९ मिनट लगे, तब २० मिनटसे लेकर जबतक ३० मिनट पूरे न हुए फिर विना निमित्त क्रोध कषायने झड़ते हुए कुछ भी फल न दिखाया। कर्म बंध जानेके पीछे उनमें संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा भी होसक्ती है।

संक्रमण स्वभाव बदलनेको कहते हैं। जैसे असाता वेदनीयका स्वभाव बदलके साता वेदनीय होजाना या साता वेदनीयका बदलके असाता वेदनीय होजाना। उत्कर्षण स्थिति व अनुभागके बढ़नेको व अपकर्षण स्थिति व अनुभागके घटनेको कहते हैं। किसी कर्मकी स्थिति कम थी हमारे कषाय भावसे बढ़ सक्ती है

व कम होसक्ती है इसी तरह पाप कर्मोंका या पुण्य कर्मोंका अनुभाग हमारे भावोंके अनुसार घट या वढ़ सक्ता है। जो कर्मवर्गणाएं किसी कारणसे अपने नियत समयसे झड़नेके पहले झड़ जावें उसे उदीरणा कहते हैं। जब तीव्र भूख लगती है तब असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा होने लगती है। इससे यह सिद्धांत निकलता है कि हमारे पास जितना आत्मबल व ज्ञानका प्रकाश है उसके द्वारा बहुत सोच विचार कर हमें योग्य निमित्त मिलानेका व योग्य वातावरण रखनेका सदा पुरुषार्थी होना चाहिये। तब हम दुखदाई बहुतसे कर्मोंके फलसे बच सकेंगे और साताकारी कर्मका फल भोग सकेंगे। जो सम्हाल नहीं रखते हैं व आलसी रहते हैं उनको बहुधा अशुभ कर्म दबा लेते हैं। जो विवेकी हैं व उद्यमी हैं वे अशुभ कर्मोंके फलसे बच सक्ते हैं।

कर्म बंधनेके पीछे बटवारेके हिसाबसे साता वेदनीय व असातावेदनीय दोनों प्रकारकी कर्मवर्गणाओंका झड़ना हर समय हो सक्ता है। परन्तु दोनोंका फल एक साथ न दीखेगा। जिसका निमित्त होगा वैसा फल दीखेगा। यदि असाताका निमित्त होगा तो दुख भोगनेमें आवेगा, साता कर्म निरर्थक झड़ जायगा। यदि साताका निमित्त होगा तो सुख भोगनेमें आयगा, असाता कर्म निरर्थक झड़ जायगा।

कभी कभी तीव्र कर्मका उदय होता है तब उसे भोगना ही पड़ता है। उसका फल अवश्य प्रगट होता है। उसके अनुकूल निमित्त होजाता है। किसीको अकस्मात् धनका लाभ होजाना, अकस्मात् चोट लग जाना। मंदकर्मके उदयको हमारा पुरुषार्थ जीत लेता

है तीव्रको नहीं जीत सक्ता। जैसे नदीमें यदि मंद जलप्रवाह होता है तो उस धाराके विरुद्ध भी तैरा जासक्ता है। यदि तीव्र प्रवाह होता है तो धाराके अनुकूल ही तैरा जायगा। क्योंकि पाप या पुण्यकर्मका उदय अदृष्ट है। हम पहलेसे नहीं जान सक्के कि कर्म अपना कैसा असर करनेवाला है इसलिये हमारा तो यही कर्तव्य है कि हम पुरुषार्थी बने रहें। जितना ज्ञान और आत्मबल हमारे पास प्रगट है उससे हम विचार करके साहसके साथ प्रयत्न करें। यदि तीव्र कर्म बाधक होगा तो कार्य न होगा, यदि बाधक न होगा तो कार्य हो जायगा। इसीलिये श्री समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

भावार्थ—जो कार्य ऐसा होजाय कि जिसके लिये हमने पहले विचार नहीं किया था वह कार्य इष्ट हो या अनिष्ट हो, सुखरूप हो या दुखरूप हो, पूर्व कर्मके उदयकी मुख्यतासे होजाता है। और जिस कार्यके लिये पहलेसे विचारा जाय व पुरुषार्थ किया जाय वह कार्य अच्छा या बुरा अपने पुरुषार्थकी मुख्यतासे होता है।

जैसे सोच समझ करके कोई व्यापार किया गया अकस्मात् हानि होगई। यह तीव्र पापका उदय है। यदि हानि नहीं हुई, पुण्य कर्म अनुकूल होगया तब हमारे पुरुषार्थकी मुख्यता रही। क्योंकि हमारा दैव या कर्मका उदय हमको ज्ञात नहीं है। इसलिये हमारा तो यह पवित्र कर्तव्य है कि हम पुरुषार्थी बनें।

स्थूल शरीरमें हम जैसे हवा लेते, जैसा पानी पीते, व जैसा भोजन खाते, वैसा ही उसका अच्छा या बुरा असर होता है। परन्तु हम किसी रोगकारक पदार्थको खानेके बुरे असरको दूसरे उसके विरोधी पदार्थको खाकर मेट सक्ते या किसी औषधिके द्वारा विकारी पदार्थको बाहर निकाल देते व उसका असर कम कर देते या शरीरमें बलयुक्त पदार्थको खाकर बलको बढ़ा देते, उसी तरह पाप व पुण्यके बने हुए सूक्ष्म शरीरमें होता है। हम अपने धार्मिक पुरुषार्थसे बुरे कर्मोंको अच्छेमें बदल देते, बुरे कर्मोंका असर कम कर सक्ते, उनको विना फल भोगे हटा सक्ते, इसलिये अत्यन्त आवश्यक है कि हमको धर्मका पुरुषार्थ सदा ही करते रहना चाहिये। हमारा जो कुछ बुद्धिबल व आत्मबल प्रगट है उसके द्वारा अपने भावोंको उज्वल रखनेका व वीतरागताके सन्मुख करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यह प्रयत्न हमारे पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंकी दशाको पलटनेमें सहायक होगा और नवीन पुण्यकर्मको लायगा।

अनादि संसारमें कर्मका बंध भी प्रवाह रूपसे अनादि है। इस जीवमें पूर्वबद्ध मोहकर्मके उदयसे राग द्वेष मोह भाव होता है या योग व कषाय काम करता है। और ये योग और कषाय नवीन कर्मोंको बांध लेता है। जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज है, दोनोंका सम्बन्ध अनादि है। कोई पहले पीछे नहीं कहा जा सक्ता। इसी तरह इस संसारी जीवके कर्मके उदयसे मोह और मोहके प्रभावसे नवीन कर्मबंध होता रहता है। कर्मके बंधका मूल कारण मिथ्यात्व है। जिस भावसे कर्मजनित पर्यायोंमें अहंकार ममकार किया जाता है उस भावको मिथ्यात्व कहते हैं। जिस

भावसे सुखका निमित्त पानेपर उन्मत्त व दुःखका निमित्त आनेपर शोकित हुआ जाता है वह भाव मिथ्यात्व है। जिस भावमें इंद्रिय-सुखको उपादेय या ग्रहण योग्य माना जाता है व आत्मीक सुखकी रुचि नहीं प्राप्त की जाती है वह भाव मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वसे यह प्राणी सुख होनेपर आसक्त व दुःख होनेपर क्षोभित होता है, समताभावका नाश कर देता है। इसलिये संसार भ्रमणकारक कर्मका बंध करता है।

मिथ्यात्वपर विजय होनेपर यह जीव कर्मके उदयको मात्र नाटक समझता है। सुखके होनेपर या दुःखके पड़नेपर समताभाव रखता है, तब यह बहुत ही अल्प बंध करता है जिसको संसारका कारण नहीं मानते हुए श्रीगुरुओंने अबन्ध ही कह दिया है। इसलिये वास्तवमें मिथ्यात्वको ही कर्मबंधका मूल कारण कहा जाये तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

संवर तत्त्व।

आस्रव और बन्ध तत्त्वोंसे यह जाना गया कि यह जीव किस तरह आप ही अपने भावोंसे कर्मोंका बन्ध करके मलीन होता है। वास्तवमें यह जीव स्वयं पापको बांधना नहीं चाहता है, परन्तु वैज्ञानिक नियमके अनुसार जैसे इस जीवके परिणाम होते हैं उन भावोंका निमित्त पाकर स्वयं ही कर्म वर्गणाएं उसी तरह कर्म रूप होजाती हैं। जिस तरह उष्णताका निमित्त पाकर जल भाफकी सूरतमें स्वयं बदल जाता है। इस वस्तुस्वभावको कोई मेट नहीं सक्ता। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

भावार्थ-जीवके किये हुए भावोंका निमित्त पाकर नहीं बंधे हुए दूसरे कर्म पुद्गल अपने आप ही कर्मरूपसे होजाते हैं।

जब इस बंधके कारण यह जीव संसारमें भ्रमण कर रहा है, कभी क्लेश उठाता है कभी कुछ साता मालूम करता है, जन्मता मरता है, वार२ शरीर धारण करता है। वारवार इंद्रियोंकी इच्छाओंके वशीभूत होता है। उनकी पूर्तिका प्रयत्न करता है। पूर्ति न पाकर अंतमें प्राण त्याग देता है। अपनी चाह विरुद्ध बहुतसी बातोंका सामना करता है। इस विकट संसारमें कहीं भी सुख व शांति नहीं पाता है। सच है, जहां बंध हो, कुछ भी पराधीनता हो, मैल हो, वहां सुख शांति कहां? स्वतंत्रता कहां? पवित्रता कहां? बंध काटने योग्य है। अशुद्धता टालनी योग्य है। स्वाधीनता प्राप्त करनी योग्य है। आत्माकी परमात्मा अवस्था रहनी योग्य है।

इस रुचिको प्राप्त करनेवाले जीवको प्रथम ही यह जानना आवश्यक है कि कर्मोंका नवीन बंध न हो इसके लिये क्या उपाय किया जावे। संवर तत्त्वका जानना इसी लिये जरूरी है। जो आस्रवका विरोधी है वह संवर है। जिन जिन कारणोंसे पुद्गलोंका आना होता है उनको बंद कर देना संवर है। यह पहले कहा जा चुका है कि बंधके कारण सामान्यसे योग और कषाय हैं; विशेषमें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं।

इसलिये जो पुद्गल इनके निमित्तसे आते हैं उनको न आने देनेके लिये इनके विरोधी भावोंको प्राप्त करना जरूरी है। इनके

विरोधी भाव क्रमसे सम्यग्दर्शन, व्रत, वीतराग भाव और योग निरोधपना है।

सम्यग्दर्शन यथार्थ आत्मा व अनात्माके श्रद्धानको कहते हैं। इसकी प्राप्ति भेदविज्ञानके द्वारा होती है। जैसे दूधसे जलका स्वभाव भिन्न है, तिलकी भूसीसे तैल भिन्न है, धान्यमें भूसीसे चावल भिन्न है, व्यंजनमें सागके स्वादसे नोनका स्वाद भिन्न है, ऐसे ही इस सांसारिक देव, नारक, तिर्यंच या मानव पर्यायमें आत्मा औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण इन शरीरोंसे व कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले रागद्वेषादि मलीन औपाधिक भावोंसे भिन्न है। यह तो सिद्ध परमात्माके समान पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, शांति व वीर्यका धनी है। जब वारवार भेदविज्ञानके मननसे यह पक्का ज्ञान होजाय कि वास्तवमें मेरा आत्मा अनात्मासे भिन्न है, इतना ही नहीं लेकिन ऐसा अनुभव होजाय कि अपना उपयोग आत्मा हीके स्वादमें लय होजाय तब सम्यग्दर्शनका लाभ हुआ ऐसा समझना चाहिये। उसके प्रतापसे बहुतसे अशुभ कर्मोंका आश्रव व बंध जो मिथ्यात्व व सासादन गुणस्थानमें होता था सो बंद होजाता है।

हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहसे सर्व प्रकार विरक्त होना सो व्रत है। व्रतोंके पालनेसे जो कर्मबंध अविरत भावसे होता था वह बंद होजाता है। अनंतानुबन्धी आदि १६ कषाय तथा हास्यादि ९ नौ कषाय हैं। इन २५ कषायोंमेंसे जितना जितना कषाय हटता जाता है उतना उतना कषायके द्वारा होनेवाला कर्मका बंध रुक जाता है। योगोंका हलन चलन १३ के

गुणस्थान तक होता है। चौदहवें अयोग गुणस्थानमें योग थंभ जाता है तब वहां योगोंके द्वारा जो कर्म आता था उसका संवर होजाता है।

बन्ध व्युच्छित्ति शब्द यह बताता है कि बंधका न होना अर्थात् संवर होजाना। श्री गोम्मटसार कर्मकांडमें यह बताया है कि हरएक जीवके गुणस्थानमें कितने कर्मोंकी बंध व्युच्छित्ति होती है, जिसका प्रयोजन यह है कि उस गुणस्थान तक ही उनका बन्ध रहता है, आगे उनका संवर होजाता है—

सोलस पणवीस णभं दस चउ छक्केक्क वन्धवोच्छिण्णा।
दुग तीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ॥ ९४ ॥

भावार्थ–मिथ्यात्व गुणस्थानमें १६, सासादनमें २५, मिश्रमें शून्य, अविरत सम्यक्त चौथे गुणस्थानमें १०, पांचवें देशविरतमें ४, छठे प्रमत्तमें ६, सातवें अप्रमत्तमें १, आठवें अपूर्वकरणमें २+३०+४, नौमे अनिवृत्तिकरणमें ५, दसवें सूक्ष्मसांपरायमें १६, तेरहवें सयोगीके १–इस तरह बंधमें गिनाई हुई १२० (१६+२५+१०+४+६+१+३६+५+१६+१) कर्म प्रकृतियें धीरे धीरे बन्धसे रुकजाती हैं।

कर्म प्रकृतियोंके संवरका नकशा।

गुणस्थान	संख्या बंध व्युच्छित्ति	विवरण प्रकृति
१ मिथ्यात्व	१६	१ मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसक वेद, असंप्राप्त, संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, नरकगति, नरक गत्यानुपूर्वी, नरक आयु=१६.

गुणस्थान	कुल्या बंध व्युच्छित्ति	विवरण प्रकृति
२ सासादन	२५	४ अनंतानु० कषाय, स्त्यानगृद्धि, प्रचला प्रचला, निद्रा निद्रा, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, ४ न्यग्रोधादि संस्थान, समचतु० सिवाय, ४ संहनन वज्रनाराचादि प्रथमको छोड़कर, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्रीवेद, नीच गोत्र, तिर्यंच गति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, उद्योत, तिर्यंच आयु=२५.
३ मिश्र	०	०
४ अविरत	१०	४ अप्र० कषाय, वज्रवृषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु=१०.
५ देशविरत	४	४ प्रत्याख्यानावरण कषाय=४.
६ प्रमत	६	अथिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयश, अरति, शोक=६.
७ अप्रमत	१	देवायु=१.
८ अपूर्वकरण प्रथम भागमें	२	निद्रा, प्रचला=२
,, छठा भागमे	३०	तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पंचेन्द्रिय, तैजस शरीर, कार्माण शरीर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, ४ वर्णादि, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय=३०.

गुणस्थान	संख्या बंध व्युच्छित्ति	विवरण प्रकृति
८अ. ७वां भाग	४	४ हास्य, रति, भय, जुगुप्सा=४ कुल २६ आठवेमें.
९ अनिवृत्ति करण	५	पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, सं० मान, सं० माया, सं० लोभ=५.
१० सूक्ष्म साम्पराय	१६	५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अंतराय, यश, उच्च गोत्र=१६.
१३ सयोग केवली	१	सातावेदनीय=१.

कर्मकी कुल प्रकृतियां १४८ हैं, उनमेंसे बंधके कथनमें १२० को गिना गया है, २८ नहीं मानी गई हैं। २८में सम्यक्त मोहनी और मिश्र मोहनीयका तो बंध ही नहीं होता है। वर्णादि २० में मूल ४ को गिना १६ को नहीं, ५ बंधन ५ संघातको, ५ शरीरमें गर्भित किया, १० को नहीं गिना। शेष १२० का संवर किसतरह होता है सो ऊपरके नक्शेसे प्रगट है।

मिथ्यात्व गुणस्थानसे आगे १६ का नहीं। सासादनसे आगे २५ का नहीं। इसतरह सब जान लेना चाहिये। शास्त्रमें पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दशलाक्षणी धर्म, १२ भावना, २२ परीषह जय, व पांच प्रकार चारित्र जो संवरका उपाय कहा गया है सो सब व्रत व निःकषाय भावकी प्राप्तिमें गर्भित हैं।

सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे ही संवरका क्रम शुरू होता है। यह जीव मिथ्यात्वसे पहले पहक चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुण-

स्थानमें जाता है। सम्यक्ती होते ही १६+२५=४१ कर्म प्रकृतियोंका बंध बंद होजाता है, जिनकी बंध व्युच्छिति पहले व दूसरे गुणस्थानमें कही है। इसी तरह जितना जितना कषाय मंद होता जाता है उतना उतना संवर बढ़ता जाता है। कषायकी मंदतासे आगे आगे गुणस्थानोंमें कर्मोंमें स्थिति भी मंद पड़ती है तथा पाप प्रकृतियोंमें फलदान शक्ति भी हीन होती जाती है। संवरका मुख्य उपाय आत्मानुभव है। जब आत्मा आत्मस्थ होता है तब गुणस्थानके जिन कर्म प्रकृतियोंका बंध भी होता है, उनमें बहुत अल्प स्थिति व पापमें बहुत अल्प अनुभाग पड़ता है।

निर्जरा तत्व।

आत्माके प्रदेशोंसे कर्मपुद्गलोंका कर्मपना छोड़कर भिन्न होजाना सो निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकारकी होती है। एक सविपाक निर्जरा, दूसरी अविपाक निर्जरा। कर्मोंका पककर अपने समय पर गिरते जाना सो सविपाक निर्जरा है। यह तो सर्व ही संसारी जीवोंके होती है। इससे संसारका अभाव नहीं होता है। कर्मपुद्गलोंका अपने समयसे पहले तप आदिके द्वारा वीतराग भावके द्वारा झड़ जाना सो अविपाक निर्जरा है। यही परम आवश्यक है। इसका उपाय रत्नत्रय धर्मका आराधन है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्माके गुण हैं। इनके प्रकाशसे पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंकी प्रचुरतासे अविपाक निर्जरा होजाती है। अविपाक निर्जराका उपाय आत्मानुभवसे प्राप्त वीतरागता है।

आत्मानुभव करनेके लिये धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानका अभ्यास

करना चाहिये। धर्मध्यान सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक होता है, उसका प्रारम्भ चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानसे होता है। आठवें गुणस्थानसे लेकर १४ वें तक शुक्लध्यान होता है। इन दोनों ही ध्यानोंमें मुख्यतासे आत्माहीका ध्यान है। धर्मध्यानकी अपेक्षा शुक्लध्यानमें आत्मामें तन्मयता अधिक होती है व कषायकी मंदतासे वीतरागता भी अधिक होती है। वास्तवमें हरएक ध्यानमें सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें थिरताका पाना है। मैं ही आत्मा हूं, अनात्मा नहीं, रागी नहीं, द्वेषी नहीं, मैं द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म रागद्वेषादि, नोकर्म शरीरादिसे भिन्न हूं, मैं शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र वीर्य व आनंदका धनी हूं, इस श्रद्धा व ज्ञानसे थिर होना ही ध्यान है। ध्यानसे ही भवभवके बांधे हुए कर्म क्षण मात्रमें झड़ जाते हैं।

शास्त्रमें कहा है कि तपके द्वारा निर्जरा होती है। वह तप १२ प्रकारका है—उसमें बारहवां तप ध्यान है। ध्यानकी सिद्धिके लिये सहकारी ११ तप हैं। उनमें ६ बाहरी व ५ अंतरंग हैं। ध्यानको लेकर छः अंतरंग कहलाते हैं। वे ये हैं—अनशन—चार प्रकार खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय, आहार त्यागकर उपवास करना। ऊनोदर—भूखसे कम आहार करना। वृत्तिपरिसंख्यान—भोजनको जाते हुए किसी गुप्त प्रतिज्ञाको लेना, पूरी होनेपर आहार करना। रस परित्याग—दुध, दही, घी, तेल, निमक, शक्कर इन छः रसोंमेंसे एक दो आदिका त्याग देना। विविक्त शय्यासन—एकान्त स्थानमें शयन व आसन करना। कायक्लेश—शरीरका सुखियापन मिटानेको कष्ट सहकर भी तप करना। ये छः बाहरी

तप हैं। इनके निमित्तसे ध्यानकी ही सिद्धि करनी है। जहां आत्मध्यानकी प्राप्तिका अभिप्राय न हो वहां ये छः तप तप नामको नहीं पाते और न कर्मकी निर्जरा करते हैं।

प्रायश्चित्त–दोषको दंड लेकर मिटाना। विनय–धर्मकी व धर्मात्माओंकी प्रतिष्ठा करनी। वैय्यावृत्य–धर्मात्माओंकी सेवा करनी। स्वाध्याय–शास्त्रोंका मनन। व्युत्सर्ग–शरीरादिसे ममता त्यागना। ये पांच अंतरंग तप भी ध्यान हीके लिये किये जाते हैं। आत्माके ध्यानसे ही इस जीवको क्षायिक सम्यक्तकी प्राप्ति होती है। जब ४ अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त प्रकृति इन सात कर्मोंका क्षय होजाता है तब यह क्षायिक सम्यक्त पैदा होता है। यह सम्यक्ती मोक्षको शीघ्र ही पालेता है।

क्षायिक सम्यक्ती मनुष्य जो उसी शरीरसे मोक्ष होनेवाला है, उसके नरक, तिर्यंच व देवायुकी सत्ता नहीं होती। वह यदि सातवें व आठवें गुणस्थानमें होगा तो १४८मेंसे ७+३ तीन आयु इन १० की सत्ता न होकर मात्र १३८ की सत्ता होगी। नौमें गुणस्थानमें शुक्लध्यानके प्रभावसे यह साधु १३८ मेंसे ३६ कर्मकी प्रकृतियोंकी सर्व निर्जरा कर डालेगा। नौमें गुणस्थानके ९ भाग हैं, प्रथम भागमें १६ प्रकृतियोंका क्षय करेगा। नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय आदि ४ जाति, स्त्यानगृद्धि आदि तीन, निद्रा, उद्योत, आताप, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर=१६। दूसरे भागमें अप्रत्याख्यानावरण ४ व प्रत्याख्यानावरण ४ इन ८ कषायोंका क्षय करेगा। तीसरे भागमें नपुंसक वेदको, चौथे भागमें स्त्री वेदको,

पांचवें भागमें हास्यादि ६ को, छठे भागमें पुंवेदको, ७ वें भागमें संज्वलन क्रोधको, ८ वें भागमें सं० मानको, नौमें भागमें संज्वलन मायाको। इसतरह नौमें गुणस्थानमें ३६ प्रकृतियोंका क्षय कर लेगा। दसवें सूक्ष्मसाम्परायमें संज्वलन लोभका क्षय होता है। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानमें १६ कर्मोंका क्षय होता है। अर्थात् ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, निद्रा, प्रचला, अंतराय ५=१६।

जब तेरहवें सयोग केवली गुणस्थानमें अरहंत पदवीमें पहुंचता है, तब १४८ प्रकृतिमेंसे ६३ (७+३+३६+१+१६) प्रकृतियोंका क्षय कर चुकता है, मात्र ८५ प्रकृति जली हुई रस्सीके समान चार अघातीय कर्मोंकी ही रह जाती हैं। चौदहवें अयोग गुणस्थानके अंतसमयके पहले द्विचरम समयमें ७२ प्रकृतियोंका व अन्त समयमें १३ कर्म प्रकृतियोंका क्षय कर देता है। वे ७२ प्रकृतियां हैं–५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ संहनन, अंगोपांग ३, वर्णादि २०, शुभ २, स्थिर २, स्वर २, देवगति व आनुपूर्वी २, विहायोगति २, दुर्भग, निर्माण, अयश, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, साता व असातामेंसे एक कोई वेदनीय, नीच गोत्र=७२।

१३ प्रकृतियां हैं–१ कोई वेदनीय, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यश, तीर्थंकर, मनुष्य आयु, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, उच्च गोत्र। इस तरह यह जीव ध्यानके बलसे सब कर्मोंका धीरे२ क्षयकर डालता है। यह सब अविपाक निर्जरा है।

मोक्ष तत्व।

संवरके प्रभावसे और पूर्व बंधे कर्मोंकी पूर्ण निर्जरा होनेसे जब यह जीव सर्व कर्मोंसे छूट जाता है—बंधके कारण योग कषाय भी नहीं रहते, तब यह जीव अपने परम शुद्ध स्वभावमें रह जाता है। मोक्ष वास्तवमें आत्माका अपना ही निज स्वभाव है। मोक्ष प्राप्त जीव ऊर्ध्व गमन स्वभावसे जहां शरीर छोड़ता है उसी स्थानकी सीधपर तीन लोकके ऊपर सिद्ध क्षेत्रमें जाकर पुरुषाकार मात्र चेतना मई ध्यान स्वरूप आकारको लिये हुए विराजमान हो जाता है। वहां अपने स्वाभाविक आनंदका स्वाद लेता रहता है। कर्मबंधका कारण न होनेसे फिर वह कभी भी बंधको प्राप्त नहीं होता है और न वह फिर कभी संसारमें आता है। तत्त्वार्थसारमें अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥७॥
संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥४५॥

भावार्थ—जैसे बीजके जल जानेपर फिर बीजमें अंकुर नहीं उत्पन्न होसक्ता है वैसे कर्मरूपी बीजके जल जानेपर इस जीवके फिर संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है। परम ऋषियोंने यह बताया है कि मोक्षप्राप्त सिद्धोंको उत्कृष्ट, बाधा रहित, अविनाशी इंद्रिय विषयोंसे अतीत स्वाभाविक सुख होता है।

जैसे कीचसे रहित जल, छिलकेसे रहित चावल, मैलसे

रहित सुवर्ण शुद्ध होजाता है, वैसे सर्व कर्म मैलसे रहित आत्मा मोक्षावस्थामें परम शुद्ध होजाता है।

इन सात तत्त्वोंका संक्षेपमें स्वरूप यह है कि यह जीव राग द्वेष मोहके कारण कर्मसे बंधता है। तथा वीतराग विज्ञान या निश्चय रत्नत्रयमई आत्मीक भावके द्वारा कर्मोंसे छूटता है।

पाप तथा पुण्य जगतमें प्रसिद्ध हैं कि पापोंसे दुःख होता है और पुण्यसे सुख होता है। इसलिये किनही जैनाचार्योंने पाप व पुण्यको भी लेकर सात तत्त्वके स्थानमें नौ तत्व–या नौ पदार्थ कहे हैं। वास्तवमें ये पाप तथा पुण्य आस्रव और बंध तत्त्वमें गर्भित हैं।

आठ मूल कर्मोंमें चार घातीय कर्म तथा उनकी ४७ उत्तर प्रकृतियें (ज्ञानावरण ५ + दर्शनावरण ९ + अंतराय ५ + मोहनीय २८=४७) सब पाप ही कहलाती हैं, क्योंकि ये आत्माके स्वभावका घात करती हैं।

अघातीय कर्मोंके शुभ नाम, शुभ आयु, उच्च गोत्र, व साता वेदनीय कर्म पुण्य हैं व अशुभ नाम, अशुभ आयु, नीच गोत्र, असाता वेदनीय कर्म पाप हैं। इनकी १०१ उत्तर प्रकृतियोंमें २० वर्णादिको दो दफे गिननेसे १२१ होजाती हैं, क्योंकि ये वर्णादि शुभ भी होते हैं तथा अशुभ भी होते हैं।

इन १२१ मेंसे नीचे लिखी ६८ प्रकृतियें पुण्यरूप हैं। साता वेदनीय, तिर्यंच आयु, मनुष्य आयु, देव आयु, उच्च गोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, ५ औदारिक शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ३ अंगोपांग, वर्णादि २०, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभ नाराच संहनन, अगुरुलघु,

परघात, उछ्वास, आताप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक-शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश, निर्माण, तीर्थंकर=६८ अड़सठ शेष १२१ मेंसे बचीं (१२१-६८) ५३ प्रकृतियां पापरूप हैं।

१०० पाप प्रकृतियां हैं—नीच गोत्र, असाता वेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरक गत्यायुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, एकेंद्रियादि ४ जाति, न्यग्रोधादि ५ संस्थान, वज्रनाराचादि ५ संहनन, अशुभ वर्णादि २० उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश=५३। इनमें ४७ घातीय कर्मकी प्रकृतियां मिलानेसे १०० प्रकृतियें पापरूप हैं।

इस तरह सात तत्त्व या नौ पदार्थोंका स्वरूप व्यवहारनयसे कहा गया है। इनमें जीव तत्त्व, संवर तत्त्व, निर्जरा तत्त्व और मोक्ष तत्त्व, उपादेय या ग्रहण करने योग्य हैं। शेष अजीव तत्त्व, आस्रव तत्त्व, बंध तत्त्व, तथा पुण्य, पाप त्यागने योग्य हैं। ऐसा मनन एक मोक्षार्थी प्राणीको करना योग्य है।

निश्चयनयसे यदि विचार किया जावेगा तो इन सात तत्त्वोंमें दो ही द्रव्य हैं—जीव और पुद्गल। इन दोनोंके ही संयोगसे ये सात तत्त्व बने हैं। इनमें जीवका निश्चय स्वभाव परम शुद्ध सिद्धसम है। शेष सब रागादि, कर्मादि, शरीरादि पुद्गलका विकार हैं। इनमें पुद्गल त्यागने योग्य है, मात्र अपना एक शुद्ध जीव तत्त्व ही ग्रहण करने योग्य है, ऐसा श्रद्धान करना योग्य है।

जिनवाणीकी भक्तिके द्वारा इन सात तत्त्वोंको व्यवहार और

निश्चयनय दोनोंसे भलेप्रकार जो समझ लेगा उसको सात तत्त्वोंका श्रद्धान होनेसे व्यवहार सम्यग्दर्शन होगा। निश्चय सम्यग्दर्शनके लिये देशनालब्धिमें हमको यह सब ज्ञान प्राप्त करना चाहिये व तत्त्वोंका मनन करते रहना चाहिये।

तत्त्वोंके मननमें उपकारी जैसे देव भक्ति, शास्त्र भक्ति व गुरु भक्ति हैं वैसे ही प्रातःकाल और सायंकाल सामायिक या ध्यानका अभ्यास है। सामायिकके समय भेद विज्ञानका मनन करना चाहिये अर्थात् निश्चय नयसे अपने आत्माको शुद्ध परमात्मरूप ध्याना चाहिये। यही निरन्तर मनन निश्चय सम्यक्तका उपाय है। सामायिकके लिये नीचे लिखी बातों पर लक्ष्य देना चाहिये—

१.–स्थान–निराकुल, क्षोभ रहित, उपवन, मंदिर, जंगल, पर्वत, नदीतट या शून्य घर आदि हो।

२–काल–सूर्योदयसे कुछ पहले प्रातःकाल व सूर्यास्तके कुछ पहले सायंकाल। सामायिकका जघन्य काल तो दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट है परंतु इस अभ्यासीको जितनी देरका समय मिले उतनी देर ही यह सामायिकका अभ्यास करे।

३–संस्तर–सामायिक करनेके लिये कोई चटाई, आसन, पाटा, पाषाण शिला होनी चाहिये। यदि कहीं कोई वस्तु न हो तो शुद्ध भूमि ही पर तिष्ठकर सामायिक करें।

४–आसन–सामायिक करते समय पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन, कायोत्सर्ग आदि कोई न कोई आसनसे बैठना या खड़े होना चाहिये जिससे शरीर स्थिर होजावे। शरीरकी स्थिरतासे मनकी स्थिरता होती है।

५-काय वचन मनकी शुद्धि-शरीर हलका, रोग रहित होना चाहिये। न बहुत भूखा न बहुत भरा हुआ। वचनोंमें सिवाय मंत्र व पाठके और किसीसे बात नहीं करना चाहिये। जितनी देर सामायिक करे मनको निश्चित रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। लौकिक कामोंसे मनको हटा लेना चाहिये।

६-विधि-पूर्व या उत्तर दिशाको खड़ा होकर कायोत्सर्ग आसनसे ९ दफे णमोकार मंत्र मौन सहित पढ़कर उस दिशामें पंचपरमेष्ठीको दंडवत् सहित नमस्कार करे। फिर उसी दिशाकी ओर खड़े होकर तीन दफे या नौ दफे णमोकार मंत्र फिर पढ़कर खड़े२ ही तीन आवर्त व एक शिरोनति करे। अपने जोड़े हुए हाथोंसे अपने बाएंसे दाहने घुमानेको आवर्त और जोड़े हुए हाथों-पर मस्तक नमानेको शिरोनति कहते हैं। एक दिशामें ऐसा करके फिर दाहनी तरफ पलट जावे, उधर भी तीन या नौ दफे णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त व शिरोनति करे। ऐसा ही पलटते हुए शेष दो दिशाओंमें करें। प्रयोजन इसका यह है कि चारों तरफके मुनि, मंदिर, प्रतिमा आदिको नमस्कार कर लिया जावे। फिर आसनसे बैठकर कोई सामायिक पाठ पढ़ें। वह पाठ ऐसा हो जिसका अर्थ समझमें आता हो। फिर णमोकारकी व अन्य मंत्रकी जाप देवे। फिर पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत किसी भी ध्यानका अभ्यास करे। अथवा भेद विज्ञानका विचार करे कि मैं आत्मा भिन्न हूं व रागादि व कर्म व शरीरादि मुझसे भिन्न हैं।

अंतमें फिर खड़ा होजावे और नौदफे णमोकार मंत्र पढ़कर पहलेके समान दंडवत सहित नमस्कार करे। इसतरह देशनालब्धिके

भीतर उस भव्य जीवको जो चाहता है कि मुझे निश्चय सम्यग्द-र्शन प्राप्त हो-देव पूजा, गुरु संगति, शास्त्र स्वाध्याय तथा सामायिक इन चार क्रियाओंका नित्य अभ्यास करना चाहिये। तथा मन इंद्रियोंके दमनके लिये संयमका व लोभको घटानेके लिये दानका अभ्यास भी करना चाहिये। इनमेंसे जिसमें मन अधिक लगे उसमें विशेष समय देना चाहिये। इस तरहके अभ्याससे आयुकर्मके सिवाय सात कर्मोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर थी वह घटते घटते अंतः कोड़ाकोड़ी सागर रह जाती है. ७० वां गुणा घट जाती है। यह सब महिमा भेदविज्ञान द्वारा मनन करनेकी है।

देशनालब्धिसे इस तरहकी दशाको पाकर अब यह प्रायो-ग्यलब्धिमें पहुंचता है। इस समय भावोंकी ऐसी निर्मलता होती है कि ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंमें जो अनुभाग या फलदान-शक्ति पाषाण तथा अस्थिरूप थी उनको घटाकर काष्ट और लता-रूप कर देता है। तथा अघातिया कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंमें जो हालाहल तथा विषके समान घातक अनुभाग था उसको कम करके कांजी व निम्बके सदृश ही रहने देता है। इस लब्धिवाले जीवको आयु कर्म सिवाय सात कर्मोंकी स्थिति अंतः कोड़ाकोड़ी सागरसे अधिककी नहीं बंधती है। तौभी यह जीव हरएक अन्तर्मुहूर्तमें पल्यका असंख्यातवां भाग मात्र स्थिति बन्ध क्रमक्रम करता जाता है। जब ७०० या ८०० सागर कम स्थिति बंध होजाता है तब एक प्रकृति बन्धापसरण होता है। इस तरह फिर पल्यका असं-ख्यातवां भाग प्रमाणमें अंतर्मुहूर्त रह स्थिति घटाता हुआ जब

७०० या ८०० सागर स्थितिबंध कम होता है तब दूसरा प्रकृति बन्धापसरण होता है, इस तरह इस प्रायोग्यलब्धिमें ३४ चौतीस बन्धापसरण होते हैं। ये सब एक अंतर्मुहूर्तमें ही होजाते हैं, क्योंकि अंतर्मुहूर्त असंख्यात प्रकारका होता है। जघन्य एक आवली एक समयका व उत्कृष्ट एक समय कम ४८ मिनटका होता है।

इन ३४ बंधापसरणोंमें ४६ कर्मप्रकृतियां बन्धसे रहित हो जाती हैं।

किस बंधावसरणमें कौनसी प्रकृतिका बन्ध छूटता है।

बंधापसरण नाम प्रकृति

१–(१) नरक आयु।
२–(२) तिर्यंच आयु ।
३–(३) मनुष्य आयु।
४–(४) देवायु।
५–(५) नरकगति, (६) नरकगत्यानुपूर्वी।
६–(७) सुक्ष्म, (८) अपर्याप्त, (९) साधारण।
७–प्रत्येक सूक्ष्म अपर्याप्त सहित।
८–बादर अपर्याप्त साधारण सहित।
९–बादर अपर्याप्त प्रत्येक सहित।
१०–(१०) द्विन्द्रिय जाति अपर्याप्त सहित।
११–(११) तेन्द्रिय अपर्याप्त सहित
१२–(१२) चौन्द्रिय „ „
१३–असैनी पंचेंद्रिय „
१४–सैनी पंचेंद्रिय पर्याप्त

१५–सूक्ष्मपर्याप्त साधारण

१६–सूक्ष्मपर्याप्त प्रत्येक

१७–बादरपर्याप्त साधारण

१८–(१३) आताप, (१४) स्थावर बादर पर्याप्त प्रत्येक (१५) एकेंद्रिय सहित।

१९–द्वेन्द्रिय पर्याप्त

२०–तेन्द्रिय पर्याप्त

२१–चौन्द्रिय पर्याप्त।

२२–असैनी पंचेंद्रिय पर्याप्त।

२३–(१६) तिर्यंचगति, (१७) तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, (१८) उद्योत।

२४–(१९) नीच गोत्र।

२५–(२०) अप्रशस्त विहायोगति, (२१) दुर्भग, (२२) दुस्वर, (२३) अनादेय।

२६–(२४) हुंडक संस्थान, (२५) स्पाटिका संहनन।

२७–(२६) नपुंसक वेद।

२८–(२७) वामन संस्थान, (२८) कीलक संहनन।

२९–(२९) कुब्जक संहनन, (३०) अर्धनाराच संहनन।

३०–(३१) स्त्री वेद।

३१–(३२) स्वाति संस्थान, (३३) नाराच संहनन।

३२–(३४) न्यग्रोध संहनन, (३५) वज्रनाराच संहनन।

३३–(३६) मनुष्यगति, (३७) मनुष्यगत्या० (३८) औदारिक शरीर, (३९) औदारिक अंगो०, (४०) वज्रवृषभ नाराच सं०

३४–(४१) अस्थिर, (४२) अशुभ, (४३) अयश, (४४) अरति, (४५) शोक, (४६) असाता।

इस प्रायोग्यलब्धिमें परिणामोंकी उज्वलता ऐसी अधिक होती है जिससे इन कर्म प्रकृतियोंका बंध रुकजाता है। इस लब्धिका विशेष स्वरूप श्री लब्धिसार ग्रंथसे जानना योग्य है।

भेद ज्ञानके द्वारा अभ्यास करते करते जब आत्म रुचि गाढ़ रूपसे बढ़ती जाती है तब कोई भव्य जीव करण लब्धिको प्राप्त होता है। जिन परिणामोंकी प्राप्तिसे अवश्यमेव एक अंतर्मुहूर्तके भीतर अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्मका उपशम होजावे और प्रथम उपशम सम्यक्त प्राप्त होजावे उन परिणामोंकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते हैं।

इन करणलब्धिके परिणामोंके तीन भाग हैं। अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। इनकी विशुद्धतामें अधिक अधिक कुछ अंतर है। इस करणलब्धिका जितना समय है उसमें परिणाम अनंतगुणा विशुद्ध समय२ होते जाते हैं तथापि इन तीन भेदोंमें एक दूसरेकी अपेक्षा अधिक विशुद्धि है। अधःप्रवृत्तकरणमें इस जातिके भाव विशुद्ध होते हैं कि जिस जीवको इस तरह परिणामोंकी प्राप्ति किये हुए कुछ समय बीत गया है और दूसरा जीव कुछ पीछेसे ऐसे परिणामोंको शुरू करे तो वह पीछेसे शुरू करनेवाला कदाचित् इतनी उन्नति करे कि पहले शुरू करनेवालेके बराबर भी होसके। जैसे किसी जीवने नौ बजे अधःप्रवृत्तकरण शुरू किया और ५ मिनटमें १०० अंश परिणाम विशुद्ध किये। दूसरे किसी जीवने नौ बजके २ मिनट पर इस करणको शुरू

किया तो वह ३ मिनटमें ही १०० अंश परिणाम विशुद्ध करडाले अर्थात् जितनी विशुद्धता एक जीवने ९ मिनटमें प्राप्त की हो उतनी विशुद्धता दूसरा जीव ३ मिनटमें ही करडाले।

अपूर्व करण उन परिणामोंको कहते हैं जो भाव इतने अनुक्रम व अधिक चढ़ते हुए विशुद्ध हों कि पीछेसे इस करणको शुरू करनेवालोंके परिणाम पहले शुरू करनेवालेसे किसी भी तरह समान न हों परन्तु एक साथ शुरू करनेवालोंके परिणाम कदाचित् समान भी हों कदाचित् असमान भी हों।

अनिवृत्तिकरण उन परिणामोंको कहते हैं कि एक समयमें जितने जीव इन परिणामोंको शुरू करेंगे उन सबके परिणामोंकी विशुद्धता समान होगी। सब समान ही उन्नति करेंगे। शरीरादिमें अंतर होनेपर भी परिणामोंमें ज़रा भी अंतर न होगा। इन तीन प्रकारके भावोंसे अवश्य ही सम्यग्दर्शनके बाधक कर्मोंका उपशम होजाता है और उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होजाता है।

सम्यग्दर्शनके होते ही आत्माका अनुभव हो जाता है, आत्मानंदका स्वाद आता है। यहींसे मोक्षमार्गका प्रारम्भ होजाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है। सो यहां सम्यग्दर्शन होते ही तीनोंकी प्राप्ति होजाती है। सम्यग्दर्शनके होते ही स्वानुभूतिको रोकनेवाला ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होजाता है, इससे स्वानुभुति करने योग्य ज्ञान प्रकाशमान होजाता है। उसी समय अनन्तानुबन्धी कषायके दब जानेसे या उपशम होनेसे स्वरूपाचरण चारित्र प्रकाशमान होजाता है इसलिये सम्यग्दर्शनके होते ही मोक्ष मार्गका प्रारम्भ होजाता है।

यह सम्यग्दर्शन जब उपयोगमई होता है तब स्वात्मानुभवरूप होता है। अर्थात् उस समय आत्मा सर्व विचारोंको छोड़कर एक अपने आत्मा हीके सत्य व शुद्ध स्वरूपका स्वाद लेता है।

यह सम्यग्दर्शन भावनिक्षेप स्वरूप है। जब यह अपने आत्मामें उपयुक्त नहीं होता है किन्तु अन्य कार्योंमें उपयोग जोड़ रहा है उस समय सम्यक्त द्रव्य निक्षेपरूप है। सम्यक्तकी व्यक्ति तो है परन्तु उस समय सन्मुखता नहीं है। इसीको द्रव्यनिक्षेप कहते हैं। जैसे कोई वैद्य विद्यासे विज्ञ है परंतु स्नानके कार्यमें उपयोग लगा रहा है तब उस समय वह द्रव्य निक्षेप रूपसे वैद्य है। वैद्यक करते हुए व वैद्य विद्याका मनन करते हुए ही वह भाव निक्षेप रूप वैद्य होता है।

श्री अमृतचंद्र आचार्य समयसार कलशमें कहते हैं—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ॥
सम्यग्दर्शनमेतदेवनियमादात्मा च तावानयम्।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६॥

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे अर्थात् शुद्ध दृष्टिसे देखा जाय तो अपने गुणोंमें व्याप्त व पूर्ण ज्ञानमई तथा अपने एक स्वभावमें निश्चल ऐसे आत्माका सर्व अन्य द्रव्योंसे व अन्य विकारी भावोंसे भिन्न श्रद्धान करना या अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। तथा वह उतना ही बड़ा है जितना बड़ा आत्मा है अर्थात् वह सम्यग्दर्शन आत्मा द्रव्यमें सर्वांग है, इसलिये हमें नवतत्वकी कल्पनाकी आवश्यक्ता नहीं है। हमको तो एक आत्माका ही अनुभव होना चाहिये।

सम्यग्दर्शनके प्रकाश होते ही इस भव्यके जीवनका उद्देश्य बदल जाता है। जो पहले पराधीन संसारिक सुख था वह अब स्वाधीन आत्मसुख होजाता है। पहले इसका मुख संसारकी ओर था, रागद्वेषके जालमें फंसा था। अब इसका मुख मुक्तिकी ओर होजाता है। वीतरागता इसका आभूषण बन जाती है। यह भीतरसे यही निश्चय पूर्वक जानता है कि मेरा सर्वस्व मेरा ही आत्मा है। उसके ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुण ही उसकी सम्पत्ति हैं। इसलिये वह अपने आत्मगुणोंके विलासमें तृप्त रहता है। संसार, शरीर व भोगोंसे अत्यन्त उदास रहता है। वह जानता है कि मेरा सम्बन्ध न तो किसी अन्य आत्मासे है न किसी आकाशादि द्रव्यसे, न पुद्गलके परमाणु मात्रसे है। वह आत्मरसिक होता है। अनात्म रसिकता मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषायके दबनेसे चली जाती है। वह अध्यात्मीक आनन्दका सच्चा प्रेमी व आसक्त होजाता है। उस आनन्दके सामने उसको तीन लोकका लाभ भी तुच्छ दिखता है। सम्यक्ती जीवके भीतर आठ गुण तथा आठ अंग प्रकाशमान होजाते हैं।

सम्यक्तीके आठ गुण।

(१) संवेग—निश्चयसे आत्माके स्वरूपमें परम प्रेम व्यवहारसे धर्मके वर्धक सर्व कार्योंका प्रेम रखना।

(२) निर्वेद—निश्चयसे आत्मामें यह भाव कि परात्मासे उसका कोई सम्बंध नहीं है निर्वेद है। व्यवहारसे संसार शरीर भोगोंसे उदासीन रहना निर्वेद है।

(३) निन्दा—अपने आत्मासे छूटना अपनी निंदा समझना

या अपने औगुणोंको दूसरोंसे कहते रहना जिसमें विद्यमान गुणोंका अभिमान न हो व औगुणोंको मिटानेकी चेष्टा हो ।

(४) गर्हा—अपने आत्मानुभवसे हटना अपनी गर्हा समझना या अपने औगुणोंकी निन्दा अपने मनमें करना जिससे उन्नति करनेका उत्साह हो ।

(५) उपशम—अपने आत्माकी शांतिका प्रकाश रखना निश्चयसे उपशम भाव है । व्यवहारमें क्रोधादि भावोंकी मन्दता रखकर क्षमा मार्दवादि भावोंकी वृद्धिका अभ्यास रखना ।

(६) भक्ति—निश्चयसे अपने ही आत्माकी आराधना करना व्यवहारसे अरहंत सिद्ध साधु वाणी आदि पूज्यनीय पदार्थोंकी आराधना या सेवा करना ।

(७) वात्सल्य—निश्चयसे आत्मप्रेम रखना, व्यवहारसे स्त्री पुरुषोंसे गोवत्सके समान प्रेम रखना व उनकी सेवा करना ।

(८) अनुकम्पा—निश्चयसे अपने आत्मापर दया करके इसको आत्मघातक रागादि भावोंसे बचाना, व्यवहारसे प्राणी मात्र-पर दयाभाव रखकर उनके संकटोंको मिटानेका भाव रखना ।

सम्यग्दृष्टी जीवका सहज स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि उसके भीतर ये आठ गुण विना प्रयत्नके प्रगट रहते हैं । इनके विकाशमें उसे बड़ा उत्साह रहता है । यदि वह किसीको कष्टमें देखता है और वह उसका कष्ट निवारण कर सक्ता है तो वह उद्यम करके ऐसा करे विना चैन नहीं पाता है ।

अन्य अपेक्षासे सम्यक्तीके भीतर आठ अंग होते हैं ।

(१) निःशंकित अंग—व्यवहारनयसे इस अंगका स्वरूप

यह है कि जिन मतके तत्त्वोंमें व देव शास्त्र गुरुके स्वरूपमें किसी तरहकी शंका न रखनी चाहिये । जिन तत्त्वोंकी परीक्षा की जासक्ती है उनकी परीक्षा युक्तिबलसे कर लेनी चाहिये । यदि वे तत्त्व ठीक जांचमें आजावें तो दूसरे जो मात्र जानने योग्य ज्ञेय तत्त्व हैं व जिनकी परीक्षा करना अपनी बुद्धिसे बाहर है उनको सर्वज्ञके परम्परा आगमके वचनों द्वारा विश्वास कर लेना चाहिये। जो मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत तत्त्वोंको यथार्थ कहेगा वह अन्य जाननेयोग्य तत्त्वोंको अयथार्थ कैसे कह सक्ता है । यह भाव दिलमें रखना चाहिये । जैसा कहा है:-

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥५॥

भावार्थ-जिनेन्द्र भगवान कथित तत्त्व अति सूक्ष्म है उसका खंडन हेतुओंके द्वारा नहीं होसक्ता है। उसे आगमप्रमाणसे सिद्ध मानकर ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथा नहीं कह सक्ते हैं ।

आत्मा है व नहीं, पाप व पुण्य है व नहीं, परलोक है व नहीं, वस्तु एकांत है या अनेकांत है, कषाय आत्माके वैरी हैं या नहीं, वीतरागता सार है व नहीं, स्वाधीनता यथार्थ है या नहीं, त्याग भाव हितकारी है व नहीं, आत्मिक सुख सच्चा सुख है या इंद्रिय सुख सच्चा सुख है, पूजने योग्य आदर्श सर्वज्ञ वीतरागता है या नहीं । इत्यादि बातोंका निर्णय बुद्धि द्वारा किया जासक्ता है । इनका निर्णय होजानेपर अन्य ज्ञेय तत्त्व स्वर्ग, नर्क आदि, मेरु पर्वतादि, पूर्व महापुरुष आदि इन सबका निश्चय प्रमाणीक आचा-

योंके आगमके कथन द्वारा कर लेना चाहिये। इस तरह जिनवाणीके तत्त्वोंमें शंका रहित होजाना चाहिये।

दूसरा अर्थ इस अंगका यह है कि भयके उपस्थित होनेपर भी अपनी श्रद्धाको विकारी नहीं बनाता है, निर्भय रहता है। वस्तुके स्वरूपको जानता हुआ सात प्रकारके भय मनमें नहीं लाता है।

१–इस लोकका भय–यदि मैं अमुक धर्म कार्य करूँगा जिसे कोई नहीं करते हैं तो लोग चर्चा करेंगे। इस भयसे कर्तव्य रूप धर्म कार्यसे मुँह मोड़ लेना।

२–परलोक भय–मरकर परलोकमें नरक व पशु गति आदिमें जाऊँगा तो बहुत ही कष्ट पाऊँगा। इसतरह निरंतर ही भयभीत रहना।

३–वेदना भय–शरीरमें रोग होजांयगे तो बड़ा ही कष्ट होगा, ऐसा जानकर मनमें डरते रहना।

४–अरक्षा भय–मेरा कोई रक्षक नहीं दिखाई पड़ता है। मैं किसकी शरण जाऊँ। मेरी रक्षा कैसे होगी। ऐसा विचार कर क्षोभित रहना।

५–अगुप्त भय–मेरा धन किस तरह बचेगा, कहीं चोर आदि चुरा न ले जावें, ऐसा समझकर निरंतर भयभीत रहना। सुखसे रातको निद्रा भी न लेना।

६–मरण भय–मेरा कहीं मरण न होजाय। मरनेपर यह सब सांसारिक सुख छूट जायगा। इस तरह घबड़ाते रहना।

७–अकस्मात भय–कहीं कोई अचानक मकान गिर पड़ेगा तो मैं कुचल जाऊँगा, कहीं नदीमें डूब जाऊँगा तो क्या होगा इस तरह दिलमें डरते रहना।

सम्यग्दृष्टी एक युद्धके सिपाहीके समान होता है जो युद्धमें डरता नहीं, घबड़ाता नहीं, तौ भी अपनी रक्षा तो अवश्य करता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टी इस लोकमें सुयश हो, परलोकमें सुगति, हो, रोग न होजावे, अपनी रक्षा रहे, माल चोरी न चला जावे, मरण अकालमें न हो, कोई अकस्मात् न होजावे, इन बातोंका उचित यत्न तो रखता है परन्तु कायरों व डरपोंकोंकी भांति आकुलित नहीं होता है। यदि कर्मोंके उदयसे रोगादि होजावे व मरण होजावे तो कभी खेदित नहीं होता है। उसको भी शांतिसे सह लेता है और यह जानता है कि मेरे आत्माका कभी कोई बिगाड़ नहीं होसक्ता है। जब निश्चयनयसे इन सात भयोंके स्वरूपको विचार करता है तो यह समझता है कि मेरा लोक व मेरा परलोक मेरा आत्मा है। वही उत्कृष्ट लोक है। जहां लोकालोकके सब पदार्थ अपने गुण पर्यायोंके साथ एक साथ झलकते हैं उससे क्या भय। तथा अपने स्वरूपका अनुभवना यही मेरे वेदना है उससे भी भय व्यर्थ है। मेरे आत्माका स्वरूप सदा सत् अविनाशी है उसमें किसीके रक्षक होनेके जरूरत नहीं है। मेरे आत्माका घन ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य है, जो मेरे साथ सदा ही तादात्म्यरूप है। उसको कोई चुरा ही नहीं सक्ता है। प्राणघातको मरण कहते हैं मेरे आत्माके चेतना प्राणका कभी मरण नहीं होता। मेरेको क्या भय। मेरे आत्माको जो सदा नित्य है व ज्ञानानंद मय है कोई अकस्मात् हो ही नहीं सक्ता। इसलिये मैं सात भयोंसे बिलकुल शून्य हूं। इस तरह सम्यग्दृष्टी निःशांकित अंग पालता है।

(२) निःकांक्षित अङ्ग—सम्यक्तीके अंतरंगमें गाढ़ श्रद्धा है

कि इंद्रिय विषयोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला सुख पराधीन है, बाधा सहित है, नाशवंत है, आकुलताका कारण है, तृष्णा बढ़ानेवाला है, तथा पापबंधका हेतु है; इसलिये वह इन सुखाभासोंकी कदापि वांछा नहीं करता है। वह अतीन्द्रिय आनन्दका रुचिवान है। निश्चयनयसे आत्माका स्वभाव ही वांछा रहित है। वह सदा अतीन्द्रिय सुखमई है। इस प्रकारकी श्रद्धाके कारण सम्यक्ती इस अंगका भले प्रकार पालनेवाला होता है।

(३) निर्विचिकित्सित अंग—सम्यग्दृष्टी वस्तुके स्वरूपको पहचानता हुआ अपनी श्रद्धासे किसी भी पर वस्तुपर राग या द्वेष नहीं करता। इसीलिये दुःखी दलिद्री रोगी मानव पर व मूत्र मल आदि पदार्थोंपर ग्लानिका भाव नहीं लाता है। चारित्र मोहनीयका भेद जो जुगुप्सा नामका नो कषाय है उसके उदयसे यदि ग्लानि होजावे तो उसको भी कर्मोदयका विकार जानता है। निश्चयनयसे समझता है कि जगतमें सर्व द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सर्व अपने २ स्वरूपमें हैं। मैं भी अपने स्वरूपमें हूं। मेरा स्वभाव ही निर्विचिकित्सित है।

(४) अमूढ़ दृष्टि अङ्ग—सम्यक्ती मिथ्यात्वमई मूर्खतावश किसी भी देव, धर्म, व गुरुको जो मोक्षमार्गमें सहकारी नहीं है अपना पूज्य नहीं मानता है। किन्हींकी चमत्कार बतानेवाली बातोंमें नहीं फंसता है। जिन सात तत्वोंको यथार्थ जाना है उनके स्वरूपके सम्बन्धमें कभी भ्रम या मूढ़ता नहीं लाता है। निश्चयसे समझता है कि मेरे आत्मामें पूर्ण यथार्थ ज्ञानका प्रकाश है। यह स्वयं अमूढ़ दृष्टिमई है।

(५) उपगूहन या उपबृंहन अंग–सम्यक्ती गुणग्राही होता है। वह धर्मात्माओंके व औरोंके दोषोंको चुन चुनकर जगतमें ढिंढोरा पीटनेका भाव नहीं करता है। वह समझता है कि कषायके आधीन होकर प्राणीसे दोष बन जाता है। कषायका प्रगट होना अंतरंग रोगका प्रकट होना है। रोगी दयाका पात्र है। इसलिये वह ज्ञानी दया भावसे दोष प्राप्तको समझा करके व अन्य प्रकारसे उसको दोषसे छुड़ाता है। वह यह जानता है कि मुझसे भी वार वार ऐसे दोष होगए होंगे व भावी कालमें भी तीव्र कर्मोदयसे होसक्ते हैं। इससे किसीकी निन्दा करनी उचित नहीं है। वह ज्ञानी अपने गुणोंके बढ़ानेकी निरंतर चेष्टा किया करता है। अपनेमें रत्नत्रयकी वृद्धिको परम लाभ समझता है। निश्चयनयसे समझता है कि मेरा स्वभाव ही उपगूहन या उपबृंहण स्वरूप है। मैं सदा शुद्ध गुणग्राम हूं। मेरेमें कोई दोषका अवकाश नहीं है। मेरे गुण सदा ही वृद्धिरूप हैं। वे न कभी कमते हैं न बढ़ते हैं।

(६) स्थितिकरण अंग–मन बहुत ही चंचल है। यह उत्तम कामोंसे सदा पीछे रहना चाहता है। आत्मोन्नतिके मार्गसे चलते२ सरक जाता है। जब कभी मनमें शिथिलता मालूम पड़े तब उसको समझाकर फिर धर्म साधनमें स्थिर करना तथा दूसरे जीवोंको जो धर्मसाधनमें शिथिल पाए जाते हों उनको उपदेश देकर या अन्य प्रकारसे उनके परिणामोंकी स्थिरता करके धर्मसाधनमें जोड़ देना स्थितिकरण अंग है। निश्चयनयसे स्थितिकरण आत्माका स्वभाव है। यह सदा अपने स्वभावमें स्थिति रखता है, कभी अपने स्वभावसे विचालित नहीं होता। अपने आत्माका

थिरतापूर्वक अनुभव करना वास्तवमें स्थितिकरण अंग है।

(७) वात्सल्य अंग—व्यवहारमें सर्व साधर्मी भाई व बहि-नोंसे ऐसा प्रेम रखना चाहिये जैसा गाय अपने बछड़ेके साथ रखती है। अपने साधर्मी जीवोंपर कोई आपत्ति पड़े तो उसको अपने ऊपर पड़ी है ऐसा समझकर उसको निवारण करना चाहिये। निश्चयनयसे अपने शुद्ध आत्मीक गुणोंसे प्रेमालु रहना। उसके प्रेममें आसक्त रहना वात्सल्य अंग है।

(८) प्रभावना अंग—व्यवहारमें जैनधर्मका महत्व जगतके प्राणियोंके भीतर जमा करके उनको धर्म ग्रहण कराकर मोक्षमार्गी बनाना प्रभावना है। श्री तीर्थंकरोंका ही यथार्थ मार्ग होता है। पुस्तकों व व्याख्यानोंके द्वारा जगतभरमें प्रकाश करना व उनके कहे हुए अनेकांतमई व सर्वांग पूर्ण तत्त्वोंको एकांत रूप व एकांत तत्त्वोंसे मिलान करते हुए उनका महत्व प्रमाणित करना प्रभावना है। जगतके जीवोंका चित्त सम्यक्धर्मके श्रवणपर आकर्षण करनेके लिये बाहरी धर्मके उत्सव रथोत्सव आदि करना भी प्रभावना है। निश्चयनयसे अपने आत्माको प्रकाश करना प्रभावना है। सम्यक्ती जीव अपनी श्रद्धाको दृढ़ रखनेके लिये इन आठ अँगोंका पालन करता है।

शास्त्रोंमें ऐसा लिखा है कि सम्यक्ती २५ दोषोंको बचाता है। उनका भाव यह है कि ऊपर लिखित आठ निःशंकितादि अंगोंके विरोधी आठ शंकादि दोष हैं इनको बचाता है, इनके सिवाय आठ मद, तीन मूढ़ता, छः अनायतनसे बचता है।

आठ मदका स्वरूप ।

सामान्य रूपसे संसारी मानवोंके भीतर आठ प्रकारके मद पैदा होजाते हैं । मानकषायके उदयसे अहंकार व ममकारकी बुद्धि होनेसे एक तरहका नशा चढ़ जाता है । जिससे वे अपने सामने दूसरोंको तुच्छ व नीची दृष्टिसे देखते हैं । ज्ञानी सम्यग्दृष्टीके भीतर इन मदोंका होना दोषयुक्त है ।

१.–कुलमद–अपने कुलका, पिताके पक्षका, परपिता आदिके बड़प्पनका ध्यान करके यह अभिमान होना कि हम ऐसे प्रसिद्ध पुरुषोंकी संतान हैं, हम बहुत बड़े हैं । इस कुलमदमें पड़कर उनके आत्मोन्नतिकारक कार्योंकी नकल करनेकी तरफ तो ध्यान न देना, किन्तु जैसा वे नामवरी आदिके लिये पैसा खर्चते थे वैसा आप शक्ति न होते हुए भी करने लगना । अपनी शक्ति अनुसार खर्च करनेकी शिक्षा मिलनेपर भी ध्यान न देना व कम खरचना अपने कुल मदका तिरस्कार समझना, इत्यादि भावोंमें उलझना तथा यदि उससे बड़े किन्हीं विषय कषायोंमें फँसे तो उन हीमें आप भी लग जाना, बुरी आदतोंकी नकल करना, तब यदि कोई टोके तो उसको कहना कि हमारे कुलमें ऐसा होता आया है । इस तरह कुलमदसे यह अज्ञानी अपना अकल्याण कर लेता है । ज्ञानी विचारता है कि मेरा कुल तो सिद्धोंका है, मेरा स्वभाव सिद्धोंके समान है, इसलिये जबतक मैं अपने कुलमें न पहुंचूं तबतक मैं हीन हूं–अप्रतिष्ठित हूं, मुझे इस क्षणिक व परिवर्तन शील इस कुलका किंचित् भी अहंकार न करना चाहिये ।

२-जाति मद-अपनी माताके पक्षका अहंकार करना जाति मद है। मेरे मामा ऐसे हैं, मेरे नाना ऐसे हैं, मेरे नानाका बड़ा ही ऊँचा खानदान है, इसी अहंकारके वशीभूत हो दूसरोंको नीची दृष्टिसे देखना व आप उन्मत्त हो अधिक व्यर्थव्यय करना व नामवरीके लिये ऐसे मदोन्मत्त हो जाना कि धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थोंका भी नाश कर देना। यह जाति मद भी वृथा ही मानके पर्वतपर आरूढ़ कर देता है। ज्ञानी इस मदको नहीं करता है। वह यह विचारता है कि मेरी जाति तो चेतनामई है। मैं जबतक ज्ञान चेतनामई पर्यायको न पहुंचूं तबतक मेरा कोई भी बड़प्पन नहीं है। कर्म चेतना व कर्म फल चेतनामें रहना ही मेरा छोटापन है।

३-धनमद-अज्ञानी अपनी सम्पत्तिको देखकर यह अभिमान कर लेता है कि मेरे सामने जितने धनहीन हैं वे सब तुच्छ व आलसी हैं। मैं बड़ा पुरुषार्थी हूं। मैंने अपनी बुद्धिसे बहुतसा धन संचय किया है। धनका मोही होकर अज्ञानी अधिक २ धन बढ़ानेका व एक पाई कम न होनेका सदा चिंतावान रहता है। धर्म व परोपकारमें धनको नहीं लगाता है। तीव्र लोभके वशीभूत हो तीव्र पापका बंध किया करता है। ज्ञानी अपना धन अपने अविनाशी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वाभाविक गुणोंको समझता है। इस धनकी अप्राप्तिमें अपना हीनपना जानता है। तथा यह भावना भाता है कि कब वह दिन आवेगा जब मैं अपनी निज संपत्तिका सदाके लिये स्वामी बन जाऊंगा। ज्ञानी इस भौतिक संपत्तिको पुण्योदयके आधीन समझता है व जबतक स्वामीपना है

तबतक इस धनको आवश्यक धर्मकार्य व परोपकारमें लगाकर सफल करनेका सदा उद्यम रखता है।

४—अधिकार मद—अज्ञानी राज्यसे व पंचायतसे व जनतासे किसी लौकिक अधिकारको पाकर अहंकारमें भर जाता है व निर्बलोंकी तरफ कठोर दृष्टि करके उनको सताकर भी अपना मतलब निकालता है। परके कष्टोंकी परवाह नहीं रखता है। ज्ञानी समझता है कि मेरा अधिकार वास्तवमें तभी होसक्ता है जब मैं आत्मिक स्वाधीनता प्राप्त करलूं, जब मैं शिवपुरीका स्वामी होजाऊं। जबतक यह अधिकार प्राप्त नहीं है तबतक मैं अति तुच्छ हूं। मुझे उन कर्मबंधनोंकी बेड़ीको काट देना चाहिये जो मुझे मेरे स्वाधीन अधिकारके भोगसे वंचित रख रहे हैं।

५—रूपमद—अपना शरीर सुन्दर देखकर अज्ञानी अहंकारके वशीभूत हो अपनेसे कम रूपवालोंको बड़ी तुच्छ दृष्टिसे देखता व जो बराबरका व अधिक रूपधारी होता है उससे मनमें ईर्षा भाव रखता है। उसके रूपका विनाश व अपने रूपका बढ़ाव चाहता है। सुन्दरताके बनाए रखनेको वस्त्रा-भूषणोंसे अपनेको शृँगारित करता है। अधिक पैसा व्यर्थ शोभाके बनानेमें व अधिक जीवनका समय इसी सार सम्हालमें खो देता है। ज्ञानी इस शरीरके रूपको क्षणभंगुर जानकर इसका कुछ भी मद नहीं करता है। वह समझता है कि मेरा रूप तो परम निष्कम्प आत्माका अनुपम स्वभाव है जो परम स्वच्छ, परम आनंदमय व परम वीतराग है। यही मेरा सच्चारूप है। जिनके आत्माओंमें यह रूप यथार्थ प्रकाशमान होजाता है उनके रूपका झलकाव उनके भौतिक शरीरपर ऐसा

पड़ता है कि दर्शन करनेको बड़े २ इन्द्रादिक व चक्रवर्ती आदिक आते हैं। जबतक अपना ऐसा आत्मस्वरूप प्राप्त न हो तबतक मुझे उसके विरोधी कर्मका दमन करना चाहिये और जबतक इस शरीरका सम्बन्ध है तबतक इसे स्वास्थ्ययुक्त रखकर इससे तप व ध्यान करके अपना स्वरूप झलकाना चाहिये।

७-बलमद-शारीरिक बलको देखकर अज्ञानी ऐसा अहंकार कर लेता है कि मैं बड़ा बलवान हूं। मैं निर्बलोंका तिरस्कार कर सक्ता हूं। वह अपने बलके प्रभावसे अपना अनुचित स्वार्थ साधन करने लग जाता है। उसका मन कठोर होजाता है। वह अपने आधीन नरनारियोंके कष्टोंकी ओरसे वेपरवाह होजाता है। ज्ञानी विचारता है कि मेरे आत्माका बल अनंत वीर्य है। जबतक यह प्रकाशित नहीं तबतक मैं निर्बल हूं। मुझे अंतराय कर्मके क्षयका पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे मैं अपने स्वभावको प्राप्त करलूं। जबतक यह शारीरिक बल है तबतक मेरा कर्तव्य है कि इससे असहाय, असमर्थ, दीन, दुःखी व रोगी जनसमाजकी सेवा करूँ।

७-विद्यामद-व्याकरण, न्याय, साहित्य, धर्म व शस्त्र आदि विद्याओंमें पारंगत होनेपर अल्पविद्यावालोंको तुच्छ भावसे देखना व अपनेको ऊँचा मानकर गर्व करना, दूसरोंका तिरस्कार करना विद्यामद है। विद्याके घमंडमें आकर कुवाद करना, सत्य-पक्षको भी विद्याकी चतुरतासे खंडन करनेका दुराग्रह करना, सत्यके ग्रहणमें अन्ध रहना, विद्यामदका प्रभाव है। यह मद सम्यक्तीको नहीं होता है। उसने तो सहज ज्ञानको अपना स्वभाव जाना है। जहांतक पूर्ण ज्ञानका विकाश न हो वहांतक वह अप-

नेको अल्पज्ञानी समझता है। शास्त्र ज्ञानको पराधीन जानता है जो कि पुस्तकोंको मनन करते हुए रहता है। यदि पुस्तकावलोकन छोड़ दिया जावे तो यह ज्ञान विस्मरण होजाता है। ज्ञानी ज्ञानके प्रतापसे विनय गुणको प्राप्त करता है और सर्वके हितसाधनमें भावना भाता हुआ विद्या द्वारा परका उपकार यथाशक्ति करता रहता है।

८-तपमद-बहुधा मिथ्यात्वके कारण तप करनेवालोंको अपने तपका घमण्ड होजाया करता है कि जिससे वे अपनेको ऊँचा व दूसरोंको नीचा देखते हैं। उपवास, व्रत, रसत्याग, रूक्ष नीरस आहार आदि करते हुए अपने धर्मसाधनका बड़ा गर्व करते हैं। ज्ञानी विचारते हैं कि यह मेरा तप उसी समय सार्थक होगा। जब मैं कर्म शत्रुओंको नाश कर डालूँगा और परमात्मपद प्राप्त कर लूँगा। तथा तप तो इसीलिये किया जाता है कि मान आदि कषायोंका क्षय किया जावे। फिर तप करके यदि मैं मान करता हूं तो वृथा ही तपको खोता हूं। ज्ञानी तप करते हुए साम्यभावमें रहनेका नित्य उद्यम करता है।

अविरत सम्यग्दृष्टीके अनंतानुबंधी कषायका उदय नहीं है इससे उसके न तो ऐसा भय होता है जो श्रद्धानसे विचलित कर दे, न ऐसा मद होता है जो वस्तु स्वरूपकी प्रतीतिको बिगाड़ दे। अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायका उदय जबतक विद्यमान है तबतक भय व मानकी कालिमा उदय होआती है, उसको वह ज्ञानी चारित्र मोहका विकार मानता है और तत्वज्ञानके प्रतापसे उस विकारको मेटनेका उद्यम करता है। कभी२ अविरत सम्यग्दृष्टीका कोई अन्याय पूर्वक घोर अपमान करे तो वह उसे सहन नहीं

करके उसका ऐसा उपाय करता है, जिससे वह व्यक्ति अपने अन्यायको छोड़दे। और उसकी आत्मा पवित्र होजावे। ऐसा करुणाभाव भी सम्यक्तीकी आत्मामें जागृत होजाता है।

सम्यक्ती यदि श्रावक होजावे तो प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय भोगना होगा। यदि वही साधु होजावे तो संज्वलन कषायका व्यक्त उदय प्रमत्त विरत गुणस्थानमें भोगना होगा। जितना२ कषायका उदय घटता जायगा उतना उतना सम्यक्ती आत्मिक गुणोंको निर्मल करता जायगा। तथापि हरएक सम्यक्ती तत्वज्ञानके बलसे हरएक कषायके उदयको जीतनेका प्रयत्न करता रहता है। यदि असमर्थताके कारण जीत न सके तौ भी श्रद्धानमें उसको कर्मका उदय मानता है, आत्माका स्वभाव नहीं जानता है। गृहस्थ सम्यक्तीको बहुतसे प्रसंग आजाते हैं जिनसे उसकी व्यवहार प्रवृत्ति मिथ्यादृष्टीके समान दिखती है। उसके क्रोधयुक्त वचन निकलते हैं। वह मानका भाव भी दिखलाता है। रागभाव भी स्त्री आदिका हो जाता है। कभी २ उसको अपनी कषायकी पुष्टिके लिये युद्ध आदि भी करना पड़ता है, तौभी उसका श्रद्धान अटल रहता है। वह इस चारित्र मोहके कार्यको कर्मके उदयका विकार समझता है और भावना भाता है कि कब वह समय आवे जो यह विकार दूर हो।

तीन मूढ़ताका स्वरूप।

यद्यपि अमूढ़ दृष्टि अंगमें तीनों मूढ़ताका अभाव होता ही है तथापि साधकको विशेष स्पष्ट करनेके लिये तीन मूढ़ताओंका

पृथक् नाम ले दिया गया है। कृपालु आचार्यकी यह भावना है कि साधकके मनमें कोई दोष न रहे।

लोकमूढ़ता—अज्ञानी लोकोंकी देखादेखी किसी भी क्रियाको, जो आत्मधर्मके विकाशमें या स्मरणमें सहकारी नहीं है, धर्म क्रिया मानकर उसको आचरण करने लगना लोकमूढ़ता है। जैसे यह समझना कि गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्बदा आदि नदियोंमें व सागरमें स्नान करनेसे पाप कट जायगा व महान पुण्यका लाभ होगा; अग्निमें पतिके साथ जल जानेसे पतिव्रत धर्म होगा, पर्वतसे गिरकर मरनेसे शुभ गति होगी, दीपकको नमन करनेसे द्रव्यका लाभ होगा, थैलीकी पूजा करनेसे थैली रुपयोंसे भरी रहेगी, दावात कलम पूजनेसे खूब व्यापार चलेगा। इत्यादि मूढ़तासे मानी हुई बातोंका सम्यक्ती विश्वास नहीं करता है। वह ज्ञानी इस लोकमूढ़ताके दोषसे अपनेको बुद्धिपूर्वक बचाता है।

देवमूढ़ता—रागद्वेषसे मैले व वीतरागता वर्जित देवोंका इसलिये पूजन करना कि इनकी भक्तिसे धन मिल जायगा, पुत्र निरोग हो जायगा, जगतमें सुयश फैलेगा, स्वर्गादिकी प्राप्ति होगी देवमूढ़ता है। सम्यक्ती ज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग देवको ही देव जानता है क्योंकि वे ही संसारसे अतीत हैं तथा वह यह समझता है कि उनकी भक्तिसे परिणामोंमें उज्वलता होगी, आत्माकी तरफ उपयोग जायगा व यह आत्मा पाप मैलसे अपने उन परिणामोंके द्वारा शुद्ध हो सकेगा। जब वह वीतराग सर्वज्ञ देवकी भी उपासना किसी संसारीक प्रयोजनकी सिद्धिके लिये नहीं करता है तब वह रागीद्वेषी देवोंकी उपासना किस लिये करेगा?

बहुधा जैन लोग मूढ़तासे चक्रेश्वरी देवी, पद्मावती देवी, क्षेत्रपाल आदि देवोंकी भक्ति करते हैं। उनकी बड़ी भारी मान्यता करते हैं। भाव यही होता है कि ये देवता हमारा कुछ काम निकाल देंगे, हमें धनादि प्राप्त करा देंगे सो यह बड़ी भारी देवमूढ़ता है। ये रागी देव देवी अपने२ विषयोंके लिये अनुरक्त रहा करते हैं। ये इस बातको नहीं देखते हैं कि अमुक हमारा भक्त है इसका भला करना चाहिये। इन देवोंमें कोई कोई ही सम्यक्ती होते हैं परन्तु उनमें चारित्र हो नहीं सक्ता है; क्योंकि वे अविरति भावको नहीं हटा सके हैं। सम्यक्तीको इस बातका पूर्ण श्रद्धान है कि मेरा लौकिक भला या बुरा मेरे पुण्य या पापकर्मके उदयसे होगा। बाहरी पुरुषार्थ मुझे वही करना चाहिये जिससे श्रद्धानमें अन्तर न पड़े इसलिये वह न्यायपूर्वक आजीविका, योग्य औषधि आदिका उपाय करता है तथा पापोंके शमनके लिये वह ज्ञानी वीतराग सर्वज्ञ देवकी भक्ति करता है जिनकी भक्तिसे कषाय घट जाती है, पाप पुण्यमें बदल जाता है व पापका रस कमती होजाता है व पुण्यका रस बढ़ जाता है।

कभी कभी कोई सम्यक्ती गृहस्थ मंत्रोंका प्रयोग उसी तरह करता है जैसे औषधिका उपाय करता है। मंत्रोंके द्वारा भी बाहरी निमित्त मिलाता है। किन ही मंत्रोंके शब्दोंमें ही ऐसा असर होता है जिनसे सर्प विष, विच्छूका विष व अन्य रोग आदि मिट जाते हैं। कोई२ मंत्र ऐसे भी होते हैं जिनमें व्यंतर आदि देवोंको वश किया जाता है। यदि सम्यक्ती कदाचित् ऐसे मंत्रोंको भी सिद्ध करे तो वह किसी देवको वश करके उसीतरह उसके साथ व्यवहार करता है

जैसे लौकिकमें किसी नौकरको व किसी सामर्थ्यवान मानवको वश कर लिया जावे तथा उससे काम निकाला जावे। वह देव या देवीको वश करके अपना चाकर बना लेता है और किन्हीं कामोंको जो वे कर सके हैं उनसे कराता है। वह उनको पूज्य मानके कभी नमनादि नहीं करता है। यदि कोई देवी या देव प्रत्यक्ष आजावें तो वह उनका उसी तरह आदर करता है जैसे किसी आगन्तुक अतिथि या मित्रका सत्कार किया जावे। जो देवी या देवता जैन धर्मके विशेष भक्त हैं व जिनेन्द्रकी सेवामें अधिक दत्तचित्त रहते हैं जैसे—सौधर्म स्वर्गका इन्द्र और इन्द्राणी; यदि वे प्रत्यक्षमें आवें तो वह उनका विशेष आदर इसी दृष्टिसे करता है कि ये साधर्मी जीव हैं। वह तो मात्र धर्मकी ही प्रतिष्ठा करता है व साधारण विनय करके उन देवी व देवताओंके श्रद्धानको और दृढ़ कर देता है कि जिनेन्द्रकी भक्ति ही कल्याण करनेवाली है।

यदि कोई जिनशासनके प्रभावको बढ़ानेवाले देवी देवताओंकी अर्चा बिना किसी लौकिक आशाके भी मात्र धर्मात्मा जानके इतनी अधिक करता है जैसी भक्ति श्री जिनेन्द्रकी होती है, जिनेन्द्रकी भक्तिके समान उनको नमस्कार करता है, उनको अष्टद्रव्य चढ़ाता है तो वह भी देवमूढ़ता ही करता है। क्योंकि उसने नीचेके पदमें रहनेवाले मामूली व्यवहारसम्यक्तके कार्यको देखकर उनकी भक्ति उनके पदसे बहुत अधिक की है जो कि होनी उचित नहीं है। यथायोग्य विनय करना ही मूढ़ता रहित पना है। मर्यादासे अधिक किसीको पूजना या मानना देव मूढ़ता है। सम्यक्ती सर्व देव, मानव, पशु आदि जितने भी जिनेन्द्र भक्त हैं

उनके साथ वात्सल्यभाव रखता है, उनके साथ गाढ़ धर्म-प्रेम रखता है, परंतु उनको पूज्य मानके आप उनका पुजारी नहीं बनता है। ऐसा करना श्रद्धानको मलीन या दोषी बना देना है। सम्यक्ती निःशंक होकर वीतराग सर्वज्ञ देवकी ही भक्ति करता है। उनके ही चरणोंको मस्तक नमाता है। बहुधा धर्मात्मा गृहस्थोंकी धर्ममें गाढ़ रुचि देखकर धर्मभक्त देवगण स्वयं आकर सम्मान करते हैं व कभी२ कष्टमें गृसित मुनि या गृहस्थोंकी सहायता करनेको वे स्वयं आते हैं और धर्मसेवा करके पुण्य कमाते हैं। वे इसलिये धर्मात्माका कष्ट निवारण नहीं करते हैं कि यह हमको मानेगा व हमको पूजेगा। वे मात्र धर्मके प्रेमवश धर्मात्माओंकी सेवा करके अपने आत्माको उज्वल करते हैं।

आजकल बहुधा जिन मंदिरोंमें क्षेत्रपालकी स्थापना सिंदुर सहित वेढंग रूपमें व पद्मावतीकी मूर्ति श्री पार्श्वनाथ मस्तकपर धरे हुए मिलती है। ये सब देवमूढ़ताका प्रताप है। इस मूढ़ताके वशीभूत होकर पद्मावतीकी पूजा अरहंतके साथ२ की जाती है व इसी तरह क्षेत्रपालकी पूजा करते हैं। प्रायः पूजक गण लौकिक फलकी ही कामनासे ऐसी पूजा करते हैं जिससे वे सम्यक्तको मलीन करते हुए देवमूढ़ताके उपासक बनते हैं।

इनकी स्थापनाका फल यह होता है कि साधारण जैनी तरह२ की मान्यता करके इनकी बड़ी ही भक्ति करते हैं। उनके दिलमें निश्चय सम्यक्तकी प्रातिका अंतराय दृढ़ होता जाता है। मंदिर समवशरणकी नकल है, इस दृष्टिसे वेदीके द्वारपर, मंदिरके द्वारपर देवेन्द्रोंके चित्र सुंदराकार भक्ति करते हुए मात्र रचे जावें तो

कोई हर्ज नहीं है परन्तु वे इसलिये नहीं कि उनकी भक्ति व पूजा की जावे। किन्तु मात्र इस भावसे रचे जासके हैं कि श्रीजिनेंद्रकी भक्ति इन्द्रादि देव कर रहे हैं।

प्रयोजन यह है कि सम्यक्दृष्टी जीव आत्मभावनाकी दृष्टिसे वीतराग सर्वज्ञ भगवानको ही देवत्वकी बुद्धिसे आराधना करता है–रागी द्वेषी देवोंकी आराधना नहीं करता है।

(२) गुरुमूढता–सम्यग्दृष्टी निर्ग्रंथ, परिग्रह व आरंभ रहित, व ज्ञान ध्यान तपमें लीन आत्मोन्नतिकारक परम वैरागी साधुको ही गुरु मानता है, इनके सिवाय परिग्रह व आरंभमें वर्त-नेवाले, हिंसाकी रक्षासे रहित, संसारकी परिपाटीको चलाने वाले, रागी द्वेषी साधु नामधारीका कोई मंत्र यंत्र आदिका चमत्कार देखकर कभी उनको मानकर भक्ति नहीं करता है। वह मात्र शुद्ध आत्माकी भावनाका इच्छुक है। इसलिये जिनके उपदेशसे व संगतिसे आत्मलाभ हो व यथार्थ तत्वज्ञान हो व सच्चा वैराग्य हो उन हीकी संगति व भक्ति करता है। धनादिके व अन्य कोई लौकिक प्रयोजनवश किसी सग्रंथ साधुको गुरु मानके नहीं पूजता है। यदि कोई अन्य मूढ़ जनताकी देखादेखी गुरुपनेके गुणोंसे शून्य किसी साधुको गुरु मानने लग जायगा तो वह गुरुमूढ़ताके दोषका भागी होगा।

वास्तवमें अमूढ़ दृष्टि अंगकी रक्षाके हेतु ही इन तीन मूढ़-ताओंका विस्तार किया गया है जिससे साधकका व्यवहार सम्यक्त भावको मलीन करनेवाला न हो।

छः अनायतन–संगति।

धर्मका लाभ जिनसे न हो उनको अनायतन कहते हैं वे छः हैं:–१–कुदेव, २–कुगुरु, ३–कुधर्म या कुशास्त्र, ४–कुदेव सेवक, ५–कुगुरु सेवक, ६–कुधर्म सेवक। सच्चे श्रद्धानकी रक्षाके हेतु सम्यक्ती जीव रागी द्वेषी देवोंकी जहां स्थापना है उन मूर्तियोंकी संगतिमें नहीं बैठेगा क्योंकि वहां मोक्षमार्गसे विपरीत संगति है। उस संगतिसे आत्माके चिन्तवनमें बाधा पड़ेगी इसलिये अज्ञानी लोगोंके माने हुए नानारूप राग द्वेष वर्द्धक देवोंकी मूर्तियोंकी संगति नहीं करेगा। अर्थात् उनकी भक्तिमें शामिल नहीं होगा। उनसे माध्यस्थभाव रक्खेगा। राग द्वेष नहीं करेगा। जिसतरह हो अपने श्रद्धानको मलीन न होने देगा न किसीका मन दुःखित करेगा न किसी अन्य देवसे या उसकी स्थापनासे द्वेष करेगा; स्वयं अपने समय व शक्तिको उस देवत्व शून्य देवकी संगतिमें नहीं लगाएगा। जो सच्चे मोक्षमार्गी साधु नहीं हैं उनकी संगति भी नहीं करेगा क्योंकि ऐसी संगति परिणामोंको संसारमार्गमें लेजानेको निमित्त पड़ेगी। क्योंकि यह प्रसिद्ध बात है कि सुसंगतिसे लाभ व कुसंगतिसे अलाभ होता है। इसी तरह जो धर्मक्रिया नहीं है परंतु धर्मक्रिया मानी जाती है व जो शास्त्र मोक्षमार्गके यथार्थ प्ररूपक नहीं हैं उनकी संगति भी नहीं करेगा।

जो कुदेवोंके भक्त हैं व कुगुरुओंके भक्त हैं व कुधर्मके भक्त हैं उनकी संगति भी इसप्रकार न करेगा जिससे अपने श्रद्धानमें अंतर पड़ जावे। जगतमें व्यवहार करते हुए, लेनदेन करते हुए,

लौकिक मित्रता रखते हुए वह सम्यक्ती मनुष्य मात्रसे प्रेम व हित रक्खेगा। परंतु वह प्रेम इतने अंश ही करेगा जितने अंशसे अपने सच्चे तत्त्वके श्रद्धानमें व अपने धर्माचरणमें वाधा न आवे। उनके मोहमें मोहित होकर अपने नित्यके धर्मसाधनको नहीं त्याग देगा।

सम्यक्ती गाढ़ प्रेम व गाढ़ संगति उनही साधनोंसे व उनही मानवोंसे करता है जिनसे उसके मोक्षसाधनमें बाधा न हो, प्रत्युत कुछ सहायता मिले। संगतिका प्रयोजन ही अपने चारित्रकी उन्नतिमें प्रेरकपना प्राप्त करना है। अतएव जिनसे श्रद्धान व ज्ञान व चारित्रके साधनमें उज्वलता रहे व परिणाम चढ़ते जावें ऐसी संगतिका सम्यक्ती आदर करता है तथा जिस प्रकारकी संगतिसे श्रद्धानादिमें बाधा पड़े उस तरहकी संगतिसे बचता है।

सम्यक्तीका हार्दिक प्रेम मात्र निज आत्माके शुद्ध स्वभावसे है अतएव इस प्रेममें जिस संगतिसे बाधा पड़े उसको बचाता रहता है। गृहस्थमें रहते हुए व जगसे व्यवहार करते हुए वह सर्व प्रकारके जनोंसे मिलता है परंतु अपना श्रद्धान जिसमें विगड़े ऐसी संगति व ऐसे वर्तावसे वचा रहता है। लौकिक व्यवहारमें व एकतामें इससे कोई हानि नहीं उठाता है। यदि भिन्न२ धर्मोंके धार्मिक उत्सव हों और ऐसा लौकिक चलन हो कि एक दूसरेके जलसेमें शरीक हो तो वह इस व्यवहारका निरादर नहीं करेगा। जैसे दूसरे उसके माने हुए उत्सवोंमें आएंगे वैसा यह भी दूसरोंके धार्मिक उत्सवोंमें जायगा। मात्र वहां वह क्रिया नहीं करेगा जो अपनी श्रद्धाके प्रतिकूल होगी। यदि किसी रागी देवी देवकी उपासना व भक्ति होरही है तो वह स्वयं उनकी भक्ति व पूजा

नहीं करेगा। माध्यस्थभावसे देखता रहेगा। यदि लेनदेनका व्यवहार हो तो वह लेनदेन मात्र व्यवहाररूप करेगा। इसी हेतुसे कि परस्पर एकता बनी रहे, अप्रेम व द्वेष न होजावे।

जैसे चतुर सिपाही युद्धस्थलमें जाकर अपनी रक्षा करता हुआ वर्तन करता है इसी तरह चतुर सम्यक्ती अपने श्रद्धानकी दृढ़तासे रक्षा करता हुआ संसार–युद्धमें व्यवहार करता है। वह इन छः अनायतनोंसे गाढ़ मित्रता नहीं करता है। यदि किसी जैनको पानी छाननेका नियम है, रात्रिको भोजन न करनेका नियम है, मादक वस्तु न खानेका नियम है, द्यूत रमण न करनेका नियम है तो वह इन अनायतनोंकी ऐसी संगति न करेगा जिससे अनछना पानी पीने लग जावे, रात्रिको भोजन करना पड़े, द्यूत रमण करना पड़े, मादक वस्तु खानी पड़े। आचार्योंने सम्यक्तकी रक्षाके हेतुसे ही साधकको बाहरी उपाय बताए हैं। गाढ़ सम्यक्ती व दृढ़ अभ्यासी यदि परीक्षाके हेतु अपने धर्मके अतिरिक्त शास्त्रोंको पढ़ें व अन्यधर्मी साधुओंकी संगति करें व अन्यधर्मियोंके मंदिरमें जावें व उनकी संगति करें तो उसके लिये यह अनायतन संगति अतिचार न होगा। ज्ञानीको स्वयं विचार लेना चाहिये कि हमारा श्रद्धान दृढ़ रहे, वह सम्हाल मैं रक्खूं। इसतरह २५ दोष रहित सम्यक्तका पालना हितकर है।

अध्याय दूसरा।

सम्यक्ती कर्ता भोक्ता नहीं है।

जहांतक यह बुद्धि रहती है कि मैं राग द्वेषादि भावोंका कर्ता हूं व राग द्वेषादि भाव मेरे कर्म हैं व मैं पुण्य पाप कर्मोंका कर्ता हूं व पुण्य पाप कर्म मेरे कर्म हैं, तथा मैं घट पट मकान आदिका कर्ता हूं व घट पट आदि मेरे कर्म हैं वहांतक सम्यक्त-भावकी प्राप्ति नहीं हुई है। सम्यक्ती जीवको यह गाढ़ श्रद्धान है कि जिस द्रव्यका जो गुण व स्वभाव है वह उसका उसहीमें है। तथा द्रव्य परिणमनशील है इससे हरएक द्रव्य अपनी ही परि-णति, पर्याय या अवस्थाका ही कर्ता तथा भोक्ता है, कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यकी पर्यायका कर्ता या भोक्ता नहीं है। यह आत्मा द्रव्य अनात्मासे व अन्य आत्माओंसे बिलकुल भिन्न है, इसकी सत्ता न्यारी व अन्योंकी सत्ता न्यारी। यह आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा भाव स्वरूप है परंतु अपने आत्माके सिवाय अन्य सर्व पदार्थोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको अपनेमें न रखनेसे यह उनकी अपेक्षा अभाव स्वरूप है। इसी-लिये वह ज्ञानी अपने आपको भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञाना-वरणादि, नोकर्म शरीरादिसे बिलकुल भिन्न अनुभव करता है, तब वह इनका स्वामी व कर्ता कैसे होसक्ता है ?

ज्ञान उसका स्वभाव है, वह ज्ञान परिणतिका कर्ता अपनेको मानता है। आनन्द उसका स्वभाव है, वह आनन्दकी परिणतिका

कर्ता होता है । चारित्र उसका स्वभाव है इसलिये वह वीतराग परिणतिका कर्ता होता है इसी तरह अपने ज्ञानामृतका ही वह भोक्ता होता है । इस सम्यक्तीके करने योग्य काम अपनी ही स्वाभाविक पर्याय है व भोगने योग्य भोग अपना ही आनन्द अमृत है । वह अपनी निज गुण सम्पत्तिके सिवाय अन्य किसीको अपनी नहीं मानता है । श्री समयसारमें श्री कुंदकुंद भगवान कहते हैं:—

> णत्थि मम कोवि मोहो बुज्झदि उपओग एव अहमिक्को ।
> तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बिंति ॥ ४१ ॥
> णत्थि मम धम्म आदि बुज्झदि उपओग एव अहमिक्को ।
> तं धम्म णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बिंति ॥ ४२ ॥
> अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइओ सयारूवी ।
> णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणु मित्तं वि ॥ ४३ ॥

भावार्थ—जो ऐसा मानता है कि मोह या मोहनीय कर्म मेरा खास कोई सजातीय नहीं है, मैं तो एक मात्र ज्ञान दर्शन उपयोगमय हूं, दीपककी ज्योतिके समान ज्ञाता दृष्टा हूं, रागीद्वेषी नहीं हूं उसीको [illegible] आगमके ज्ञाताओंने कहा है । जो ऐसा मानता है कि धर्म अधर्म आकाश पुद्गल काल ये सब व मेरी सत्ता सिवाय अन्य जीव ये सब मेरी सत्तासे बिलकुल भिन्न हैं मैं तो उनका ज्ञाता दृष्टा एक उपयोगवान द्रव्य हूं । उसीको ज्ञेय पदार्थोंसे निर्ममत्व आगमके ज्ञाताओंने कहा है । ज्ञानी ऐसा अनुभव करता है व ऐसा ठीक २ विना संशयके मानता है कि मैं तो एक अकेला अपनी सत्ताको रखनेवाला हूं, वास्तवमें परम शुद्ध तथा निर्विकार व वीतरागी हूं, सदा ही अमूर्तीक हूं । मेरा मूर्तीक कर्म द्रव्यसे व-

कर्मकृत विकारोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो दर्शन ज्ञानमयी स्वभावका धारी हूं, मेरे पास जो कुछ गुणावली है उसको छोड़कर और परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

सम्यक्ती श्रद्धानमें परम वैरागी होता है। यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान व वैराग उसका परम धन है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य समयसार कलशमें कहते हैं—

> सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः।
> स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या॥
> यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च।
> स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात्॥४-६॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टीके भीतर नियमसे ज्ञान व वैराग्यकी शक्ति उत्पन्न होजाती है, वह अपनी ही वस्तुके आनन्दको भोगना चाहता है, उसको अपने स्वरूपका लाभ व पर स्वरूपका त्याग हो गया है, उसने वास्तवमें अपने आपको व अपनेसे परको बिलकुल भिन्न२ यथार्थ जान लिया है इसलिये वह ज्ञानी अपने स्वरूपमें रमण करता है तथा अन्य सर्व रागमई ठाठसे बिलकुल विरक्त रहता है।

सम्यक्ती ऐसा अनुभव करता है कि न मैंने कभी कर्म किया है न मैं करता हूं, न मैं कभी करूँगा; मेरा तो स्वभाव ही रागादि करनेका व ज्ञानावरणादि कर्म बांधनेका व घटपट आदि करनेका नहीं है। मैं एकाकार सदा ही अकर्ता व अभोक्ता हूँ। समयसार-कलशमें कहते हैं—

> कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
> अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः॥२-९॥

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदकः ॥४-९॥
ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ॥
जानन् परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६-९॥
समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथाऽवलम्बे ॥३६-९॥

भावार्थ—जैसे इस आत्माका स्वभाव परके भोगोंका नहीं है वैसे इसका स्वभाव परके कर्तापनेका नहीं है। अज्ञानके कारण यह जीव अपनेको परभावोंका कर्ता मान लेता है। जब अज्ञान चला जाता है तब यह अपनेको उनका कर्ता नहीं मानता है। उसी तरह जैसे इस चैतन्य प्रभुका स्वभाव परका कर्तापना नहीं है वैसे यह परको भोक्ता भी नहीं है, अज्ञानसे ही यह अपनेको परका भोक्ता माना करता था। अज्ञानके चले जानेसे यह अपनेको अभोक्ता ही मानता है। ज्ञानी किसी भी भावकर्मको व द्रव्यकर्मको व नोकर्मको न तो करता है न उनको भोगता है, वह तो उन सर्वके स्वभावोंको मात्र जानता ही है। कर्ता व भोक्तापनेके भावसे रहित होकर वह मात्र परको जानता हुआ अपने शुद्ध स्वभावमें निश्चल रहता है अर्थात् अपनेको जीवन्मुक्त ही समझता है। सम्यक्ती अपने आत्माको सिद्ध परमात्माके समान मात्र स्वभाव परिणतिका कर्ता व उसीका भोक्ता समझता है। ज्ञानी सम्यक्तीके ज्ञान श्रद्धानमें उसका आत्मा सर्व कर्म व कर्मकृत विकारोंसे न्यारा परम अकर्ता व अभोक्ता दिखता है। इसी कारणसे सम्यक्तीको

परका कर्ता व भोक्ता नहीं कहते हैं। शुद्ध निश्चयनयको आलम्बन करनेवाला सम्यक्ती जीव सर्व ही भूत, भविष्यत्, वर्तमानके कर्मोंसे अपनेको भिन्न करके मोहसे रहित हो ऐसा जानता है कि मैं एक सर्व विकारोंसे रहित चैतन्यमई आत्माका ही आलम्बन लेरहा हूं।

वास्तवमें बात यह है कि सम्यक्ती सिवाय अपनी शुद्ध परिणतिके और किसी भावको करना नहीं चाहता है परन्तु पूर्व-बद्ध कर्मोंके उदयसे उसके भावोंका विभाव परिणमन होजाता है। हरएक जीवमें एक वैभाविक शक्ति है जिसका प्रयोजन यह है कि जब किसी कर्मके उदयका निमित्त मिले तो विभावरूप परिणमन कर जावे। यदि चारित्रमोहनीय कर्मका निमित्त न हो तो कदापि रागद्वेष रूप परिणमन न करे। जैसे जलमें गर्म होनेकी शक्ति है यदि अग्निका निमित्त हो तो गर्म होजावे, निमित्त न हो तो गर्म न हो। अथवा जैसे स्फटिकमणिमें यह शक्ति है कि वह नानारंगके निमित्त मिलनेपर नानारंगरूप परिणमन कर जाती है वह लाल, पीली, काली, नीली झलकती है। यदि लाल, पीले, काले, नीले डाकका निमित्त न मिले तो अपने स्वभावकी स्वच्छतामें ही झलकती है।

जब आत्मामें विभाव परिणति होती है या रागद्वेष मोह भाव होता है तब इन भावोंका निमित्त पाकर कर्म वर्गणाएं स्वयं खिंचकर आजाती हैं और बंधको प्राप्त होजाती हैं। जैसे अग्निकी उष्णताका निमित्त पाकर पानी स्वयं भाफरूप बदल जाता है।

वास्तवमें जीव न तो स्वयं रागद्वेषादि विभाव भावोंको करता है और न ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंका बंध करता है। पूर्वबद्ध मोहके

उदयसे जीवमें रागद्वेष होते हैं व रागद्वेषादिके निमित्तसे स्वयं द्रव्यकर्म बंध जाते हैं। जैन सिद्धांतमें निश्चयनय और व्यवहार-नयकी अपेक्षासे कथन किया गया है। जो एक ही वस्तुका आश्रय लेकर कथन करे वह निश्चयनय है। कहते हैं-"स्वाश्रयः निश्चयनयः" और जो अन्य वस्तुकी अपेक्षासे अन्यका कथन करे वह व्यवहारनय है। कहा है-"पराश्रयः व्यवहारनयः" निश्चयनयके भी दो भेद हैं-एक शुद्ध निश्चयनय, एक अशुद्ध निश्चयनय। जो किसी एक द्रव्यके बिलकुल शुद्ध स्वभावपर लक्ष्य दे वह शुद्ध निश्चयनय है। तथा जो द्रव्यके वैभाविक भावोंपर लक्ष्य दे वह अशुद्ध निश्चयनय है। जब जीवके कर्तापने व भोक्तापनेका विचार इन तीनों नयोंसे किया जाता है तो ऐसा कथन होगा जैसे श्री नेमिचन्द्र महाराजने द्रव्यसंग्रहमें किया है—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥
ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥

भावार्थ-यह आत्मा व्यवहारनयसे पुद्गल कर्म ज्ञानावरणादि व घटपट आदिका करनेवाला कहलाता है। अशुद्ध निश्चयनयसे रागादि भाव कर्मोंका कर्ता कहलाता है परन्तु शुद्ध निश्चयनयसे अपने शुद्ध वीतराग भावोंका ही कर्ता है। यही जीव व्यवहारनयसे पुद्गल कर्मोंका फल सुख तथा दुःख भोगता है। अशुद्ध निश्चयनयसे रागद्वेष भावोंका भोक्ता है परन्तु शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध ज्ञानानंदका ही भोक्ता है। कार्य करे कोई और कहा जावे किसी

औरका, यही व्यवहारनयका यहां तात्पर्य है। जैसे कर्मवर्गणा स्वयं कर्मरूप होजाती है। कार्य यह पुद्गलका किया हुआ है तौभी इस कार्यका कर्ता जीवको कहना यही व्यवहार है। कुम्हारको घड़ेका बनानेवाला, सुनारको कड़ा बनानेवाला, स्त्रीको रोटी बनानेवाली कहना, व्यवहारकी अपेक्षासे है। क्योंकि वास्तवमें घड़ेको बनानेवाली मिट्टी है। कड़ेका बनानेवाला सोना है, रोटीका बनानेवाला आटा है। मट्टीकी ही दशा घड़ेमें पलटी, सुवर्णकी ही पर्याय कड़ेमें हुई, आटा ही रोटीकी सूरतमें बदला; जीवोंके भावोंका व हाथ पैरोंका निमित्त मात्र हुआ। इसलिये जीवोंको उनका कर्ता कहा जाता है। कुम्हारके जीवने मात्र घड़ा बनानेका भाव किया व अपने आत्मप्रदेशोंको सकम्प किया तब ही उसके हाथादि अंगोंका हलन चलन हुआ। इसलिये जीवके योग और उपयोगको तो निमित्त कर्ता कह सके हैं। उपादान या मूलकर्ता तो वही द्रव्य है जो किसी अवस्थामें पलटा है। जैसे घटका उपादान कर्ता मिट्टी है, निमित्त कर्ता कुम्हारका योग और उपयोग है। श्री समयसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेवं सेसगें दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०७ ॥

भावार्थ—जीव न तो घटको बनाता है और न पटको बनाता है न और किसी द्रव्यको बनाता है। योग और उपयोग ही निमित्त कर्ता होते हैं। उन योग और उपयोगका कर्ता परम्परासे या अशुद्ध निश्चयनयसे जीवको कह सक्ते हैं। यहां अभिप्राय यह है कि संसारी जीवके कर्मोंका सम्बन्ध है। शरीर नामकर्मके उदयसे मन,

वचन, काय, योगोंके होते हुए आत्माका कम्पपना होता है। यदि कर्मका उदय न हो तो योग भी चलायमान न हों, तब मन, वचन, काययोग कार्योंके उत्पन्न होनेमें निमित्त भी न हों। इसी तरह मोहनीय कर्मके उदयसे रागद्वेष इच्छावान व प्रयत्नवान ज्ञानोपयोग होता है। यह अशुद्ध उपयोग ही कार्योंके होनेमें निमित्त है। यदि कर्मोंका उदय न हो तो अशुद्ध उपयोग न हो। इसलिये घटपटादि कार्योंके होनेमें जो निमित्त कारण योग व उपयोग हैं वे भी जीवके स्वाभाविक कार्य नहीं हैं, कर्मोंके उदयके कार्य हैं। अतएव स्वभावसे यह जीव योग व उपयोगका कर्ता भी नहीं है। स्वभावसे यह परम निष्कम्प व निश्चल है तथा मात्र शुद्ध उपयोगका ही करनेवाला है।

जीव और कर्मके संयोगसे क्या क्या विभाव व क्या क्या बाहरी कार्य होते हैं, इनहीके बतानेके लिये अशुद्ध निश्चयनयसे या व्यवहारनयसे कथन किया गया है। कर्मसंयोग रहित जीवका स्वभाव तथा निज परिणतिका ही कर्तापना व भोक्तापना बताना शुद्ध निश्चयनयका कार्य है। शुद्ध निश्चयनय जीवको यथार्थ जैसाका तैसा दिखलाती है व स्वभावपरिणतिका ही कर्त्ता व भोक्ता झलकाती है। समयसारमें शुद्ध नयसे आत्माका स्वरूप बताया है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहिं ॥ १६ ॥

जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त झलकाती है उसे शुद्ध नय जानो—अर्थात् शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखते हुए यह आत्मा कर्म व नोकर्मसे न तो बंधा

दिखता है न स्पर्शित दिखता है। जैसे कमल जलसे स्पर्श नहीं करता है वैसे यह आत्मा कर्मोंके बंध व स्पर्शसे रहित है। अर्थात् निर्बन्ध है और यह अन्य अन्य रूप नहीं है। उस दृष्टिसे यह एकरूप ही दिखता है। नर, नारक, देव, तिर्यंचकी अनेक गतियोंमें भी एक रूप शुद्ध द्रव्य झलकता है। जैसे मिट्टीके घड़े, प्याले, सकोरे, मटकेने अनेक प्रकारके रूप बने तथापि उन सब पर्यायोंमें वह मिट्टीके सिवाय और कुछ नहीं है।

शुद्ध नय दिखाता है कि यह आत्मा निश्चल है, निष्कम्प है, हलन चलन रहित है। जैसे तरंग रहित समुद्र निश्चल होता है वैसे यह आत्मा अपने प्रदेशोंसे निश्चल है। तथा यह अपने सर्व गुणोंको लिये हुए अभेद व एक सामान्य है। जैसे सुवर्ण सुवर्णरूप एक ही अभेद है। समझनेके लिये उसके गुण भारीपन, चिकनापना, पीलापन आदि कहे जावें परन्तु वास्तवमें वह अपने गुणोंसे अभेद है वैसे यह आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि गुणोंसे अभेदरूप एक सामान्य द्रव्य है। शुद्ध नय बताता है कि यह आत्मा पर संयोगरहित परम वीतराग है। यह रागीद्वेषी मोही नहीं है। जैसे जल अग्निके संयोग रहित अपने स्वभावसे शीतल है वैसे यह आत्मा अपने स्वभावसे परम शांत वीतराग है। शुद्ध निश्चयनयका विषय मात्र एकाकार शुद्ध आत्मद्रव्य है। इसी नयकी अपेक्षासे यह आत्मा मात्र अपनी स्वाभाविक परिणतिका ही कर्ता तथा भोक्ता है। यह रागादि भावकर्मका व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मका व नोकर्म आदिका कर्ता नहीं है।

जहांतक भेदविज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है वहांतक इस

संसारी जीवमें बहिरात्म बुद्धि होती है। तब यह ऐसा ही अहंकार किया करता है कि मैं मानव हूं, मैं पशु हूं, मैं धनी हूं, मैं निर्धन हूं, मैं रूपवान हूं, मैं कुरूप हूं, मैं राजा हूं, मैं सेवक हूं, मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्री हूं, मैं वैश्य हूं, मैं शूद्र हूं, मैं रागी हूं, मैं द्वेषी हूं, मैं क्रोधी हूं, मैं शांत हूं। अर्थात् कर्मोंके उदयसे जो अवस्था होरही है उसरूप अपनी खास अवस्था मान लेता है। शरीरके जन्मको अपना जन्म, शरीरके मरणको अपना मरण, शरीरके विगड़नेको अपना विगाड़ मानता है तथा जो पदार्थ अलग प्रगट हैं उनमें घोर मोहके कारण ममकार बुद्धि करता है। यह मेरा तन है, यह मेरा घर है, यह मेरा देश है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पुत्री है, यह मेरी सम्पत्ति है इत्यादि। इस अहंकार व ममकारके वशीभूत होकर दिनरात अपनेको पर भावोंका कर्ता व भोक्ता माना करता है।

मैंने अमुकको सुखी किया, मैंने दुःखी किया, मैंने धन कमाया, मैंने उपकार किया, मैंने दान दिया, मैंने व्यापार किया, मैंने वस्त्र बनाया, मैंने धर्म किया, मैंने उपवास किया, मैंने श्रावकव्रत पाले, मैंने तप किया, मैंने सुख भोगा, मैंने दुःख भोगा, मैंने कामभोग किया, मैंने सुन्दर स्त्री देखनेका सुख लिया, मैंने मनोहर गानका रस चाखा इत्यादि मोहके वशीभूत हो मादक पदार्थके मदसे चूर मानवकी तरह अपने खास स्वभावको भूले हुए हरसमय भावकर्मका कर्ता अपनेको माना करता है। यद्यपि घटपट गृह आदिके कार्योंमें उपादानकर्ता अपनेको नहीं मानता है तथापि निमित्त कर्ता तो मैं हीं हूं ऐसा मानता है। भावकर्मका स्वरूप

तो बिलकुल ज्ञात नहीं होता है। इसलिये रागादि भावकर्मोंका तो मैं ही कर्ता हूं ऐसा ही अज्ञानी जीव अनुभव करता है। इस मोहरूप मिथ्या भावके कारण उसके क्रोधादिक कषायकी अति तीव्रता रहती है। इंद्रिय विषय भोगोंसे सुख होता है इस मान्यतासे इंद्रिय भोग योग्य पदार्थोंकी प्राप्तिकी अति तृष्णा रहती है। उनके लिये धन कमानेमें मायाचार व अति लोभ करता है। जो बाधक होते हैं उनपर क्रोध करता है उनका बुरा चाहता है। यदि इच्छाके अनुकूल पदार्थ प्राप्त होजाते हैं तो मान करता है।

इनही अनन्तानुबंधी कषायोंके कारण मिथ्यात्वी जीव संसारके कारणीभूत घोर कर्मोंका बंध करता है। इस मिथ्याभावसे इस आत्माको कभी भी शुद्ध होनेका मार्ग नहीं मिलता। श्री गुरु परम दयालु हैं, उन्होंने नयोंके द्वारा यह समझा दिया है कि जीव भिन्न है व कर्म भिन्न हैं व शरीरादि भिन्न हैं व इनका मात्र संयोग सम्बंध है, निमित्त नैमित्तिक संयोगके कारण जीवमें विभाव भाव होते हैं व कर्मोंका बंध होता है व जीवको कर्ता या भोक्ता कहते हैं। परंतु शुद्ध निश्चय नयसे या वास्तवमें यह जीव किसी भी परभावका कर्ता नहीं है न उसमें यही भो विकल्प उठ सक्ते हैं कि मैं भला करूं या मैं बंधको काटूं या मैं मुक्तिको प्राप्त करूं। शुद्ध निश्चयनयसे ज्ञानी अपने आत्माको आत्मारूप ही देखता है वहां बंध व मोक्षकी कल्पना ही नहीं है। फिर वह मोक्षका भी कर्ता कैसे होगा। समयसार कलशमें कहते हैं—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्त्रादिभावान्।
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ॥

शुद्धः शुद्धस्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥ ११९ ॥

भावार्थ—जब शुद्ध ज्ञानभाव प्रगट होता है तब वह सर्व प्रकारके परके कर्ता व भोक्तापनेके भावोंको भले प्रकार दूर कर देता है व उस ज्ञानमें बन्ध व मोक्षकी कल्पना भी नहीं होती है। वह सर्व तरहसे परम शुद्ध झलकता है। अपनी ही पवित्र स्वाभाविक ज्योतिसे चमकता रहता है। उसकी महिमा सदा एकरूप ही चमकती रहती है।

अनादि कालका जो यह भ्रम पड़ा था कि मैं करनेवाला हूं व मैं भोगनेवाला हूं इस भ्रमको निकालकर दूर फेंकनेके लिये श्री गुरुने शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे कथन करके यह समझा दिया है कि हे आत्मन्! तेरा स्वभाव तो अकर्ता व अभोक्ता है, तू तो अपनी ही शुद्ध परिणतिका कर्ता है व उसी ही शुद्ध परिणतिका भोक्ता है। तेरा पर भावको आपा माननेका अहंकार व परको अपना माननेका ममकार मिथ्या है, यह भ्रम है। जैसे कोई नाटकमें ब्राह्मणके पुत्र राजा व सेवकका पाठ करें, अपनेको राजा व सेवक मानें, वैसी ही चेष्टा करें, वैसे ही भोग भोगें, तथापि वे इन चेष्टाओंको मात्र एक नाटक मानते हैं। प्रयोजनवश उनको अपने शौकसे या धन कमानेके हेतुसे नाटक करना पड़ता है। वे करते हैं व वैसा भाव भोगते हैं परंतु वे यह भले प्रकार जानते हैं कि हम ब्राह्मण हैं हम कभी भी राजा व सेवक नहीं है। हमारा कर्म ब्राह्मणका है, हमारा कर्म राजा व सेवकपना नहीं है। हमारा भोग्य हमारे योग्य पदार्थ हैं। राजा व सेवकके भोग्य योग्य पदार्थ

मेरे भोग योग्य नहीं है। इसी तरह सम्यक्दृष्टी जीव ऐसा मानता है कि कर्मोंके असरसे रागी द्वेषी होकर मुझे संसारके काम करने पड़ते हैं या संसारके भोग या सुख दुःख भोगने पड़ते हैं परन्तु ये सब मेरा स्वाभाविक कार्य नहीं है। न मैं नारकी हूं, न देव हूं, न पशु हूं, न मानव हूं, न मैं नारकी आदिके कार्य करने योग्य हूं, न मैं नारकी आदिके दुःख सुख भोगने योग्य हूं। मैं तो परमशुद्ध निर्विकार ज्ञातादृष्टा एक अखंड निश्चल आत्मा हूं। मेरा कर्तव्य अपनी ज्ञान परिणतिका ही करना है व अपने ही निज आनंदका भोगना है।

इस सम्यग्ज्ञान होनेका फल यह होता है कि जो अपना स्वामित्व परकृत भावोंकि करने या भोगनेमें था वह बिलकुल निकल जाता है। अपना स्वामित्व अपने ही शुद्ध गुणोंसे होजाता है तब उस सम्यग्ज्ञानीके भीतर सच्चा वैराग्य झलकता है, वह आत्मानन्दका ही प्रेमी होजाता है। उसकी वह मोहसे भरी हुई चेष्टा नहीं होती है, जैसी मिथ्याज्ञानीकी होती है। वह ज्ञानी कषायके उदयके वशीभूत होकर जो कुछ लोकमें शुभ या अशुभ व्यवहार करता है उसको अपना कर्तव्य नहीं जानता है। उसको उपादेय बुद्धि अर्थात् करने योग्य बुद्धिसे नहीं करता है किन्तु हेय बुद्धि अर्थात् त्यागने योग्य बुद्धिसे करता है। वह कर्मके उदयको अर्थात् औदयिक औपाधिक भावोंको रोग मानता है व उनके अनुकूल उपायोंको रोग शमनका क्षणिक उपाय मात्र जानता है। उस ज्ञानीके भीतर न तो गाढ़ लोभ होता है न गाढ़ द्वेष होता है। धनागममें न तो विशेष उन्मत्तपना होता है न धन नाशमें विशेष शोक होता है। उस ज्ञानीके भावोंसे अनन्तानुबन्धी कषायके विकारके दूर होनेसे

अन्यायरूप प्रवृत्तिका अभाव होता है। उसके भीतर प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्यभाव रहता है जिससे वह विचारशील, मन्द-कषायी, धर्मानुरागी व संसार शरीर भोगोंसे वैरागी, लोक व पर-लोक, पुण्य तथा पाप व जीव और अजीव, आत्मा व परमात्माका श्रद्धावान होता है तथा परमदयालु होता है। अपने स्वार्थवश दूसरोंको कष्टमें नहीं डालना चाहता है। इसलिये ज्ञानीकी प्रवृत्ति अहिंसा तत्त्वपर आलंबित होजाती है। यही कारण है जो ज्ञानी कर्मोदयजन्य भावोंसे प्रेरित होकर कर्ता व भोक्ता होता हुआ भी कर्तापना व भोक्तापना अपना निज स्वभाव नहीं जानता है व इस क्रियाका स्वामी नहीं होता है। वह ज्ञानी अपने स्वभावका ही कर्ता भोक्तापना अपनेमें निश्चय रखता है।

ज्ञानी और अज्ञानीके भावोंमें इतना ही भेद है, जैसा भेद प्रकाश व अन्धकारमें है, मणि व कांचमें है, श्वेत वर्ण व कृष्ण वर्णमें है। बाहरी कार्य एकरूप देखते हैं तथापि भावोंमें विशेष अन्तर है। ज्ञानी वास्तवमें स्वभावका कर्ता व भोक्तापना अपना धर्म मानता है, अज्ञानी परभावका कर्ता व भोक्तापना अपना धर्म मानता है। इसी लिये ज्ञानी मोक्षमार्गी है व अज्ञानी संसारमार्गी है। ज्ञानी आत्मासक्त है अज्ञानी देहासक्त है। ज्ञानी कर्मबंध काट रहा है अज्ञानी कर्मबन्ध बढ़ा रहा है। समाधिशतकमें पूज्य-पादस्वामी कहते हैं—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस शरीरमें व शरीरकी क्रियामें आत्मापना मानना

बारबार अन्य२ शरीरमें भटकनेका बीज है। शरीरमें आत्मबुद्धि छोड़कर अपने ही आत्मामें आत्मापना मानना शरीर रहित होने व मुक्त होनेका बीज है। ज्ञानी अतींद्रियसुखका प्रेमी है जब अज्ञानी विषयसुखका प्रेमी है।

जीव द्रव्यकी क्या क्या पर्यायें संसार अवस्थामें होती हैं उनको बतानेके लिये ही अशुद्ध निश्चय नय व व्यवहार नयका उपयोग है। यदि पर्यायार्थिक दृष्टि गौण कर दी जावे और मात्र द्रव्यार्थिक दृष्टिसे देखा जावे तो यह जीव एकाकार ही दिखलाई पड़ेगा। शुद्ध निश्चय नयका यही विषय है। द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥

भावार्थ—अशुद्ध दृष्टिसे ही गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि १४ मार्गणाएं व मिथ्यात्व, सासादन आदि १४ गुणस्थान संसारी जीवोंके पाए जाते हैं परंतु यदि शुद्ध निश्चयनयसे देखा जावे तो सर्व संसारी जीव भी शुद्ध ही हैं। एक साधकका प्रयोजन मोक्षमार्गपर चलनेका होता है व उसे मोक्षमार्ग पर चलना चाहिये। उसका भाव कर्मके बन्धोंको काटनेका है। व नवीन बन्धको रोकनेका है। यह कार्य तब ही संभव है जब राग द्वेष मोहको हटाया जावे व सम्यग्ज्ञान पूर्वक वीतरागताको प्राप्त किया जावे, समताभावको जागृत किया जावे। इस कार्यमें सहकारी शुद्ध निश्चय नयका विचार है। इसी दृष्टिसे देखे जाने पर अपना आत्मा भी शुद्ध झलकता है और सर्व आत्माएँ भी अपने समान शुद्ध झलकती हैं। तब ही समताभाव व वीतरागताका लाभ हो जाता है। यही

वह तप है जिससे अविपाक कर्म निर्जरा होती है। इसीलिये सम्यक्तीको उपदेश है कि वह शुद्ध निश्चय नयका आलम्बन लेता हुआ परिणामोंको शुद्ध रक्खे। जैसा समयसार कलशमें कहा है—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि॥१०५॥

भावार्थ—यहां इस भाषणका यही प्रयोजन है कि शुद्ध निश्चय नयको कभी नहीं छोड़े। इसके त्याग न करनेसे कर्मका बंध न होगा जब कि इसके त्यागसे कर्मका बन्ध होजायगा। इसीलिये आचार्यने समयसारमें उसहीको सम्यग्दर्शन कहा है जो निश्चय नयसे जीवादि सात तत्त्वोंपर विश्वास रखता है। कहा है—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्णपावं च।
आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ १५॥

भावार्थ—निश्चय नयसे जाने हुए जीवादि नौ पदार्थ सम्यक्त हैं। इसका भाव यह है कि इन नौ पदार्थोंका निर्माण जीव और अजीव द्रव्यके निमित्तसे है, उनमें यह प्रतीति करनी कि अजीव त्यागने योग्य है, मात्र एक जीवद्रव्य जो कर्मोंसे निराला है वही ग्रहण करने योग्य है—वास्तवमें सम्यक्त है।

इसतरह यह बात स्पष्ट होगई कि यह सम्यक्ती ज्ञानी अपना स्वामित्व अपने ही शुद्ध आत्मस्वरूप पर रखता हुआ अपनी ही शुद्ध परिणतिका ही कर्ता तथा भोक्ता है। यह मोहजनित भावोंका कर्ता व भोक्ता नहीं है। आत्माका जो निज स्वभाव है उसमें दृढ़ विश्वास ज्ञानीको होता है इसलिये वह सिद्ध परमात्माके समान अपनेको परका अकर्ता व अभोक्ता निश्चय करता है। यही भाव

कर्मरहित होनेका कारण है। श्री पुरुषार्थसिद्धयुपायमें श्री अमृतचन्द्र आचार्यने यही भाव झलकाया है कि जीवोंके रागादि भावकर्म पूर्वबद्ध कर्मोंके निमित्तसे व द्रव्यकर्मोंका बन्ध रागादिके निमित्तसे होता है। इन नैमित्तिक कार्योंको अपना मानना यही संसारका बीज है। कहा है—

परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥
जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥
एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—यद्यपि यह आतमा अपने चैतन्यमई रागादि भावोंसे आप ही परिणमन करता है तथापि उन भावोंमें पुद्गलकर्मोंका उदय निमित्त है। इसी तरह जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर नवीन पुद्गलकर्म स्वयं ही आठ कर्मरूप या सात कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं। इस तरह निश्चयसे तो यह जीव कर्मोंके द्वारा होनेवाले भावोंका धारी नहीं है। तौभी मिथ्या ज्ञानियोंको ऐसा ही झलकता है कि यह जीव ही स्वभावसे रागादि भावोंका धारी है। यही मिथ्या प्रतीति संसारका बीज है। यही मिथ्यादर्शन व मिथ्या ज्ञान व मिथ्या चारित्ररूप भाव संसारमें रुलानेवाला है। रोगाक्रांत होकर रोगको जो परकृत विकार जानेगा वही रोगसे मुक्त होनेका उद्यम कर सकेगा परन्तु जो रोगको अपना स्वभाव मान लेगा वह रोगसे कैसे छूट सकेगा। इसी तरह मिथ्याज्ञानी जब क्रोधादिको अपना स्वभाव व आपको उनका कर्ता व भोक्ता मानता है तब

सम्यग्ज्ञानी उनको रोग या विकार जानता है। अपना स्वभाव उनके कर्तापने व भोक्तापनेका नहीं है ऐसा समझता है तब ही वह इन विभावोंके मेटनेका उद्यम करता है। वह उद्यम जिससे विभाव मिटे, मात्र शुद्ध स्वरूपका श्रद्धान ज्ञान व आचरण है। मैं अकर्ता व अभोक्ता हूं, मैं पूर्ण ज्ञानानन्दमयी हूं, यही अनुभव कर्मकी निर्जराका उपाय है। यही अनुभव ज्ञानीको नित्य कर्तव्य है।

तीसरा अध्याय।

सम्यक्ती अबंधक है।

जिस समय सम्यग्दर्शन नामा गुणका प्रकाश हो जाता है उस समय अज्ञान अन्धकार सब मिट जाता है व सम्यग्ज्ञान झलक जाता है। उस सम्यग्दृष्टीका श्रुतज्ञान चाहे थोड़ा हो या बहुत, केवलज्ञानीके समान पदार्थोंके सच्चे स्वभावोंको जैसाका तैसा जानता है। अन्तर यह है कि केवलज्ञानी जब पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानते हैं व उनकी त्रिकालकी अनन्तानन्त पर्यायोंको जानते हैं तब श्रुतज्ञानी पदार्थोंके स्वभावोंको परोक्ष जानते हैं, तथा कुछ पर्यायोंको जानते हैं। (स्पष्टपनेकी व अल्पपनेकी अपेक्षा कमी है परन्तु विपरीततारहित व संशयरहित होनेकी अपेक्षा श्रुतज्ञानी व केवलज्ञानीका ज्ञान समान है।) श्री समंतभद्राचार्य आप्तमीमांसामें कहते हैं—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥

भावार्थ–सर्व तत्त्वोंको स्याद्वाद या श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों प्रकाशते हैं। भेद इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है जब कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। इन दोनोंसे विरुद्ध जो कोई वस्तुका स्वरूप है वह यथार्थ नहीं है। सम्यग्दृष्टी श्रुतज्ञानके बलसे सच्ची बुद्धि प्राप्त कर चुका है कि क्या ग्रहण करना चाहिये व क्या त्याग करना चाहिये। इसलिये श्रुतज्ञानीको भी अहितकारी पदार्थोंमें उसी-तरह वैराग्य रहता है जैसा केवलज्ञानीको है। अर्थात् श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानीकी तरह वीतरागी रहता है। आत्माके स्वभावका यथार्थ ज्ञान जैसा केवलज्ञानीका है वैसा श्रुतज्ञानीका है। आप्त-मीमांसामें कहा है—

उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्या दानहानधीः ।
पूर्वं वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ १०२ ॥

भावार्थ–केवलज्ञानका फल उपेक्षा अर्थात् परम वीतरागरूप होना है। श्रुतज्ञानका फल ग्रहण योग्य व त्यागने योग्य क्या है ऐसा विवेक प्राप्त करना है तथा वीतरागता पाना है। सर्व ही मतिश्रुत आदि सम्यग्ज्ञान अपने २ विषयमें मिथ्याके ज्ञान नाश करनेवाले व सम्यग्ज्ञानके प्रकाश करनेवाले हैं।

सम्यग्दृष्टीके गाढ़ रुचि स्वाधीनता प्राप्त करनेकी होजाती है। वह आत्मीक सुखका परम रुचिवान होजाता है। वह निरंतर अपनेको जीवन्मुक्त अनुभव करता है। चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानसे लेकर सर्व जीव सम्यग्दृष्टी होते हैं। आत्मबलकी कमीसे जब अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका तीव्र या मन्द उदय होता है और यह उसको रोक नहीं सक्ता है तो इसे उदयके अनु-

कूल अपने उपयोगको आत्मानुभवसे अतिरिक्त काममें लगाना पड़ता है। जहांतक उसका वश चलता है वह सम्यग्ज्ञान व आत्म वीर्यसे कषायके उदयको रोकनेकी चेष्टा करता है परन्तु बाहरी निमित्तोंके होनेपर व अंतरंग कषायका उदय न मिटा सकनेके कारण वह लाचार होकर कषायोंके उदयके वश हो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करने लगता है। इस सब प्रवृत्तिको हेय बुद्धिसे करता है। उपादेयपना मात्र एक स्वात्मानुभवमें ही समझता है।

तीन घातीय कर्मोंके क्षयोपशमसे जितना दर्शन ज्ञान व आत्मवीर्य प्रगट होता है तथा मोहनीय कर्मके उपशम, क्षयोपशम या क्षयसे जितना आत्मगुण सम्यक्तरूप तथा चारित्ररूप प्रगट होता है उस सबको यह अपना पुरुषार्थ समझता है, इस सबसे विवेक पूर्वक एक गृहस्थ सम्यग्दृष्टी अपने मन वचन कायकी प्रवृत्ति करता है। वह धर्म अर्थ काम तीन पुरुषार्थोंका साधन अत्यन्त विवेक पूर्वक करता है। मुख्य धर्म आत्मानुभव है उस-तरफ तो यह गाढ़ रुचिपूर्वक वर्तता है। उसीको मोक्षका साधक मानता है, इसी आत्ममननके प्रतापसे अप्रत्याख्यानादि कषायोंका अनुभाग कम करता जाता है। तो भी जितना अनुभाग कषायके उदयका होता है और वह अनुभाग इसके पुरुषार्थसे रोका नहीं जासक्ता है तब यह सम्यक्ती आत्मानुभव करनेसे लाचार होकर व्यवहार धर्ममें उपयोगको लगाता है जिससे यह मन, वचन, काय अशुभसे छूटकर शुभ उपयोगमें प्रवृत्त करें तब भी भावना आत्मा-नुभवकी ही रखता है। उसीके हेतुसे श्री जिनेन्द्रका पूजन करता है, गुरुकी उपासना करता है, शास्त्रका स्वाध्याय करता है, भोगो-

पभोगके पदार्थोंका नियम करनेका अभ्यास करता है, सामायिकमें बैठता है तथा दान करता है, परोपकार करता है, जगतके क्लेशोंको मेटता है। अपने उदरकी ज्वाला शमनार्थ व अपने आधीन कुटुम्बकी पालना करनेके लिये व न्यायपूर्वक इंद्रिय विषयकी सामग्री प्राप्त करनेके लिये तथा व्यवहार धर्ममें द्रव्य खरच करनेके लिये वह अपनी कषायके अनुकूल विवेकपूर्वक व अपनी स्थिति व द्रव्य क्षेत्र कालके अनुसार असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इनमेंसे कोई भी आजीविकाका साधन करता है। पर पीड़ाकारी व परको घोर आपत्तिमें डालनेवाला साधन नहीं करता है।

जगतके प्राणियोंको जो काम आवश्यक हैं उन हीमें यह सहायक होता है और बदलेमें द्रव्य या भोज्य पदार्थ प्राप्त करता है। जगतको दुष्टोंसे रक्षाकी जरूरत है इसलिये असिकर्म, हिसाब किताब लिखनेकी जरूरत है इसलिये मसिकर्म अन्नादिकी जरूरत है इसलिये कृषिकर्म, यत्र तत्र सामग्री पहुंचानेको जरूरत है। इसलिये वाणिज्य कर्म, वर्तन, मकान, वस्त्र, आभूषण आदिकी जरूरत है इसलिये शिल्प कर्म तथा मन प्रसन्नार्थ गाना बजाना आदि कलाओंकी जरूरत है इसलिये विद्याकर्म, इस प्रकार ये छहों कर्म परस्पर जनताके कामोंको साधनेवाले हैं इसलिये इनकी आजीविका अपनी स्थितिके अनुसार सम्यग्दृष्टी करता है। सम्यक्ती अनुकम्पावान व उपशम भाव सहित होता है इसलिये जहांतक सम्भव हो कम हिंसाकारी काम करता है तथा जिस किसी कामको करता है उसमें जीवदया तथा न्यायमय प्रवृत्तिपर ध्यान रखता है, वृथा प्राणियोंको नहीं सताता। योग्य आजीविका करते हुए जो कुछ

थोड़ा या बहुत लाभ होता है उसमें सन्तोष रखता है। पुण्यके उदयसे लाभ कम व अधिक होता है ऐसा वह समझता है इसलिये वह थोड़े धनकी प्राप्तिमें विषाद नहीं करता है व अधिक धनके लाभमें उन्मत्त नहीं होता है। वह इस धन प्राप्तिके साधनको भी कर्मकृत कार्य जानता है, कषायके उदयकी प्रेरणा समझता है।

जैसे कोई मुनीम किसी मालिककी प्रेरणासे व्यापार करता है। व्यापारमें मन, वचन, काय लगाता है, लाभ व हानि उठाता है, परन्तु उसको अपना लाभ व अपनी हानि नहीं मानता है वह सब मालिककी है। इसी तरह सम्यग्दृष्टी सर्व अर्थ पुरुषार्थको कर्मके स्वामित्वमें डाल देता है, वह धनको अपना नहीं मानता है, उसका स्वामित्व तो अपने आत्मीक धनपर है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमई सम्पत्तिपर है। इसी तरह वह विवेकपूर्वक काम पुरुषार्थ आवश्यक्ता जानकर करता है, क्षुधा आदि रोग शमनके लिये व इच्छाके दमनके लिये वह न्यायपूर्वक पांच इंद्रियोंके भोग करता है। इन भोगोंको रोग समझता है व रोगका क्षणिक इलाज जानता है। वह जानता है कि इंद्रियोंकी चाहकी दाह भोग भोगनेसे बढ़ जाती है। यह सच्चा इलाज नहीं है। सच्चा उपाय तो कषायके रसको सुखाना है जो आत्मानुभवसे होता है परन्तु लाचार होकर पूर्व अभ्यासके बलसे इच्छाके अनुकुल वर्तता है। विषयभोग उसी तरह करता है जैसे कोई कोई रोगी रोगके दूर करनेके लिये नहीं चाहते हुए भी लाचार हो कड़वी औषधि पीता है। वह रोगसे व कड़वी औषधि दोनोंसे उदासीन है, इसी तरह सम्यग्दृष्टी जीव इच्छासे व इच्छाके क्षणिक उपायसे दोनोंसे उदासीन है।

कभी कभी सम्यक्तीको अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया व लोभका उदय ऐसा आजाता है जिससे वह किसीके द्वारा होते हुए अपमानको नहीं सह सक्ता तो उसके दमनार्थ क्रोध करके युद्धादि भी करता है अथवा किसी विषयकी गाढ़ चाहना होजाती है तो उसके लिये उपाय भी करता है, उस उपायमें मायाको भी काममें लेता है। तथापि इस सर्वको कर्मकृत रोग जानता है। जब कभी आत्मानुभवके समय विचार करता है तब अपनी कषायके उदयको हेय बुद्धिसे देखता है। फिर भी आत्मबलकी कमीसे वह कषायके अनुकूल वर्तन करने लग जाता है। अविरत सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धी कषायके विना अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें संभवित कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल छहों लेश्याएँ होती हैं। जिनसे कभी२ परिणाम अत्यन्त कठोर होजाते हैं। अन्यायीके दमनार्थ बड़े प्रचण्ड होजाते हैं। इष्टवियोगमें परिणाम अति शोकित होजाते हैं, अशुभ परिणाम कृष्णादि तीन लेश्याओंके कहलाते हैं। व शुभ परिणाम पीतादि तीन लेश्याओंके कहलाते हैं। इन परिणामोंमें भी कषायकी अनुभाग शक्तिके अनुसार अनेकानेक भेद हैं। हेय बुद्धि रहनेपर भी कषायके उदयवश सम्यक्तीको भी बड़े२ कषायजनित कार्य करने पड़ते हैं। स्वामित्व न रहनेसे वे सब कार्य इसकी आत्माके श्रद्धान तथा ज्ञानको बिगाड़ नहीं सक्के। उसके भीतर इन सब कार्योंसे उसी तरह उदासीनता है। जैसे वेश्याको भोग करते हुए भी पुरुषके साथ अप्रीति होती है वह पैसेके लोभके वश प्रीति दिखलाती है, भीतरसे उस पुरुषसे उदास है। वह जब कभी आत्माभिमुख होता है तब आत्मानुभवके आगे व पीछे अपने

कृत्यकी घोर निंदा करता है व भावना भाता है कि कब यह कषायका उदय मिटे जो मैं मात्र उपादेयभूत कार्यमें ही तल्लीन होजाऊँ। तथापि आत्मबलकी कमीसे वह फिर कषायके अनुसार कार्य करने लग जाता है, इन सब कार्यको अपनी कषाय परिणतिका अपराध समझता है।

सम्यक्तीकी वही दशा होती है जैसे कोई सेना किसीसमय किसी युद्धमें जाकर लड़ना न चाहती हो तथापि सेनापतिकी आज्ञानुसार उसको न चाहते हुए भी जाना पड़ता है और युद्ध करना पड़ता है। इन सब क्रियाओंको करते हुए भी वे सेनाके जीव मनमें अप्रीति रखते हैं। अथवा छोटे बालक जो विद्या पढ़ना नहीं चाहते हैं किन्तु दिनरात खेलकूदमें रहना चाहते हैं, माता पिताकी प्रेरणासे व दंड पानेके भयसे शालामें जाते हैं वहां पढ़ते हैं व पाठ भी याद करते हैं, परन्तु दिलसे नहीं—अध्यापक द्वारा दंड मिलेगा इस भयसे करते हैं। वे बालक शिक्षा लेते हुए भी शिक्षा लेनेसे उदास हैं। सम्यक्तीकी सर्व क्रिया निष्काम कर्म कहलाती है। अन्तरंगसे वह बिलकुल सर्व ही आत्मासे बाहरके कार्योंसे उदासीन है। सर्वसे निस्पृह है। मात्र आवश्यक्ता जानकर कषायके उदयकी प्रेरणासे वर्तन करता है। इसलिये उसको ऐसा कहते हैं कि विषयभोगोंको सेवता हुआ भी असेवक है व बाहर कार्य करता हुआ भी नहीं करनेवाला है। अर्थात् वह वास्तवमें न कर्ता है न भोक्ता है। इसी लिये कहा है कि सम्यग्दृष्टीके ज्ञानचेतना होती है, कर्म व कर्मफल चेतना नहीं होती है।

श्रद्धान अपेक्षा इस ज्ञानी सम्यक्तीके ज्ञान चेतना ही होती

है। यह आत्मज्ञानका ही अनुभव करता है या करनेकी भावना रखता है। चारित्र अपेक्षा जब आत्मसन्मुख कषायके उदयसे नहीं होसक्ता है तब इसके कर्मचेतना व कर्मफल चेतना होजाती है अर्थात् तब उपयोग कर्म करनेमें व कर्मफल भोगनेमें तल्लीन होजाता है। श्रद्धान व ज्ञान इन दोनों चेतनाओंके अनुकूल न होनेसे सम्यक्तीके ज्ञान चेतनाकी प्रधानता कही जाती है। वह स्वामी तो अपनी ज्ञान चेतनाका ही रहता है। कर्म चेतना व कर्म-फल चेतनामें उसे कषायके वश हो प्रवर्तना पड़ता है।

श्री समयसार कलशमें कहा है:—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥ २-७ ॥

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागता बलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ ३-७ ॥

भावार्थ—यह सम्यक्तीके ज्ञानका ही बल है या उसके वैराग्यकी ही ताकत है कि वह कर्मको करते हुए व कर्मफल भोगते हुए भी कर्मोंके बंधको नहीं प्राप्त होता है। वह पांचों इंद्रियोंके विषयोंको सेवते हुए भी विषयसेवनका फल जो कर्मबन्ध उसे नहीं पाता है। वह ज्ञानकी विभूति व वैराग्यके बलसे विषयोंको सेवता हुआ भी सेवनेवाला नहीं है।

जो किसी कामको रुचिपूर्वक करता है वही उसका कर्ता कहलाता है। जो किसी विषयको रुचिपूर्वक भोगता है वही उसका भोक्ता कहलाता है। सम्यक्तीके रुचि न विषय भोगनेकी होती है न आत्मानुभवके सिवाय किसी अन्य कार्य करनेकी होती है।

इसलिये उसको वास्तवमें कर्ता व भोक्ता नहीं कहते हैं। उसके अन्तरंगमें वह चिकनई या आसक्त बुद्धि नहीं है जो कर्मोंको गाढ़-पने बांध सके। वह भीतरसे उदास है—बाहरसे अनेक कार्य करता हुआ दिखलाई पड़ता है। उसकी दशा उस मानवके समान है जो शरीरपर विना तैल मर्दन किये हुए मिट्टीसे भरे हुए अखाड़ेमें नानाप्रकारके व्यायाम करता है। तैलकी चिकनईके विना उसके शरीरपर रजका बंध नहीं होता है। मात्र कुछ धूल लगता है जिसको वह तुर्त झाड़ देता है व कपड़ेसे पोछकर फेंक देता है। दूसरा एक मानव शरीरमें तैल मर्दनकर उसी अखाड़ेमें उसी प्रकारका व्यायाम करता है। यह मानव शरीरमें चिकनईके कारण रजसे बन्ध जाता है जिसका मिटना कठिनतासे होता है।

सम्यग्दृष्टी जीवके अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्वकी चिकनई नहीं है जब कि मिथ्यादृष्टी जीवके हैं। इसी लिये सम्यक्ती कार्य करते हुए व विषयभोग करते हुए भी अबंधक है तब मिथ्यादृष्टी सम्यक्तीके समान कार्य करते हुए व विषयभोग करते हुए बंधक है। सिद्धांतमें अनन्तानुबन्धी कषाय जनित राग व द्वेष व मिथ्यात्वमई मोह संसारके कारणीभूत कर्मबंधके करनेवाले हैं, ये राग द्वेष मोह सम्यग्ज्ञानीके नहीं होते हैं इसलिये उसे अबंधक कहते हैं। ज्ञानी जीव मन वचन कायकी क्रियाको करते हुए मात्र ज्ञाता रहता है, अहंबुद्धि व ममकार बुद्धि न रखनेसे वह इन क्रियाओंका कर्ता नहीं होता है। समयसार कलशमें कहा है—

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु।
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्म रागः॥

रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-

मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मात्र जानता है वह कर्ता नहीं होता है। जो करता है वह मात्र ज्ञाता नहीं होता है। जो करता है उसके उस क्रियामें राग है। इसी रागको अज्ञानमई अभिप्राय कहते हैं। यह भाव मिथ्यादृष्टीके होता है इसलिये यह भाव नियमसे कर्मोंके बन्धका कारण है। ज्ञानी मात्र आत्मज्ञानके कार्यका कर्ता होता है अन्य सर्व कार्योंका मात्र ज्ञाता रहता है। समाधिशतकमें पूज्य-पाद स्वामी कहते हैं—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।

कुर्यादर्थवशात् किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

भावार्थ—सम्यक्ती आत्मज्ञानके सिवाय अन्य कार्यको अपनी बुद्धिमें देरतक नहीं रखता है। प्रयोजनवश कुछ करना पड़े तो वचन व कायसे कर लेता है—मनसे उस काममें आसक्त बुद्धि नहीं रखता है। जैसे कोई मानव किसी स्त्रीपर आसक्त होजावे और उसका वियोग हो तो बाहरसे अनेक कामोंको प्रयोजन वश करता हुआ भी अपनी प्राणप्रियाकी तरफ आसक्त रहता है, उसी तरह सम्यक्ती शिवसुन्दरीका आसक्त हो गया है, उसकी लगन आत्मानुभव व आत्मानन्दके भोगकी तरफ है, वह उसीका ही प्रेमी है। कषायके उदयसे जो कुछ उसे मन वचन कायके द्वारा कार्य करने पड़ते हैं उनको करता हुआ भी उनसे उदास है—उनपर आसक्त नहीं है। इसलिये सम्यक्ती ज्ञानी बन्धको प्राप्त नहीं होता है। जैन पुराणोंमें भरत चक्रवर्ती बड़े तत्वज्ञानी थे।

"भरतजी घरहीमें वैरागी" यह बात प्रसिद्ध है। वे छः खण्ड पृथ्वीका राज्य प्रबंध करते थे। ३२००० देशोंके स्वामी थे। करोड़ों गोवंशके पालक थे। करोड़ोंकी सेना रखते थे। स्त्रीसेवन करके पुत्रोत्पत्ति करते थे। उन्होंने ६० हजार वर्ष तक दिग्विजय करनेमें व्यतीत किया था। इतना महान राज्य व गृही भोग करते हुए भी वे वैरागी व ज्ञानी प्रसिद्ध थे।

एक मानवने एक दफे भरतजीसे प्रश्न किया कि महाराज! आप तो बड़े भारी आरम्भ व परिग्रहवान हैं, आपको लोग वैरागी कहते हैं इसका क्या समाधान है। भरतजीने एक कटोरा तैलका भरकर उस मानवको दिया। और कहा कि तू हाथमें लिये हुए हमारी सर्व सेनाका दर्शन करके आजा, परन्तु एक बूंद गिरने न पावे इसका ध्यान रख। यदि गिर जायगा तो मस्तक अलग कर दिया जायगा। यह मानव तेलका भरा कटोरा लिये हुए सर्व सेनाके स्थलोंमें जाता है, घूमता है, परन्तु भीतरसे दिल कटोरेकी तरफ है उसके इस बातकी बड़ी भारी सम्हाल है कि कहीं कटोरेमेंसे एक बून्द तैलकी गिर न पड़े। वह लौटकर उसी तरह तैलका भरा कटोरा लिये हुए भरतजीके पास आता है। भरतजी देखकर प्रसन्न होते हैं कि कटोरा उसी तरह तेलसे भरा है। पुछते हैं हे कि भाई! इतना बड़ा तूने चक्कर लगाया, इतना तूने देखने भालनेका काम किया, फिर भी तू तेलको गिरा न सका इसका कारण क्या है? वह मानव उत्तर देता है कि महाराज! मैंने भ्रमण तो बहुत किया परन्तु मेरा ध्यान सदा कटोरेपर रहता था। इसलिये तेल न गिर सका। भरतजी कहते हैं कि बस भाई, तूने जो मुझसे प्रश्न किया था

उसका उत्तर तूने ही देदिया। यद्यपि मैं सर्व राजकार्य करता हूं व विषयभोग करता हूं परन्तु मेरी चित्तकी रुचि इन कार्योंमें नहीं रहती है। मैं तो निरन्तर अपने आत्मापर ध्यान रखता हूं। इस सर्व मन वचन कायकी चेष्टाको मात्र एक नाटकमें कर्मका खेल समझता हूं।

दो पनिहारी मस्तकपर दो दो घड़े पानीके भरे हुए लारही हैं। मार्गमें बातें करती आरही हैं तथापि मस्तक नहीं हिलता, घड़ा नहीं गिरता क्योंकि उनका ध्यान घड़े व मस्तककी ओर है। इसी तरह ज्ञानीकी रुचि आत्मानुभवकी तरफ है। उसका भीतरी प्रेम भाव आत्मासे है, आत्मासे बाहरके पदार्थोंपर रञ्च मात्र भी प्रेम नहीं है, इसलिये ज्ञानी अबंधक है। यही भरतजी जब बाहुबलि अपने छोटे भाईको अपनी आज्ञाके विरुद्ध पाते हैं तब क्रोधाविष्ट होजाते हैं। उसको किसी तरह भी नमा न सकनेके कारण उसपर सेना लेकर चढ़ जाते हैं। युद्धमें हार जाते हैं। कषाय वश हो उसपर सुदर्शन चक्र चलाते हैं, फिर भी आसक्त नहीं हैं। आसक्त मात्र आत्म कार्य पर है। कषायोंके उदयसे लाचार हो यह सब चेष्टा करते हैं तब भी ज्ञानी व वैरागी हैं। क्योंकि उनके संसारके कारणीभूत मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषायका उदय नहीं है। श्री रामचन्द्रजी भी सम्यक्ती थे। पिताके प्रण पूर्ण होनेके कारण स्वयं हकदार होते हुए भी राज्यपाट त्याग देते हैं। प्रवासमें अनेकोंके काम निकालते हैं व एक सम्यक्तीकी तरह व्यवहार करते हैं। एक निर्बल राजाको एक सबल अन्यायी राना सिंहोदरसे पीडित देखकर श्री रामचन्द्रजी लक्ष्मणको भेजते

हैं, लक्ष्मणजी उसे जब बोध कर लेआते हैं और उसे विनयवान व नम्रीभूत देखते हैं तब उसे न्याय मार्गपर चलनेका उपदेश देकर उसको बंधनसे तुर्त मुक्त कर देते हैं। उसकी मित्रता उस राजासे करा देते हैं। उस सिंहोदरकी फिर वह बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। उसका हर प्रकार सत्कार कर उसे उसका राज्य देदेते हैं।

जब धर्मात्मा शीलवती सीताको दुष्ट रावण लेगया तब रामचन्द्रको इसलिये अधिक शोक नहीं हुआ था कि वे उस सीताके रूपपर मोहित थे परंतु अति शोक इस कारणसे हुआ था कि वह अर्धांगिनी थी, धर्मात्मा चारित्रवान थी। ऐसी आदर्श गृहिणीका वियोग वे सह नहीं सके थे। वह श्री रामचन्द्रजीके गृहस्थ धर्म पालनमें अत्यन्त सहायक थी। उससे मिलना उनका हार्दिक भाव था। इसलिये शोक किया व उसके खोजनेकी चेष्टा की। जब मालूम हुआ कि एक दुष्ट अन्यायीने एक अबला पर अन्याय किया है तब यह उनका गृही कर्तव्य होगया कि अन्यायीको दंड देकर उससे एक पीड़ित व्यक्तिकी रक्षा करना। इस न्याययुक्त बातके लिये रामचन्द्रजीने रावणसे घोर युद्ध किया। अनेक आपत्तियें सहीं और अन्तमें सीताकी रक्षा की। इतना सब कार्य करते हुए भी रामचन्द्रजी मात्र ज्ञाता थे। निष्काम कार्यके कर्ता थे। कर्तव्य समझकर इतना काम किया था। न्याय धर्मकी रक्षा की थी। परन्तु इस सब कार्यको मंद या तीव्र कषायका कार्य जानते थे। भीतरसे आत्मासक्त थे। सम्यग्दृष्टीका भाव ज्ञानकी भूमिकाको कभी उल्लंघन नहीं करता है। सम्यक्तीके सर्व ही लौकिक या पारलौकिक भाव ज्ञान द्वारा निर्मित होते हैं।

जब कि मिथ्यात्वी अज्ञानीके सर्व भाव अज्ञान द्वारा निर्मित होते हैं। समयसार कलशमें कहा है—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते॥ २२-३॥

भावार्थ—ज्ञानीके जितने भाव होते हैं वे सब ज्ञानसे उत्पन्न होते हैं, इसी तरह अज्ञानीके जितने भाव होते हैं वे अज्ञानसे रचे हुए होते हैं। मिथ्यादृष्टीकी भूमि संसारासक्त है, सम्यग्दृष्टीकी भूमि मोक्षासक्त है। यदि विचार करके देखा जायगा तो बंध तब ही है जब मैं बंधा हूं, मैं अशुद्ध हूं, मैं रागी द्वेषी हूं, या मैं मानव, देव, पशु, नारकी हूं। यह परमें अहंबुद्धि जड़ पकड़ रही है। यह बुद्धि मिथ्यादृष्टीके ही होती है इसलिये वह बन्धरूप है। सम्यग्दृष्टीको अहंबुद्धि मात्र अपने ही निराले व परम शुद्ध आत्मद्रव्यपर होती है, इसलिये वह अपनेको निर्बंध ही समझता है। द्रव्यार्थिकनयसे या परम शुद्ध निश्चयनयसे देखनेवाला सम्यक्ती अपनेको भूत, भविष्य या वर्तमान तीनों कालोंमें सदा ही मात्र एक आत्मद्रव्य समझता है, जिसमें परमाणु मात्रका किंचित् भी लेप नहीं है। इस दृष्टिसे भी सम्यक्ती सदा अबन्धक है। गायके गलेमें रस्सीसे रस्सी बन्धी है। गला बीचमें है। बन्धनकी गांठ गलेसे नहीं है किन्तु रस्सीकी गांठ रस्सीसे है। जबतक गाय यह समझती है कि मैं बंधी हूं तबतक वह कभी बंधसे बाहर नहीं हो सक्ती है, परन्तु जब उसको यह बुद्धि होजावे कि मैं नहीं बंधी हूं, बंधी तो रस्सी है तब वह गाय इतना बल, रखती है कि वह रस्सीसे अपनेको अलग कर सक्ती है।

जैसे तोता नलिनीकी दंडीमें उलटा लटका हुआ आप ही अपने पंजोंसे उसे पकड़े है, उसको यह भ्रम होगया है कि मुझे नलिनीने पकड़ लिया–यदि मैं इसे छोड़ूंगा तो नीचे गिरकर मर जाऊंगा। यदि उसको यह सुध होजावे कि उसने ही अपने पंजोंसे पकड़ा है तथा यदि वह छोड़े तो भले प्रकार स्वाधीन हो उड़ सक्ता है, तो वह तुर्त बंधमुक्त होसक्ता है। इसी तरह मिथ्यादृष्टी तो भ्रममें उलझा हुआ है। सम्यग्दृष्टी समझता है कि बंध बंधमें है, मैं सदा मुक्त हूं। यही श्रद्धा उसको अबंधक अनुभव कराती है। वह ज्ञानी कर्मबंधसे व उसके उदयसे अपनेको भिन्न ही अनुभव करता है।

दूसरे–इस अपेक्षासे सम्यक्ती अबंधक है कि उसके संसार कारणीभूत कर्मोंका बन्ध बिलकुल नहीं होता है। अल्पस्थिति व अल्प अनुभागके लिये घातीय कर्मोंका व पापरूप अघातीय कर्मोंका तथा अल्पस्थिति व तीव्र अनुभाग रूप अघातीय कर्मोंका बंध यह सम्यक्ती अपने गुणस्थानके अनुसार करता है। यह बन्ध सम्यक्तके प्रभावसे शीघ्र झड़ जानेवाला है। अनन्त संसार कारणीभूत बन्धकी अपेक्षासे यह बहुत अल्प है। कष्टसाध्य रोगके सामने सहज साध्य अल्प रोगकी क्या गिनती। सम्यक्तकी दशामें यह ज्ञानी आत्मानुभवके प्रतापसे कर्मक्षयके मार्गका ही अनुगामी होरहा है। जैसे किसी वीर योद्धाने शत्रुदलके विध्वंस करनेका बीड़ा उठाया है और वह अपने तीक्ष्ण शस्त्रसे शत्रुदलको विध्वंस करता चला जा रहा है। यदि शत्रुकी नवीन सेना शत्रुके दलमें आती है तो वह भी विध्वंश ही की जायगी, उस वीरके अमोघ बाणोंके सामने टिक नहीं सक्ती। उस वीरने तो सर्व शत्रुदलके भगानेका दृढ़ संकल्प

कर लिया है। सम्यग्दृष्टी भेदज्ञानकी खड्गसे कर्मशत्रुदलके संहार करनेपर उतारू है। नवीन कर्मका बन्ध भी क्षयहीके सन्मुख है। इस कारणसे सम्यक्ती जीव अबन्धक है।

पहले अध्यायमें जहां संवर तत्त्वका व्याख्यान है वहां जो कर्म प्रकृतियोंके संवरका नकशा दिया गया है उससे विदित होगा कि अविरत सम्यग्दृष्टीके ४१ प्रकृतियोंका बंध नहीं होता है। मूल कर्मकी अपेक्षा नीचे प्रकार विदित होगा।

दर्शनावरणकी ९ उत्तर प्रकृतियोंमें स्त्यानगृद्धि, प्रचला-प्रचला व निद्रा निद्रा, इन तीनका बंध नहीं होता =३

मोहनीय कर्मकी २८ प्रकृतियोंमेंसे मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी ४ कषाय, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद इन ७ का बन्ध नहीं होता=७

आयुकर्मकी ४ प्रकृतियोंमेंसे नरक, व तिर्यंचायुका बन्ध नहीं होता है। =२

गोत्रकर्मकी २ प्रकृतियोंमेंसे नीच गोत्रका बन्ध नहीं है=१

नामकर्मकी बन्धमें गिनी हुई ६७ प्रकृतियोंमेंसे समचतुरस्रसंस्थानको छोड़कर ५ संस्थानका, वज्रवृषभनाराच संहननको छोड़कर ५ संहननका, नरक व तिर्यंच गतिका, नरक व तिर्यंचगत्यानुपूर्वीका, एकेन्द्रियादि ४ जातिका, स्थावर, आताप, उद्योत, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, दुस्वर, अनादेय, अप्रशस्त विहायोगति, इस तरह २८ प्रकृतियोंका =२८ बन्ध नहीं होता है= ४१

इससे विदित होगा कि सम्यक्ती कभी अपर्याप्त नहीं पैदा होगा जिसकी आयु १ श्वासके अठारहवें भाग होती है, न वह

सूक्ष्म एकेंद्रिय होगा न वह बादर एकेंद्रियसे चौन्द्रिय तक होगा। यदि सम्यक्तके पहले नरक वा तिर्यंच आयु नहीं बांधी है तो वह कभी नरक व पशुगतिमें न जायगा, वह नपुंसक व स्त्रीवेदका बंध न करेगा, वह पुरुषके भेषमें ही उत्पन्न होगा, वह साधारण एकेन्द्रिय न होगा। वह सुन्दराकार व बलिष्ठ पैदा होगा। इसी तरह सम्यक्ती यदि उसी भवसे मोक्ष न जावे तौभी यदि सम्यक्तको दृढ़ रख सका तो वह साताकारी शुभ संयोगोंमें उत्पन्न होगा—मन सहित पंचेन्द्रिय होगा। उसके अनंतकाल भ्रमणका अवसर ही निकल जायगा, क्योंकि दीर्घकाल तक इस जीवको एकेन्द्रिय पर्यायमें भ्रमण करना पड़ता है। सम्यक्तीके जो बन्ध होगा वह मोक्षमार्गमें बाधक न होकर प्रायः निमित्त साधक होजायगा। यही सम्यक्ती यदि श्रावक होगा तो पांचवें गुणस्थानमें मोहनीयमें अप्रत्याख्यान ४ कषायका बन्ध नहीं करेगा। तथा मनुष्य गति सम्बन्धी प्रकृतियोंका भी बंध नहीं करेगा। यह मरके स्वर्गका उत्तम देव ही होगा। यदि यह साधु होजायगा तो छठे गुणस्थानमें ४ प्रत्याख्यानावरण कषायका भी बन्ध नहीं करेगा। यदि ध्यानस्थ अप्रमत्त गुणस्थानमें होगा तो असातावेदनीयादि ६ अशुभ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करेगा। यदि आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानमें गया तो देवायुका बन्ध नहीं करेगा। यदि नौमें अनिवृत्तिकरणमें पहुंचा तो नीचे प्रकार ३६ का बन्ध नहीं करेगा।

दर्शनावरण कर्ममें निद्रा व प्रचलाका	=२
मोहनीय कर्ममें—हास्य, रेति, भय, जुगुप्साका	=४
नामकर्ममें तीर्थंकर आदि ३० का	=३०
	३६

यदि १० वें गुणस्थानमें पहुंचा तो संज्वलन चार कषाय व पुरुषवेदका भी बन्ध नहीं करेगा। यदि १२ वेंमें पहुंचा तो मात्र सातावेदनीयका बन्ध रह जायगा जो १३ वें तक होगा फिर बंध नहीं। इससे साफ प्रगट है कि सम्यक्तीका बन्ध अबन्धहीके तुल्य है। यदि वह अशुभ परिणामोंसे असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंका बंध करता भी है तो उनमें स्थिति व अनुभाग बहुत अल्प होता है।

क्षायिक सम्यक्ती तो उसी जन्मसे या तीसरे जन्मसे या चौथे जन्मसे अवश्य मुक्त हो जाता है, उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त यदि छूट जावें तो अर्द्धपुद्गल परावर्तनके कालसे अधिक काल मुक्त जानेमें नहीं लगेगा। यह जीव इस अनादि जगतमें अनन्ते पुद्गल परावर्तन कर चुका है उनकी अपेक्षा अर्द्धपुद्गल परावर्तन बहुत ही अल्प है। यदि लगातार उपशमसे क्षयोपशम होजाय, बीचमें मिथ्यात्व न हो, तब बहुत थोड़े भव लेकर ही क्षायिक सम्यक्ती होकर शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेगा। सम्यक्ती निश्चयनयसे तो अपने आत्माको त्रिकाल बन्धसे रहित नित्य अबन्धक ही अनुभव करता है, परन्तु व्यवहारनयसे भले प्रकार जानता है कि यद्यपि मैं अनन्त संसार कारणी भूत कर्म नहीं बांधूंगा तथापि गुणस्थानोंके क्रमानुसार जितनी प्रकृतियोंका बन्ध जहां संभव है उतना बन्ध तो अवश्य होगा तथा यदि मैं अपनी कषाय तीव्र रक्खूंगा तो उन बंधनेवाली कर्म प्रकृतियोंमें दीर्घ स्थिति पड़ेगी व पापप्रकृतियोंमें तीव्र अनुभाग पड़ेगा। व पुण्य प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग पड़ेगा। और यदि मैं मंद कषाय

रक्खूँगा तो आयु कर्म सिवाय अन्य बंधने योग्य सर्व कर्म प्रकृतियोंमें स्थिति थोड़ी पड़ेगी व पापकर्मोंमें अनुभाग कम पड़ेगा व पुण्य प्रकृतियोंमें अनुभाग ज्यादा पड़ेगा ऐसा सिद्धांतका स्वरूप जानता हुआ वह सम्यक्ती अपने परिणामोंकी सम्हालमें सदा ही पुरुषार्थी रहेगा। अशुभ भावोंसे बचनेका उद्यम करेगा। शुद्ध भावोंका प्रेमी होगा। उन्हींकी अप्राप्तिमें व उन्हीं शुद्ध भावोंकी प्राप्तिके लिये शुभ भावोंमें वर्तन करेगा। वह सर्वदा अपनेको व्यवहारनयसे भी अबंधक मानकर स्वच्छन्द व्यवहार नहीं करेगा। स्वच्छन्द वर्तनको वह कषायका ही उदय समझेगा। तथापि स्वच्छन्द वर्तन मिथ्यात्वीके ही होगा।

मैं सम्यक्ती हूँ, मुझे तो परम विवेकसे व्यवहार करना चाहिये, मुझे तो नित्य प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य भावका अभ्यासी होना चाहिये। मुझे तो चौथेसे आगे चढ़ना है। मुझे अपने चारित्रको उज्वल व अहिंसक बनाना है। इस तरहकी भावना रखता हुआ वह सदा ही अपने भावको उच्च, उच्चतर व उच्चतम बनानेकी चेष्टामें लगा रहेगा—कभी भी उन्मत्त, आलसी व निश्चयाभासी या कुतर्की नहीं बनेगा। उसकी प्रवृत्ति ऐसी नहीं होगी जैसा कि समयसारकलशमें कहा है—

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः॥ ५-७॥
तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां।
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यावृतिः॥

अकामकृतकर्म्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां ।
द्वयं न हि विरुद्धयते किमु करोति जानाति च ॥४-८॥

भावार्थ-मैं स्वयं सम्यग्दृष्टी हूं, मुझे कभी बन्ध हो ही नहीं सक्ता (ऐसे निश्चयके एकांतको पकड़ कर) अनेक रागी जीव सम्यक्त न होते हुए भी सम्यक्तके होनेके घमण्डसे अपना मुँह फुलाए रहते हैं। ऐसे मिथ्यात्वी जीव चाहे जैसा आचरण पालो, पांच समितिमें भी वरतो तथापि वे अभीतक अज्ञानी, पापी, व वहिरात्मा हैं, क्योंकि उनको आत्मा व अनात्माका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ है। यद्यपि सम्यक्तीके अनंतानुबन्धी कषाय सम्बन्धी रागद्वेष मोह नहीं होता है तथापि उसको निरर्गल व स्वच्छन्द प्रवृत्ति अपनी नहीं रखनी चाहिये। ज्ञानी कभी स्वच्छन्द व्यवहार नहीं करता है। वह जानता है कि स्वच्छन्द वर्तन ही रागद्वेष मोहका कार्य है व यह अवश्य कर्म बन्धका कारण है। ज्ञानीके जो क्रिया विना रुचिके कर्मके उदयके वशसे होती है वही अनंत संसारकारिणी भूतबन्धकी करनेवाली नहीं है। वह क्रियाका स्वामी नहीं होता है। वह ज्ञाता दृष्टा रहता है। क्योंकि जो ज्ञाता रहेगा वह कर्ता न रहेगा, जो कर्ता होगा वह ज्ञाता नहीं रहेगा। दोनों भावोंमें बहुत विरोध है। मिथ्यादृष्टि जब क्रियाका कर्ता अपनेको मानता है तब सम्यग्दृष्टी मात्र अपनेको कर्मोदय जनित परिणतियोंका ज्ञाता दृष्टा ही मानता है।

सम्यक्तीकी दृष्टि आत्माके निज स्वभावपर जम जाती है। वह निज स्वभाव बन्ध व मोक्षकी कल्पनासे भी रहित है। वह वीतरागताका पुजारी होजाता है। वह सदा अपनेको बन्ध मुक्त

अनुभव करता है। तथापि वह अबुद्धि पूर्वक या अरुचिपूर्वक होनेवाले रागद्वेष मोह भावोंको जीतनेका गाढ़ उद्यम रखता है। वह भलेप्रकार जानता है कि सूक्ष्म लोभका अंश भी जो सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानवर्ती साधु महात्माको होता है—कर्म बन्धका कारण है। यद्यपि यह सब बन्ध छूट जायगा तौभी बंधको बढ़ाना अच्छा नहीं। बन्धका न होना व मिटना ही परम हितकर है। समयसारकलशमें कहा है:—

> सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं।
> वारम्वारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ॥
> उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
> न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥ ४-५ ॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टीने अपनी बुद्धिपूर्वक या रुचिपूर्वक होनेवाले सर्व रागको तो स्वयं छोड़ दिया है परन्तु जो रागादि भाव अबुद्धिपूर्वक पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे होजाते हैं उनको जीतनेके लिये अपना आत्मबल लगाता रहता है। वह सर्व परमें प्रवृत्तिको हटाता हुआ अपने आत्मज्ञानसे पूर्ण रहता है इसलिये वह ज्ञानी अपनी ज्ञानमई भूमिकाको सदा रखते हुए नित्य ही निरास्रव या निर्बन्ध होता है।

सम्यक्ती इस तत्त्वज्ञानको भले प्रकार जानता है। जैसा श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहते हैं—

> येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
> येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१॥

भावार्थ—जितने अँश एक समयवर्ती परिणाममें ज्ञान है उतने अंशमें उस महात्माके कर्मका बन्ध नहीं है। परन्तु जितने

अंश उसमें राग है उतने ही अंश उसके कर्मबन्ध होता है। राग स्वयं बन्ध रूप है इसलिये बन्धका कारण है। ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप है इसलिये वह बंधका कारण नहीं है। सम्यक्तो किस २ अपेक्षासे अबन्धक है इस तत्त्वको ठीकर समझना ही सम्यक्तका हेतु है।

अध्याय चौथा।

कर्मोंका बंध उदय सत्ता आदि वर्णन।

कर्म और आत्माका प्रवाह रूपसे अनादि सम्बन्ध है परन्तु नवीन कर्म संयोग होने व पुराने कर्मके वियोग होनेकी अपेक्षा कर्म और आत्माका सादि सम्बन्ध है। जहांतक मुक्ति न हो वहां-तक तैजस शरीर और कार्मण शरीरका सम्बन्ध साथ२ रहता है। तैजस शरीर बिजलीका शरीर है। यह कार्मण शरीरके कार्यमें अवश्य सहायक रहता है। निरर्थक नहीं होता है। तैजस शरीरमें भी नवीन तैजस वर्गणाएँ आकर मिलती हैं व पुरानी झड़ती जाती हैं। जगतमें अनेक प्रकारके पुद्गल स्कन्ध परमाणुओंके मिलनेसे बनते रहते हैं। उन्हींको वर्गणा कहते हैं। उन्हीं वर्गणाओंमेंसे एक कर्मवर्गणा है जिसमें तैजस वर्गणासे अनन्तगुणे परमाणु होते हैं। इसलिये उनमें तैजस शरीरकी अपेक्षा अनन्तगुणी अधिक शक्ति होती है। इन कर्मवर्गणाओंको आत्माके साथ संयोग करा-नेमें व संयोगको बनाए रखनेमें कारण योग और कषाय हैं।

मन वचन या कायकी प्रवृत्तिसे होते हुए आत्माके प्रदेशोंमें सकम्पपना होता है, साथ ही वह योगशक्ति जो आत्मामें है अपना

काम करने लगती है। योगोंका जितना बल होगा व जिसतरहका उनमें कषायके उदयसे रंग होगा अर्थात् योगकी प्रवृत्ति जो कषायके रंगसे मिली होती है जिसे लेश्या कहते हैं जैसी होगी उसीके अनुसार उतनी संख्याकी कम या अधिक कर्मप्रकृति रूप परिणमने-योग्य कर्मवर्गणाएं खिंचकर आजायगी और आत्माके प्रदेशोंमें ठहर जायगी या एक क्षेत्रावगाह होजायगी। जैसे आकाशमें धूला सर्वांग छा जाता है वैसे ये वर्गणाएं आत्माके सर्व प्रदेशोंमें छा जाती हैं। उनमें कितने कालतक ठहरनेकी शक्ति पड़ेगी व वे अपना फल मंद या तीव्र प्रगट करेंगी यह काम कषाय करती है। आयुकर्मके सिवाय सातकर्मोंकी स्थिति अधिक तीव्र कषायसे अधिक व मंद कषायसे कम पड़ेगी। आयुकर्ममें तीव्र कषायसे नरक आयुकी स्थिति अधिक व तिर्यंच मानव व देव आयुकी कम पड़ेगी तथा मंद कषायसे नरककी कम व अन्य तीनकी अधिक पड़ेगी।

मन्द कषायसे सर्व ही पुण्य प्रकृतियोंमें अनुभाग अधिक व पाप प्रकृतियोंमें कम पड़ेगा व तीव्र कषायसे पुण्य कर्मोंमें अनुभाग कम व पापमें अधिक पड़ेगा। पहले अध्यायमें बंध तत्त्वका वर्णन करते हुए कुछ कर्मके बन्धका स्वरूप कहा गया है। यहां विशेष स्पष्ट करनेके हेतुसे दिखलाया जाता है।

कषाय रहित योगसे जो कर्मवर्गणाएँ आती हैं वे मात्र सातावेदनीयरूप परिणमने योग्य आती हैं तथा एक समय मात्र स्थितिरूप होती हैं, दूसरे समयमें झड़ जाती हैं। कषायकी विचित्रता ही विचित्र कर्म बन्धको करनेवाली है। वास्तवमें मोहनीय कर्मका उदय ही नवीन बन्धका कारण है। अन्य किसी भी कर्मका

उदय बन्धका कारण नहीं है, यद्यपि बन्ध होनेमें सहकारी कारण हैं तथापि स्थिति व अनुभाग डालनेवाला उन कर्मोंको आत्मामें रोकनेवाला व अपना तीव्र या मन्द फल प्रगट करानेवाला मोह कर्मका अनुभाग है। दर्शन मोह और चारित्र मोह ही बन्धके साक्षात् कारण हैं। इनके अभावमें वास्तविक बन्ध होना रुक जाता है। और जब मोह कर्मका क्षय कर दिया जाता है तब शेष कर्म बहुत शीघ्र छूट जाते हैं। मोह रहित साधुके उस जीवनमें ही उनका क्षय होजाता है और वह उसी जन्मसे अवश्य मुक्त होता है।

कर्मोंकी दश विशेष अवस्थाएं होती हैं जिनको करण कहते हैं। (१) बंध—जब कर्मवर्गणाएं अपना पुद्गल नाम छोड़कर ज्ञानावरणादि नाम पाकर जीवके योग और मोहभावके कारण आत्माके साथ एक क्षेत्रमें ठहर जाती हैं, उनमें जीवके गुणोंको घातनेकी व साता व असाताकारी सम्बंधके मिलानेकी शक्ति होजाती है। इस कार्यको बन्ध करण कहते हैं। जिस समय कर्मोंका आस्रव होता है उसी समय उनका बन्ध होता है। बन्ध होते समय प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग चारों बातें एक साथ होजाती हैं। किस जातिके कर्म बंधे प्रकृति है। कितनी संख्या बंधी प्रदेश है। कितने कालकी मर्यादा पड़ी स्थिति है। कैसी तीव्र या मंद फलदान शक्ति पड़ी अनुभाग है।

(२) उत्कर्षण—किसी एक समयमें बांधे हुए कर्मोंमें जीवके परिणामके निमित्तसे स्थिति और अनुभागका बढ़ जाना सो उत्कर्षण करण है। जिस समय किसी पापकर्मको किया था उससे पापकर्मोंको बांधा था, पीछे यदि वह अपने किये हुए पापकर्मकी

बड़ी आत्म-प्रशंसा करता है और अपनी कषायको बढ़ा लेता है तो उस समयमें बांधे हुए पापकर्मकी स्थिति बढ़ जायगी तथा अनुभाग भी तीव्र होजायगा अर्थात् वह उत्कर्षण करण कर देगा।

(३) संक्रमण—एक कर्मकी प्रकृतिका बदल कर दूसरी प्रकृति रूप होजाना संक्रमण करण है। मूल आठ कर्मोंमें तो परस्पर संक्रमण नहीं होता है। हरएक मूल कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंमें संक्रमण होजाता है। जैसे मिथ्यात्व कर्मका मिश्रमें व मिश्रका सम्यक्तमें व साताका असातावेदनीयमें व असाताका सातावेदनीयमें, उच्च गोत्रका नीच गोत्रमें व नीच गोत्रका उच्च गोत्रमें। क्रोधका मानमें, मानका मायामें, मायाका लोभमें, इत्यादि। परन्तु मोहनीय कर्मके भीतर दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीयका परस्पर संक्रमण न होगा और न चारों प्रकारकी आयुका परस्पर संक्रमण होगा। जीवोंके परिणामोंके निमित्तसे किसी विशेष कर्मकी वर्गणाओंकी प्रकृति अन्य प्रकृति रूप पलट जाती है। जैसे किसीने किसीको दुःख पहुंचाया, कुछ कालके पीछे उसने उस अपनी प्रकृतिका बहुत ही पश्चाताप किया तथा उससे मन्द कषायवान होकर क्षमा मांगली तथा कुछ प्रायश्चित्त भी लिया, अपनी घोर निन्दा की और आत्मध्यान किया तथा भगवद्भक्ति की। तब इन शुभ परिणामोंके निमित्तसे वह उस असातावेदनीय कर्मकी वर्गणाओंकी प्रकृतिको संक्रमण करके सातावेदनीय रूप कर सक्ता है। अथवा किसीने अपनेमें न होते हुए गुणोंकी महिमा गाकर नीच गोत्रका बन्ध किया था, पीछे उसने अपनी इस कृतिकी निन्दा की तथा यह प्रण किया कि अब मैं ऐसी मिथ्या अभिमा-

नकी बात नहीं करूंगा तथा इस दोषका प्रायश्चित्त लेते हुए कुछ जाप पाठ किया व अरहंतका गुणानुवाद किया तब उसके शुभ भावोंके निमित्तसे नीच गोत्र प्रकृतिकी कर्म वर्गणायें उच्च गोत्र-रूप पलट जायगी।

(४) अपकर्षण–किसी समयमें बांधे हुए कर्मोंकी स्थिति व अनुभागको अपने परिणामोंके द्वारा घटा देना अपकर्षण है।

जैसे किसीने मनुष्य आयु १०० वर्षकी स्थिति व तीव्र अनुभाग सहित बांधी थी। पीछे उसके परिणामोंमें आयुबन्धके कालके समय कुछ मलीनता आगई। वैसी सरल ममता न रही या वैसा मार्दव भाव न रहा जैसे पहले आयुबंधके समयमें था तो वह जीव मनुष्य आयुकी स्थिति घटाकर १० वर्षकी कर देगा व अनुभाग भी कम होजायगा। श्रेणिक महाराजने सातवें नरककी तेतीस सागर आयु बांधी थी। पीछे क्षायिक सम्यक्ती हो जानेपर आयु कर्मका अपकर्षण कर डाला अर्थात् वह नरक आयु मात्र ८४००० वर्षकी ही रह गई।

(५) उदीर्णा–जो कर्म अभी पकनेवाले नहीं हैं अर्थात् जिनकी स्थिति अधिक है उनकी स्थिति घटाकर उन कर्मोंको अपने समयके पहले ही उदयकी आवली कालके भीतर रख देना जिससे वे कर्म जो पीछे फल देते वे शीघ्र ही फल देने लग जावें, इस अवस्थाको उदीर्णा कहते हैं। जैसे किसीको अन्नादि न मिलनेसे तीव्र क्षुधाकी बाधा सता रही है, उस समय असातावेदनीय कर्मकी कुछ वर्गणाओंकी उदीरणा होने लगती है अर्थात् वे अपने समयके पहले ही उदय होकर फल प्रगट करने लगती हैं। अथवा

भोगी जानेवाली आयुकर्मकी उदीरणा उस समय किसी जीवके होजाती है जब वह विष खाकर, अग्निमें जलकर व श्वास निरोध आदि कारणोंसे मरण कर जावे। तब आयुकर्मकी सर्व वर्गणाएं एकदम उदयमें आकर गिर जाती हैं और इस प्राणीको वह शरीर छोड़ना पड़ जाता है।

(६) सत्त्व या सत्ता—कर्मोंका बंध होजाने पर जबतक वे कर्म उदय, उदीर्णा या निर्जराको न पाकर आत्माके प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रूप बैठे रहें, उनकी इस मौजूदगीको सत्त्व या सत्ता कहते हैं।

(७) उदय—कर्मोंका अपनी स्थिति पूरी होते हुए उदय आना या फल दिखाकर झड़ जाना। बहुधा कर्म जो अपनी स्थिति पूरी होनेपर उदय आते हैं, बाहरी द्रव्य क्षेत्र काल भावका निमित्त न पाकर बिना फल दिखाए झड़ जाते हैं। यदि निमित्त अनुकूल होता है तो फल दिखाकर झड़ते हैं। यह बात पहले दिखाई जा चुकी है कि कर्म बन्धनेके पीछे आबाधा काल छोड़कर शेष अपनी सर्व स्थितिमें बंट जाते हैं। और इसी बटवारेके अनुसार समय२ झड़ते रहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषायोंका बन्ध तो एक साथ होसक्ता है परन्तु उदय एकका ही एक समय होता है। इसका भाव यह है कि चारों कषायोंकी वर्गणाएं हर समय अपने बटवारेके अनुसार झड़ती हैं परन्तु जिसका बाहरी निमित्त होता है उसका उदय कहलाता है। यद्यपि उनकी वर्गणाएं भी झड़ती अवश्य हैं, इसी तरह और कर्मोंमें भी अवस्था होती है। इसीलिये जो कर्मफल प्रगट कर गिरते

हैं उनके उदयको रसोदय कहते हैं। जो विना फल प्रगट किये हुए झड़ते हैं उनके उदयको प्रदेशोदय कहते हैं। ये शब्द भी व्यवहारमें प्रचलित हैं।

(८) उपशांत या उपशम–कर्मवर्गणाओंको उदय कालमें आनेको अशक्य कर देना सो उपशांत या उपशम है। जैसे मिथ्यात्व कर्मका उदय बराबर जारी है, उस कर्मके उदयको कुछ कालके लिये रोक देना या दबा देना सो उपशम है।

(९) निधत्ति–जिन कर्मोंका ऐसा बन्ध हो कि उनको न तो संक्रमण किया जासके और न उनको शीघ्र उदयमें लाया जा सके। यद्यपि उनमें स्थिति व अनुभागका उत्कर्षण या अपकर्षण होसक्ता है, उन कर्मोंकी ऐसी अवस्थाको निधत्ति कहते हैं।

(१०) निकाचित–जिन कर्मोंका ऐसा बन्ध हो कि उनको न तो संक्रमण किया जासके न शीघ्र उदयमें लाया जासके न उनमें स्थिति या अनुभागका उत्कर्षण या अपकर्षण होसके अर्थात् वे जैसे बंधे थे वैसे ही फल देकर झड़ें, उन कर्मोंकी ऐसी दशाको निकाचित कहते हैं।

अब हमें यह विचारना चाहिये कि एक जीव एक समयमें कितनी प्रकृतियोंका बन्ध करता है। कितनी प्रकृतिमें उसके एक समयमें उदय आती हैं। व कितनी उसकी सत्तामें रहती हैं। एक जीवके एक समयमें जितनी प्रकृतियोंका समूह होता है उसको स्थान कहते हैं।

बंध–यदि हम मूल आठ कर्मोंमें विचार करें तो पहले गुणस्थानसे लेकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक बीचमें

तीसरे मिश्र गुणस्थानको छोड़कर अर्थात् १, २, ४, ५, ६ व ७ इन छः गुणस्थानोंमें जब आयुकर्मका बन्ध होगा तो एक साथ आठों कर्म बंधेंगे किन्तु आयुकर्मके बन्ध विना मात्र सात कर्म बन्धेंगे। तीसरे मिश्र गुणस्थानमें, आठवें अपूर्णकरण व नौमें अनिवृत्तिकरणमें आयु विना सात कर्म ही एक साथ बन्धेंगे। दूसवें सुक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका बंध न होगा। इसलिये आयु और मोह विना छः ही कर्म एक साथ बन्धेंगे। ११वें, १२वें व १३वें गुणस्थानमें मात्र एक वेदनीय कर्मका ही बन्ध होगा। इसलिये सामान्य मूल प्रकृतियोंके बन्धस्थान चार होंगें (८ या ७ यां ६ या १)

उदय-मूल प्रकृतियोंके उदय स्थान तीन होंगे-(८ या ७ या ४)-१० वें गुणस्थान तक आठों कर्मोंका उदय रहता है ११ वें या १२ वेंमें मोहको छोड़कर ७ का ही उदय रहता है फिर १३ वें व १४ वेंमें मात्र ४ अघातिका ही उदय रहता है।

उदीरणा-वेदनीय तथा आयुकर्मकी उदीरणा छठे गुणस्थान तक, मोहनीयकी १०वें तक, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मकी १२ वें तक व नाम व गोत्र कर्मकी १३ वें तक उदीरणा होती है।

सत्ता-११ वें उपशांत कषाय तक आठों कर्मोंकी सत्ता रहती है। वारहवेंमें मोह विना सात कर्मोंकी, फिर १३वें व १४ वेंमें मात्र चार अघाति कर्मोंकी सत्ता रहती है। इसलिये सत्ताके स्थान तीन हैं (८ या ७ या ४)।

अब हम आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंपर विचार करें तो

प्रत्येक कर्मोंकी प्रकृतियोंका एक समयमें एक जीवके गुणस्थानोंकी अपेक्षा बन्ध, उदय व सत्ता नीचे प्रकार होगा–

(१) ज्ञानावरणीय कर्म–इसकी पांच उत्तर प्रकृतियां हैं। प्रथम गुणस्थानसे दसवें गुणस्थान तक पांचों ही प्रकृतियोंका बन्ध हर समय होता है तथा इन पांचोंहीका उदय प्रथम गुणस्थानसे बारहवें तक हर समय रहता है और तब ही तक इन पांचोंकी सत्ता रहती है।

ज्ञानावरणकी ५ प्रकृति	बंध	उदय	सत्ता
	१से १० तक	१से १२ तक	१ से १२ तक

(२) दर्शनावरण कर्म–इसकी ९ उत्तर प्रकृतियां हैं। इसके बंध स्थान तीन होंगे (९ या ६ या ४)। प्रथम और दूसरे गुणस्थानमें ९ का बन्ध हर समय होगा, फिर तीसरेसे लेकर अपूर्वकरण आठवें गुणस्थानके प्रथम भाग तक स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला इन तीन विना ६का बंध होगा। फिर अपूर्वकरणके दूसरे भागसे लेकर १० वें गुणस्थान तक निद्रा व प्रचला विना मात्र ४ का ही बंध होगा अर्थात् चक्षु द०, अचक्षु द०, अवधि द० और केवल द०। दर्शनावरण कर्मके उदय स्थान दो हैं (४ या ५)। जागते हुए जीवके पहले गुणस्थानसे लेकर बारहवें तक मात्र चारका उदय होगा–किसी निद्राका उदय न होगा। निद्रावान जीवके पहलेसे छठे प्रमत्तगुणस्थान तक ४ के सिवाय ५ निद्रामेंसे एक किसी निद्राका उदय भी होगा। फिर सातवेंसे क्षीण कषाय बारहवें गुणस्थानके द्विचरम समय (आखरी

दो समय पहले) तक निद्रित अवस्थामें निद्रा व प्रचलामेंसे किसी एकका भी उदय होगा। दर्शनावरण कर्मके सत्ता स्थान तीन हैं-(९ या ६ या ४)। प्रथम गुणस्थानसे लेकर नौमें अनिवृत्तिकरणके प्रथम भाग तक ९ की सत्ता रहेगी। फिर स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्रा निकल जायगी, मात्र ६ की सत्ता क्षीणकषायके द्विचरम समय तक रहेगी, फिर क्षीणकषायके अन्त समयमें ४ की ही सत्ता रहेगी।

दर्शनावरण कर्म।

बंध स्थान	९ सासादन तक	६ अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक	४ सूक्ष्मसांपराय तक
उदय स्थान	जागृतके ४ १से १२ तक	निद्रितके ५, छठे तक ५, निद्रामेंसे १, फिर क्षीणकषाय द्विचरम समयतक निद्रा प्रचलामेंसे एकका	
सत्ता स्थान	९का क्षपक नौमेंके प्रथम भाग तक	६ का १२ वें के द्विचरम समय तक	४का क्षीणकषाय के अन्त तक

(३) मोहनीय कर्म-

(१) बंध स्थान-दस हैं (२२, २१, १७, १३, ९, ५, ४, ३, २, १)।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थानमें-२२ के बंध स्थान ६ प्रकारके हैं-१६ कषाय + १ मिथ्यात्व + २ भय जुगुप्सा=१९ का ध्रुवबंध होता है। हास्य रतिका तथा शोक अरतिका इन दो जोड़ोंमेंसे एक समय एकका बंध होगा तथा तीन वेदोंमेंसे एक समय एकका बंध होगा तब ६ भंग हरएक २२ के स्थानके इस तरह होंगे।

१—१९ + हा० र० + पुंवेद=२२

२—१९ + शो० अ० + पुंवेद=२२

३—१९ + हा० र० + स्त्रीवेद=२२

४—१९ + शो० अ० + स्त्रीवेद=२२

५—१९ + शो० र० + न०वेद=२२

६—१९ + शो० अ० + न०वेद=२२

अर्थात्—कोई मिथ्यादृष्टी जीव १६ कषाय + १ मिथ्यात्व + २ भय, जुगुप्सा + २ हास्य रति + १ पुं०वेद=२२ इस तरह २२ का एक काल बन्ध करेगा। कोई हास्य रतिके स्थानमें शोक अरतिको मिलाकर २२ का बन्ध करेगा। इसी तरह पुंवेदके स्थानमें स्त्रीवेदका व नपुंसक वेदका बन्ध करेगा। इसतरह ६ तरहसे २२ का बन्ध प्रथमगुणस्थानी करेगा।

(२) सासादन गुणस्थानके—२२ मेंसे एक मिथ्यात्वका बन्ध निकल जायगा। अतएव वह २१ का बन्ध एक समय करेगा। यहां नपुंसक वेदका बन्ध नहीं होता है मात्र पुंवेद व स्त्रीवेदका बन्ध होता है। इसलिये इस गुणस्थानमें २१ स्थानके ४ भंग इस तरह होंगे—

(१) १८ ध्रुवबन्ध + हा० रति + पुंवेद=२१

(२) १८ ध्रुवबन्ध + शो० अ० + पुंवेद=२१

(३) १८ ध्रुवबन्ध + हा० रति + स्त्रीवेद=२१

(४) १८ ध्रुवबन्ध + शो० अ० + स्त्रीवेद=२१

(३) मिश्र गुणस्थान-में २१ मेंसे चार अनन्तानुबंधी कषाय निकल जायगी, मात्र १७ का ही बंध होगा। ध्रुव १८ मेंसे ४

अनन्तानुबंधी कषायके जानेसे ध्रुव १४ रही। यहां मात्र पुंवेदका ही बंध होता है। इसलिये हास्यादि युगलकी अपेक्षा यहां १७ के दो ही भंग होंगे। इस तरह—

(१) १४ ध्रुवबंध + हा० + रति+पुंवेद=१७

(२) १४ ध्रुवबंध + शोक + अर०+पुंवेद=१७

(४) अविरत सम्यक्त—यहां भी मिश्र गुणस्थानके समान १७ का ही बंध दो तरहसे होगा जैसा मिश्रमें कहा है।

(५) देशविरत—यहां १७ मेंसे ४ अप्रत्याख्यानावरण कषाय निकल जायगी, मात्र १३ का ही बन्ध होगा।

ध्रुवबन्ध १४ मेंसे ४ अप्र० क० निकलनेसे ध्रुवबन्धवाली १० रह गई। हास्यादि युगलकी अपेक्षा यहांके दो भंग इस तरह होंगे।

(१) १० ध्रुवबन्ध + हा० + रति + पुं० वेद=१३

(२) १० ध्रुवबन्ध + शो०+अर० + पुं० वेद=१३

(६) प्रमत्तविरत—यहां १३ मेंसे प्रत्याख्यानावरण ४ कषाय निकल जायगी मात्र ९ का बन्ध होगा। ध्रुव १० मेंसे ४ प्र० क० जानेसे ध्रुवबन्धवाली ६ रह गई। हास्यादि युगलकी अपेक्षा ९के दो भंग इस तरह होंगे।

(१) ६ ध्रुवबन्ध + हा० + रति + पुंवेद=९

(२) ६ ध्रुवबन्ध + शो० + अर० + पुंवेद=९

(७) अप्रमत्तविरत—यहां भी ९का बन्ध होगा परन्तु शोक व अरति युगलका बन्ध यहां नहीं होगा। उनका बन्ध छठे तक ही होता है। तब ९ का एक ही भंग इस तरह होगा।

(१) ६ ध्रुवबन्ध + हा० + रति + पुंवेद=९

(८) अपूर्वकरण—यहां भी सातवें गुणस्थानकी तरह ९ का बन्ध एक प्रकार होगा। इसके आगे हास्य रति भय जुगुप्सा इन चारका बन्ध नहीं होता है।

(९) अनिवृत्तिकरण (१) भाग—यहां ९ मेंसे हास्यादि ४ निकल जानेसे ५ का ही बन्ध एक प्रकार होगा—४ सं० क० + १ पुंवेद=५.

(९) अनिवृत्ति क० (२) भाग—यहां पुंवेदका बन्ध न होगा, मात्र ४ संज्वलन कषायका बन्ध एक प्रकार होगा=४.

(९) अनिवृत्ति क० (३) भाग—यहां क्रोध कषायका बन्ध न होगा मात्र तीन संज्व० क० का बन्ध एक प्रकार होगा=३.

(९) अनिवृत्ति क० (४) भाग—यहां मान कषायका बन्ध न होगा मात्र २ सं० क० का बन्ध एक प्रकार होगा=२.

(९) अनिवृत्ति क० (५) भाग—यहां माया कषायका बन्ध न होगा मात्र १ सं० लोभका बन्ध १ प्रकार होगा=१.

मोहनीय कर्मका बन्ध नौमें गुणस्थान तक होता है, आगे नहीं होता है। १० बंन्धे स्थान पहले गुणस्थानसे नौमें तक संभव हैं।

(२) उदय स्थान—मोहनीय कर्मके उदय स्थान नौ ९ होते हैं (१०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, २, १)।

मोहनीय कर्मकी उदय योग्य २८ प्रकृतियोंमेंसे दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियोंमेंसे एक समय एकका उदय होता है। क्रोध, मान, माया, लोभमें एक समय एकका ही उदय होगा। यद्यपि अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन क्रोध या मान

या माया या लोभका उदय एक काल होसक्ता है। हास्य रतिका एक साथ या शोक अरतिका एक साथ उदय होता है। तीन वेदोंमेंसे एक समय एक वेदका उदय होता है। भय व जुगुप्साका एक साथ उदय होसक्ता है या भयका अकेले या जुगुप्साका अकेले उदय होसक्ता है या किसीके भय व जुगुप्सा किसीका भी उदय नहीं होसक्ता है।

(१) मिथ्यात्त्व गुणस्थान–इसमें अनन्तानुबन्धी कषाय सहित जीवके चार उदय स्थान १०, ९, ९, ८, के इसप्रकार होंगे–

(१) १ मिथ्यात्त्व + ४ अनं० आदि क्रोध + १ पुंवेद + हास्य, रति + भय, जुगुप्सा=१०। इसके भंग या भेद २४ होंगे।

४ क्रोधादि × ३ वेद × २ हास्यादि युगल　　　　=२४

इन २४ को नीचे प्रकार दिखा सक्ते हैं–

(१) मि० + ४ अ० क्रो० + १ पुंवेद+हा०र०+भ०जु=१०

(२) मि० + ४ अ० मान + १ पुंवेद+हा०र०+भ०जु=१०

(३) मि० + ४ अ० माया + १ पुंवेद+हा०र०+भ०जु=१०

(४) मि० + ४ अ० लोभ + १ पुंवेद+हा०र०+भ०जु=१०

(५) मि० + ४ अ० क्रोध + १ स्त्रीवेद+हा०र०+भ०जु=१०

(६) मि० + ४ अ० मान + १ स्त्रीवेद+हा०र०+भ०जु=१०

(७) मि० + ४ अ० माया + १ स्त्रीवेद+हा०र०+भ०जु=१०

(८) मि० + ४ अ० लोभ + १ स्त्रीवेद+हा०र०+भ०जु=१०

(९) मि० + ४ अ० क्रोध + १ नपुं.वेद+हा०र०+भ०जु=१०

(१०) मि० + ४ अ० मान + १ नपुं.वेद+हा०र०+भ०जु=१०

(११) मि० + ४ अ० माया + १ नपुं.वेद+हा०र०+भ०जु=१०

(१२) मि० + ४ अ० लोभ + १नपु.वेद+हा०र०+भ०जु=१०

हास्य रतिकी अपेक्षा जैसे १२ भंग हुए वैसे हास्य रतिके स्थानपर शोक अरति बदलनेसे १२ भंग होंगे। इस तरह १०के स्थानके २४ भंग होंगे, इसी तरह आगे भी समझ लेना चाहिये।

(२) १ मि० + ४ अनं० आदि क्रोध + १ पुंवेद + २ हा० र० + १ भय =९

इस ९ स्थानके भी २४ भंग होंगे-

४ कषाय × ३ वेद × २ हास्यादि युगल =२४

(३) १ मि० + ४ अ० क्रोध + १ पुंवेद + २ हा० र० + १ जुगुप्सा =९

इसके भी २४ भंग होंगे—

४ कषाय × ३ वेद × २ युगल हास्यादि =२४

(४) १ मि० + ४ अ० क्रोध+१ पुंवेद + २ हा० र० =८

इसके भी २४ भंग होंगे—

४ क० × ३ वेद × २ युगल हास्यादि =२४

कोई जीव जो अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन कर चुका है अर्थात् अन्य १२ कषाय व ९ नो कषायरूप बदल चुका है, उपशम श्रेणीसे गिरकर मिथ्यात्व गुणस्थानमें आता है तब उसके एक आवली तक अनन्तानुबंधीका उदय नहीं रहता है। ऐसी दशामें मिथ्यात्व गुणस्थानमें चार उदय स्थान होंगे। ९, ८, ८, ७ वे इस प्रकार होंगे—

(१) १ मि० + ३ अप्रत्या० आदि क्रोध + १ पुंवेद + २ हा० र० + भ० जु० =९

इसके भंग २४ होंगे—

४ क० × ३ वेद × २ हास्यादि युगल =२४

(२) १ मि० + ३ अप्रत्या० क्रोध + १ पुंवेद + २ हा० र० + १ भय =८

अंग ४ क० × ३ वेद + २ युगल=२४ होंगे—

(३) १ मि० + ३ अप०क्रोध+१ पुंवेद +२ हा०र०+१जु०=८

अंग–४ क० × ३ वेद × २ युगल=२४ होंगे।

(४) १ मि० + ३ अप्र०क्रोध + १ पुंवेद + २ हा० र० =७

अंग–४ क० × ३ वेद × २ युगल=२४ होंगे—

(२) सासादन गुणस्थान–यहां मिथ्यात्त्वका उदय न होगा जब कि अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होगा। इसके उदय स्थान चार (९, ८, ८, ७) इस तरह पर होंगे—

(१) ४ अ० आदि क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० +भ०जु०=९

(२) ४ अ० आदि क्रोध + १ पुंवेद + हा० र० + भय =८

(३) ४ अ० आदि क्रोध + १ पुंवेद + हा० र० +जुगु०=८

(४) ४ अ० आदि क्रोध + १ पुंवेद + हा० र० + ० =७

भंग हरएकके ४ क०×३ वेद × २ युगल हा०=२४ होंगे–

(३) मिश्र गुणस्थान–यहां मिश्र दर्शन मोहका उदय होगा परन्तु अनन्तानुवन्धी कषायका उदय न होगा। इसके उदय स्थान चार (९, ८, ८, ७) इस तरह पर होंगे—

(१) मिश्र + ३ अप्र०क्रोध + पुंवेद + हा०र० + भ०जु०=९

(२) मिश्र + ३ अप्र०क्रोध + पुंवेद + हा०र० + भय =८

(३) मिश्र + ३ अप्र० क्रो० + १ पुंवेद+हा० र०+जु०=८

(४) मिश्र + ३ अप्र० क्रो० + १ पुंवेद + हा० र० =७

भंग हरएकके ४ क० × ३वेद × २ युगल हा०=२४ होंगे।

(४) अविरत सम्यक्त गुणस्थान—

यहां वेदक सम्यक्त सहित जीवके सम्यक्त मोहनीयका उदय होगा। इस अपेक्षा चार उदय स्थान होंगे (९, ८, ८, ७) वे इस तरह होंगे—

(१) सम्य० + ३ अप्र० क्रोध + १ पुंवेद+हा०र०+भ० जु=९

(२) सम्य० + ३ अप्र० क्रोध + १ पुंवेद+हा०र०+भय =८

(३) सम्य० + ३ अप्र० क्रोध + १ पुंवेद+हा०र०+जुगु =८

(४) सम्य० + ३ अप्र० क्रोध + १ पुंवेद+हा०र० =७

भंग हरएकके ४ क० × ३ वेद × २ युगल हा०=२४ होंगे।

जो जीव औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टी होंगे उनके सम्यक्त मोहनीयका उदय नहीं होगा। तब बंध स्थान चार होंगे (८, ७, ७, ६) वे इस तरहपर होंगे—

(१) ३ अप्र०क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० +भ०जुगु० =८

(२) ३ अप्र०क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० +भय =७

(३) ३ अप्र०क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + जुगु० =७

(४) ३ अप्र०क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० =६

इसमें भी भंग हरएकके ४ क० × ३ वेद × २ युगल=२४ होंगे—

(५) देशविरत गुणस्थान—यहां अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदय न होगा। वेदक सम्यक्तकी अपेक्षा सम्यक्त मोहनीयका उदय होगा इस अपेक्षा उदय स्थान चार होंगे (८, ७, ७, ६) सो इस तरह होंगे—

(१) १ सम्य० + २ प्र०क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + भ०जु०=८
(२) १ सम्य० + २ प्र०क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + भय =७
(३) १ सम्य० + २ प्र०क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + जु०=७
(४) १ सम्य० + २ प्र०क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० =६

यहां भी हरएकके ४ क० × ३ वेद × २ युगल हास्य =२४ भंग होंगे।

औपशमिक तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टीके सम्यक्त प्रकृतिका उदय नहीं होगा। इस अपेक्षा चार उदय स्थान होंगे (७, ६, ६, ५) वे इस तरह होंगे—

(१) २ प्र० क्रोध + पुंवेद + हा० र० + भ० जु० =७
(२) २ प्र० क्रोध + पुंवेद + हा० र० + भय =६
(३) २ प्र० क्रोध + पुंवेद + हा० र० + जुगु० =६
(४) २ प्र० क्रोध + पुंवेद + हा० र० + =५

इसमें भी हरएकके २४ भंग होंगे—४ क० × ३ वेद × २ युगल हा० =२४

(८) प्रमत्तविरत गुणस्थान—यहां प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय न होगा। वेदक सम्यक्तकी अपेक्षा उदय स्थान चार (७, ६, ६, ५) इस तरह पर होंगे—

(१) १ सम्य० + १ सं०क्रोध १ पुंवेद + हा०र०+भ०जु=७
(२) १ सम्य० + १ सं०क्रोध १ पुंवेद + हा०र०+भय =६
(३) १ सम्य० + १ सं०क्रोध १ पुंवेद + हा०र०+जु० =६
(४) १ सम्य० + १ सं०क्रोध १ पुंवेद + हा०र०+० =५

औपशमिक व क्षायिक सम्यक्तीके उदय स्थान चार होंगे (६, ५, ५, ४) वे इस तरहपर होंगे—

(१) १ सं० क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + भय जु० =६
(२) १ सं० क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + भय =५
(३) १ सं० क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + जुगु० =५
(४) १ सं० क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + =४

इन आठों उदयस्थानोंके प्रत्येकके भंग ४ क० × ३ वेद × २ युगल=२४ होंगे।

(७) अप्रमत्तविरत गुणस्थान—यहां भी प्रमत्तविरतके समानउदय स्थान (७, ६, ६, ५) और (६, ५, ५, ४) होंगे।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—यहां औपशमिक व क्षायिक सम्यक्त ही होगा। उदय स्थान चार होंगे (६, ५, ५, ४) वे इस तरह होंगे।

(१) १ सं० क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + भ० जु० =६
(२) १ सं० क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + भय =५
(३) १ सं० क्रोध + १ पुंवेद + हा०र० + जुगु० =५
(४) १ सं० क्रोध + १ पुवेद + हा०र० + =४

प्रत्येकके भंग ४ क० × ३ वेद × २ युगल=२४ होंगे।

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—इसके प्रथम भागमें ही हास्यादि ६ नोकषायका उदय नहीं। उदय स्थान एक २का होगा।

१ सं० क्रोध + १ पुंवेद=२

भंग ४ क० × ३ वेद=१२ होंगे।

यहां ५ प्रकृतिका जहां बन्ध है वहां भी २ उदय स्थान हैं तथा ४ प्रकृतिका जहां बन्ध है वहां भी २ उदय स्थान हैं। इसलिये दोनों बन्ध स्थानोंकी अपेक्षा २४ भंग होंगे। अनिवृत्तिकरणके द्वितीय भागमें वेदका उदय नहीं तब १ कषायका एक उदय स्थान होगा परन्तु चारों कषायोंका उदय होनेसे ४ भंग होंगे। फिर क्रोधका उदय बन्द होजानेसे ३ कषायका उदय भिन्न२ समय होनेसे ३ भंग होंगे। फिर मानका उदय न रहनेसे २ कषायका भिन्न२ समय उदय होनेसे २ भंग होंगे। फिर मायाका उदय न होनेसे मात्र लोभका उदय होनेसे १ भंग होगा।

(१०) सूक्ष्म लोभ गुणस्थान—यहां १ सूक्ष्म लोभका उदय होनेसे एक भंग होगा। आठवें गुणस्थान तक कुल उदय स्थान होंगे—८+४+४+८+८+८+८+४=५२ हरएकके २४ भंग होनेसे ५२×२४=१२४८ भंग हुए। नौमें गुणस्थानके भंग होंगे १२+१२+४+३+२+१=३४ तथा दसवें गुणस्थानका १ भंग होगा, तब मोहनीय कर्मके सब भंग होंगे। १२४८+३४+१ =१२८३।

(३) सत्व या सत्ता स्थान—

मोहनीय कर्मके सत्ता स्थान १५ होंगे—(१) कुल २८ का (२) सम्यक्त प्रकृति विना २७ का (३) मिश्र प्रकृति विना २६ का (४) २८में ४ अनन्तानुबंधी न रहनेसे २४का (५) मिथ्यात्व कर्मके क्षयसे २३ का (६) मिश्र कर्मके क्षयसे २२ का (७) सम्यक्त प्रकृतिके क्षयसे २१का (८) अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान

आठ कषायोंके क्षयसे १३ का (९) षंढ या स्त्रीवेदके क्षयसे १२ का (१०) षंढ या स्त्रीवेदके क्षयसे ११ का (११) हास्यादि छः नोकषायके क्षयसे ५ का (१२) पुंवेदके क्षयसे ४ का (१३) क्रोधके क्षयसे ३ का (१४) मानके क्षयसे २ का (१५) मायाके क्षयसे १ लोभका। गुणस्थानोंकी अपेक्षा सत्ता इस तरह पर रहेगी—

नाम गुणस्थान	सत्ता स्थान
१ मिथ्यात्व	२८, २७, २६
२ सासादन	२८
३ मिश्र	२८, २४
४ अविरत	२८, २४, २३, २२, २१
५ देशविरत	२८, २४, २३, २२, २१
६ प्रमत्त	२८, २४, २३, २२, २१
७ अप्रमत्त	२८, २४, २३, २२, २१
८ अपूर्वकरण	उपशममें २८, २४, २१ क्षपकमें २१
९ अनिवृत्ति क०	उपशममें २८, २४, २१ क्षपकमें २१, १३, १२ ११, ५, ४, ३, २, १
१० सू० सां०	उपशममें २८, २४, २१, क्षपकमें १
११ उपशांत	२८, २४, २१,

मोहनीय कर्मका गुणस्थानापेक्षा बंध उदय, सत्त्व स्थान।

गुण०	बंध स्थान १०	उदय स्थान ९	सत्त्व स्थान १५
१	२२	१०, ९, ९, ८ व ९, ८, ८, ७ अथवा १०, ९, ८, ७	२८, २७, २६
२	२१	९, ८, ८, ७ अथवा ९, ८, ७	२८
३	१७	९, ८, ८, ७ अथवा ९, ८, ७	२८, २४
४	१७	९, ८, ८, ७, व ८, ७, ७, ६, अथवा ९, ८, ७, ६	२८, २४, २३ २२, २१
५	१३	८, ७, ७, ६ व ७, ६, ६, ५ अथवा ८, ७, ६, ५	२८, २४, २३ २२, २१
६	९	७, ६, ६, ५ व ६, ५, ५, ४ अथवा ७, ६, ५, ४	२८, २४, २३ २२, २१
७	९	"	२८, २४, २३ २२, २१
८	९	६, ५, ५, ४ अथवा ६, ५, ४	२८, २४, २१
९	५, ४, ३, २, १	२, १	२८, २४, २१ १३, १२, ११ ५, ४, ३, २, १
१०	०	१	२८, २४, २१, १
११	०	०	२८, २४, २१

(४) नामकर्म—

(१) बंध स्थान—सर्व आठ होते हैं—२३, २५, २६, २८, २९, ३०, ३१, १ अर्थात् ९३ प्रकृतियोंमेंसे एक जीव एक समयमें २३ या २५ या २६ आदि १ तक बांधेगा।

(१) २३ का स्थान–तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादि ४ = ये ९ प्रकृतियां ध्रुव कहलाती हैं, सबके बन्धती हैं।

स्थावर, अपर्याप्त, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, छःमेंसे एक कोई संस्थान, बादर सूक्ष्ममेंसे १, प्रत्येक साधारणमेंसे १, स्थिर अस्थिरमेंसे १, शुभ अशुभमेंसे १, सुभग दुर्भगमेंसे १, आदेय अनादेयमेंसे १, यश अपयशमेंसे १=१४। १४+९=२३ प्रकृति अपर्याप्त एकेन्द्रिय सहित ही बन्धती हैं।

(२) २५ का स्थान–नं० (१)–ऊपर २३ मेंसे अपर्याप्त घटाके तथा पर्याप्त, उच्छ्वास और परघात मिलानेसे २५ प्रकृति एकेन्द्रिय पर्याप्त सहित ही बन्धती हैं।

(नं० २)–ऊपर २५मेंसे स्थावर, पर्याप्त, एकेन्द्रिय, उछ्वास, परघात इन ५को निकालकर त्रस, अपर्याप्त, दोन्द्रिय, एक संहनन, औदारिक अंगोपांग इन ५ को मिलानेसे २५ का बन्ध द्वेन्द्रिय अपर्याप्त सहित होगा।

(नं० ३)–ऊपर २५ मेंसे द्वेंद्रिय जाति निकालकर तेंद्रिय जाति मिलानेसे तेंद्रिय अपर्याप्त सहित २५ का बंध होगा।

(नं० ४)–ऊपर २५ मेंसे तेंद्रिय निकालके चौंद्रिय मिलानेसे चौंद्रिय अपर्याप्त सहित २५ का बन्ध होगा।

(नं० ५)–ऊपर २५मेंसे चौंद्रिय निकालके पंचेंद्रिय मिलानेसे पंचेंद्रिय तिर्यंच अपर्याप्त सहित २५ का बन्ध होगा।

(नं० ६)-ऊपर २९मेंसे तिर्यंच गति व तिर्यंच गत्यानुपूर्वी निकालके मनुष्यगति व मनुष्य गत्यानुपूर्वी मिलानेसे मनुष्य अपर्याप्त सहित २९ का बन्ध होगा।

(३) २६ का स्थान-(नं० १)-ऊपर २९ मेंसे त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, संहनन, अँगोपांग इन ७ को निकालनेसे और स्थावर, पर्याप्त, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्या०, एकेंद्रिय, उछ्वास, परघात व आतप इन ८ को जोड़नेसे २६ का बंध स्थान एकेंद्रिय पर्याप्त आतप सहित होगा (नं० १) ऊपर २६ मेंसे आतप निकालके उद्योत मिलानेसे २६ का स्थान एकेंद्रिय पर्याप्त उद्योत सहित होगा।

(४) २८ का बन्ध स्थान-(नं० १) ९ ध्रुवबन्ध+त्रस,+बादर+पर्याप्त+प्रत्येक+स्थिर व अस्थिरमेंसे १ + शुभ अशुभमेंसे १+सुभग+आदेय+यश अयशमेंसे १+देवगति+देवगत्यानुपूर्वी,+पंचेन्द्रिय+वैक्रियिक शरीर+प्रथम संस्थान+वैक्रियिक अंगोपांग+सुस्वर+प्रशस्त विहायोगति+उछ्वास+परघात=२८ इनका देवगति सहित बन्ध होगा।

(नं० २)-९ ध्रुवबन्ध+त्रस+बादर+पर्याप्त+प्रत्येक+अस्थिर,+अशुभ+दुर्भग+अनादेय+अयश+नरकगति+नरक गत्यानुपूर्वी+पंचेंद्रिय+वैक्रियिक शरीर+वैक्रि० अंगोपांग+हुंडक संस्थान+दुःस्वर+अप्रशस्त विहायोगति+उछ्वास+परघात=२८-इनका बन्ध नरकगति सहित होगा।

(५) २९ का बंध स्थान-(नं० १)-९ ध्रुव+त्रस+बादर+पर्याप्त+प्रत्येक+स्थिर अस्थिरमेंसे १+शुभ अशुभमेंसे १+दुर्भग

+मनोदय+यश अयशमेंसे १+तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्या०+द्वेंद्रिय +औदारिक शरीर+औदारिक अंगो०+हुंडक सं०+असंप्राप्त० संह-नन+दुःस्वर+अप्रशस्त विहायोगति+उच्छ्वास+परघात=२९-इनका बन्ध द्वेंद्रिय पर्याप्त सहित होगा।

(नं० २)-इन २९ मेंसे द्वेंद्रियको निकालकर तेंद्रिय मिला-नेसे २९ का बंध तेंद्रिय पर्याप्त सहित होगा।

(नं० ३) इन २९मेंसे तेंद्रिय निकालकर चौंद्रिय मिलानेसे २९ का बंध चौंद्रिय पर्याप्त सहित होगा।

(नं० ४) इन २९मेंसे चौंद्रिय निकालके पंचेंद्रिय मिलानेसे २९ का बन्ध पंचेंद्रिय पर्याप्त तिर्यंच सहित होगा परन्तु यहां विशेषता यह है कि स्थिर अस्थिरमें १+सुभग दुर्भगमेंसे १+शुभ अशुभमेंसे १ + आदेय अनादेयमेंसे १ + यश अयशमेंसे १+६ संस्थानमेंसे १+६ संहननमेंसे १+सुस्वर दुस्वरमेंसे १+अप्रशस्त व प्रशस्त विहायोगतिमेंसे १ किसीका बन्ध किसीके होगा।

(नं० ५) ऊपर २९मेंसे तिर्यंचगति व तिर्यंचगत्यानुपूर्वीको निकालके मनुष्यगति व मनुष्यगत्यानुपूर्वी मिलानेसे २९ का बन्ध मनुष्य पर्याप्त सहित होगा।

(नं० ६)-ध्रुव ९+त्रस+बादर+प्रत्येक+पर्याप्त+स्थिर २मेंसे १ +शुभ २ मेंसे १+सुभग+आदेय+यश २ मेंसे १+देवगति+देव गत्या०+पंचेंद्रिय+वैक्रि० श०+वैक्रि० अंगो०+प्रथम संस्थान +सुस्वर+प्रशस्त विहायोगति+उच्छ्वास+परघात+तीर्थ=२९-इन २९ को देवगति तीर्थ सहित मनुष्य असंयतादि ४ गुणस्थानवर्ती बांधते हैं।

(६) ३० का बंध स्थान-(नं० १)-२९ का बंध स्थान द्वींद्रिय पर्याप्त सहितमें उद्योत मिलानेसे ३०का बन्ध स्थान द्वींद्रिय पर्याप्त उद्योत सहित बांधे।

(नं० २)-२९का बन्ध स्थान द्वींद्रिय पर्याप्त सहितमें उद्योत मिलानेसे ३०का बंध स्थान तेंद्रिय पर्याप्त उद्योत सहित बांधे।

(नं० ३)-२९ का बन्ध स्थान चौंद्रिय पर्याप्त सहितमें उद्योत मिलानेसे ३० का बन्ध स्थान चौंद्रिय पर्याप्त उद्योत सहित बांधे।

(नं० ४)-२९का बन्ध स्थान पंचेंद्रिय तिर्यंच पर्याप्त सहितमें उद्योत मिलानेसे ३० का बन्ध स्थान पंचेंद्रिय पर्याप्त तिर्यंच उद्योत सहित बांधे।

(नं० ५)-२९ का बन्ध स्थान मनुष्य पर्याप्तका उसमें तीर्थंकर मिलानेसे ३० का बन्ध स्थान देव व नारकी असंयत बांधते हैं।

इनमें विशेषता यह है कि स्थिर २ मेंसे १, शुभ २ मेंसे १, यश २ मेंसे १ बांधेंगे।

(नं० ६)-२९ का देवगति सहित बन्ध स्थानमें तीर्थंकर निकालकर तथा आहारक शरीर व आहा० अंगोपांग मिलाकर ३० का बन्ध स्थान अप्रमत्त गुणस्थानी बांधे।

(७) ३१ का बंध स्थान-२९का देवगति व तीर्थ सहित स्थानमें आहारक २ मिलानेसे ३१ का बन्ध स्थान अप्रमत्त गुणस्थानी बांधे।

(८) १ का बंध स्थान—मात्र यश कर्मको अपूर्वकरणके ७वें भागसे लेकर सूक्ष्म साम्पराय तक बांधे।

यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि नरक गतियुत २२ के बन्ध स्थानमें व २३ अपर्याप्त व २५ अपर्याप्तके बन्ध स्थानोंमें सर्व अप्रशस्त प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है प्रशस्तका नहीं होता है। जैसे स्थिर २में अस्थिरका ही होगा, शुभ २में अशुभका ही होगा। इसलिये इनके साथ एक २ ही भंग या भेद होगा।

साधारण वनस्पति वादर पर्याप्त एकेन्द्रिय सहित २५ के बन्धमें या पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति सूक्ष्म पर्याप्त सहित २५ के बन्धमें स्थिर या अस्थिर तथा शुभ या अशुभ किसी एकका बन्ध होगा। इससे उनमें २×२=४ भंग होंगे।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, या असैनी पंचेंद्रिय सहित जब २५, २६, २९, या ३० का बन्ध होगा तब स्थिर २, शुभ २, व यश २ में किसी एकका बन्ध होगा इससे २×२×२=८ भंग होंगे।

तिर्यंचसैनी २९ व उद्योत सहित ३० व मनुष्य २९ में ६ संस्थानोंमें १+६ संहननमेंसे १+स्थिर २ मेंसे १+शुभ २ मेंसे १+सुभग २ मेंसे १+आदेय २ मेंसे १+यश २ मेंसे १+सुस्वर २ मेंसे १+विहायोगति २ मेंसे १ का बन्ध होगा इसलिये उनमें ६×६×२×२×२×२×२×२×२=४६०८ भंग होंगे।

इनका बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थानमें होगा। सासादन गुणस्था-नवाले २९ व ३० तिर्यंच व २९ मनुष्य बांधते हैं। उनके छठा

संस्थान व छठे संहननका बन्ध नहीं होता। ५ संस्थान+५ संहनन+ऊपर कहे प्रमाण २×२×२×२×२×२×२ लेनेसे प्रत्येकके ३२०० भंग होंगे। देव नारकी मिश्र व असंयत गुणस्थानमें पर्याप्त मनुष्य युत २९ को बांधते हैं या देव व नारकी असंयत गुणस्थानी पर्याप्त मनुष्य तीर्थंकर युत ३० को बांधते हैं उनमें स्थिर २मेंसे १+शुभ २मेंसे १+यश २मेंसे १ बांधनेसे २×२×२=८ भंग होते हैं।

तीर्यंच व मनुष्य मिथ्यात्वसे असंयत गुणस्थान तक देवगति युत २८ को बांधे या ये ही असंयमी चौथे गुणस्थानी देव व तीर्थ सहित २९ को बांधे तथा देश संयमी या प्रमत्त गुणस्थानी देवगति युत २८ को या देव तीर्थ युत २९ को बांधे तब स्थिर २मेंसे १+शुभ २मेंसे १+यश २मेंसे १ बांधनेसे २×२×१=८ भंग होंगे।

अप्रमत्त गुणस्थानी व अपूर्वकरण छठे भाग तक देवगति सहित २८ बांधे या देव तीर्थ युत २९ बांधे या तीर्थरहित आहारक २ सहित ३० बांधे या तीर्थ व आहारक २ युत ३१ बांधे तब शुभ ही बांधेंगे इससे एक एक ही भंग होगा। अपूर्वकरणके अंतिम भागसे १० वें तक १ यशका ही बन्ध एक प्रकार होगा। कौनसे जीव कौनसा नाम कर्मका बन्ध स्थान बांधेगे इसका विचार नीचे लिखे कथनके जाननेसे साफ होजायगा।

नरकके जीव–नारकी तीसरे नरक तकके कहां पैदा हों ? निकलकर गर्भजपंचेन्द्रिय पर्याप्त सैनी कर्मभूमिके तिर्यंच व मनुष्योंमें पैदा होते है। तीर्थंकर भी होसक्ते हैं परन्तु चक्रवर्ती,

नारायण, प्रतिनारायण तथा बलभद्र नहीं पैदा होते हैं। वे १५ कर्मभूमिके तिर्यंच व मनुष्योंमें तथा लवणोदधि, कालोदधि, स्वयंभूरमण आधा द्वीप, स्वयंभूरमण समुद्र व उसके बाहरके चार कोनोंमें जलचर व स्थलचर पैदा होते हैं। चौथे नर्कवाले निकलकर मोक्ष जासक्ते हैं। पांचवेके निकले मोक्ष न जावें परन्तु संयमी हो सकें। छठेके निकले मुनि न होसकें। सातवेंके निकले मात्र मिथ्यादृष्टि तिर्यंच ही पैदा हों। सातों ही नर्कवाले कर्मभूमिके पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच या मनुष्य होसक्ते हैं।

तिर्यंचोंका मरके पैदा होना-जितने बादर तथा सूक्ष्म अपर्याप्त तथा पर्याप्त अग्नि व वायुकायिक जीव हैं वे मरके नियमसे तिर्यंच ही पैदा होते हैं। वे भोगभूमिके तिर्यंच न होंगे परन्तु सर्व बादर व सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व साधारण वनस्पतिमें व पर्याप्त व अपर्याप्त प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिमें व द्वेन्द्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, असैनी व सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें पैदा होसक्ते हैं। शेष बादर व सूक्ष्म पर्याप्त या अपर्याप्त पृथ्वी, जल, नित्य व चतुर्गति निगोद व पर्याप्त या अपर्याप्त प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति व पर्याप्त व अपर्याप्त द्वेन्द्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय जीव मरके ऊपर लिखित सर्व तिर्यंचोंमें व ६३ शलाका सिवाय सर्व मानवोंमें पैदा होसक्ते हैं।

नित्य व चतुर्गति बादर निगोदवाले मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष जासक्ते हैं परन्तु ऐसे सूक्ष्म जीव मनुष्य होकर सम्यक्त व देशसंयम ग्रहण कर सक्ते हैं, मुनि नहीं होसक्ते हैं।

असैनी पंचेन्द्रिय कर्मभूमिके तिर्यंच व मनुष्योंमें व प्रथम नरकमें व भवनवासी तथा व्यन्तरोंमें पैदा होसक्ते हैं। सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच असैनी पंचेन्द्रियमें कही हुई अवस्थाओंमें तथा सर्व नारकियोंमें, सर्व भोगभूमिमें व १६ स्वर्गतक पैदा होसक्ते हैं।

मनुष्य मरके कहां पैदा हो—कर्मभूमिके सर्व ही मनुष्य संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचकी जानेवाली सर्व अवस्थाओंमें व अह-मिंद्रोंमें व चरमशरीरी मोक्ष जासक्के हैं। अपर्याप्त मनुष्य मरके पर्याप्त अपर्याप्त कर्मभूमिके सर्व तिर्यंच व सामान्य मनुष्योंमें पैदा होसक्ते हैं।

भोगभूमिके मनुष्य व तिर्यंच व तिर्यग् भोगभूमि (मध्यलोक भरकी) के तिर्यंच यदि सम्यग्दृष्टी हों तो मरके सौधर्म ईशान स्व-र्गोंमें देव हों। यदि मिथ्यादृष्टी व सासादनी हों तथा कुभोगभू-मिके मानव भुवनत्रिकमें पैदा होते हैं। आहारक देह सहित मुनि मरके वैमानिक ही होते हैं।

देवोंका जन्म कहां होता है—सर्वार्थसिद्धि तकके सर्वेही देव १९ कर्मभूमिके मानवोंमें पैदा होते हैं परन्तु १२ वें स्वर्गतकके देव १९ कर्मभूमि व लवणोदधि, कालोदधि, स्वयंभूरमण आधा द्वीप, स्वयम्भूरमण समुद्र व कोनोंमें संज्ञी पर्याप्त जलचर, थलचर, नभचर तिर्यंच भी होसक्ते हैं। तथा ईशान स्वर्गके देव बादर पृथ्वीकायिक व जलकायिक व प्रत्येक वनस्पतियोंमें भी पैदा होसक्ते हैं। भवनत्रिक—इन सबमें पैदा होसक्ते हैं, शलाका पुरुष नहीं होते हैं।

चार गतिकी अपेक्षा नामकर्मके बंधका विचार नरकमें-नामके बंध स्थान २९ व ३० दो हैं। सर्वही नारकी सामान्यसे पंचेन्द्रिय तिर्यच पर्याप्त सहित २९ व पंचेन्द्रिय तिर्यच पर्याप्त व उद्योत सहित ३० सातवें तक बांधते हैं परन्तु २९ पर्याप्त मनुष्य सहित छठेतक बांधते हैं। सम्यक्ती नारकी तीसरेतक पर्याप्त मनुष्य तीर्थ युत ३०को बांधते हैं। मिथ्यादृष्टी व सासादनी नारकी २९ ति० या २९ मनु० सहित बांधते हैं परन्तु मिश्र गुणस्थानवाले २९ मनुष्य ही बांधते हैं। सम्यग्दृष्टी २९ मनुष्य या ३० मनुष्य तीर्थ युत बांधते हैं।

तिर्यच गतिमें—छः बन्ध स्थान हैं—२३, २५, २६, २८, २९, ३०। इनमें २३, २५ व २६ के सर्व भेद बंधेंगे। व २८ के भी नरक व देवके दोनों भेद बन्धेंगे। २९के पहले पांचों ही भेद मनुष्य तक बन्धेंगे। ३० के नं० ४ तक बन्धेंगे। लब्ध्य-पर्याप्तक तिर्यच २८ के विना अन्य ५ बन्ध स्थान बांधेंगे।

मनुष्यगतिमें—सर्वही बन्ध स्थान हैं—२३, २५, २६, २८, २९, ३०, ३१ तथा १।

देवगतिमें—२५, २६, २९, ३० चार बंध स्थान हैं। २५ में पहिला एकेंद्रिय पर्याप्त सहित, २६ में एकेंद्रिय पर्याप्त आतप या उद्योत सहित, २९ का पंचेन्द्रिय तिर्यच या मनुष्य सहित, ३० का पंचेन्द्रिय तिर्यच उद्योत सहित व मनुष्य तीर्थ सहित बांधते हैं।

गुणस्थानोंकी अपेक्षा बन्ध स्थानोंका विचार नीचेके नक्शेसे होगा।

गुणस्थानापेक्षया नामकर्मके बंधस्थान।

गुण०	बंध स्थान
१	२३, २५ के छहों भेद, २६ के दोनों भेद, २८ के दोनों भेद, २९ के पहले ५ भेद, ३० के पहले ४ भेद
२	२९ पंचेन्द्रिय तिर्यंच, २९ मनुष्य, ३० पंचेन्द्रिय उद्योत सहित, २८ देव सहित
३	२९ मनुष्य, २८ देव
४	२९ मनुष्य, ३० मनु० तीर्थंकर सहित, २८ देव सहित, २९ देव व तीर्थं सहित
५	देवगति युत २८, देव व तीर्थं सहित २९
६	देवगति युत २८, देव व तीर्थं सहित २९
७	देवगति युत २८, देव व तीर्थं युत २९, तीर्थ रहित आहारक २ सहित ३०, तीर्थ आहारक २ सहित ३१
८	देवगति युत २८, देव व तीर्थं युत २९, तीर्थ रहित व आहारक २ सहित ३०, तीर्थ व आहारक २ सहित ३१ तथा १ यश अंतमें
९	१ यश
१०	१ यश

नामकर्मके उदय स्थान—नामकर्मके उदय स्थानोंको विचारते हुए ९ कालोंको समझना चाहिये—(१) विग्रहगति—जो एक समय, दो या तीन समय रहती है। (२) मिश्रकाल—जो शरीर

पर्याप्ति पूर्णके पहले तक अंतर्मुहूर्त रहता है। (३) शरीरपर्याप्ति-जो शरीर पर्याप्तिकी पूर्णतासे श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिकी पूर्णताके पहले समयतक एक अंतर्मुहूर्त रहता है। (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति-जो श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिकी पूर्णतासे लेकर भाषापर्याप्तिकी पूर्णताके पहले समय तक एक अंतर्मुहूर्त रहता है। (५) भाषा पर्याप्ति-जो भाषापर्याप्तिकी पूर्णतासे आयु भर रहता है। इनमेंसे सर्व लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके पहले दो ही काल होते हैं। एकेन्द्रिय पर्याप्तोंके आदिके चार होते हैं। त्रसोंमें सर्व पांच होते हैं। आहारक शरीरवालोंके पहलेको छोड़कर शेष चार होते हैं।

उदय स्थान सर्व १२ होते हैं-२०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९, ८।

(१) २०का उदय स्थान-१२ प्रकृति ध्रुव उदय कहलाती हैं जो सबके उदयमें रहती हैं वे हैं-तैजस शरीर, कार्माण शरीर, वर्णादि ४, अगुरुलघु, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ-१२।

इनमें ४ गतिमेंसे १, ५ जातिमेंसे १, त्रस स्थावरमें १, बादर सूक्ष्ममें १, पर्याप्त अपर्याप्तमें १, सुभग दुर्भगमें १, आदेय अनादेयमें १, यश अयशमें १=८ प्रकृतियोंको १२ में जोड़नेसे २०का उदय सामान्य समुद्घात केवलीको प्रतरद्वय व लोकपूर्णमें कार्माण काययोगमें होता है।

(२) २१का उदय स्थान-(नं० १)-इन २०में ये चार गत्यानुपूर्वीमेंसे १ मिलानेसे २१का उदय विग्रह गतिमें एक वा दो या तीन समय रहता है, ऋजुगतिसे जानेवालेके नहीं। (नं० २) तीर्थ केवली समुद्घातके कार्माणयोगमें आनुपूर्वीके स्थानमें तीर्थ जोड़के २१।

(३) २४ का उदय स्थान–ऊपर २१मेंसे अनुपूर्वी निका-लके औदारिक शरीर, प्रत्येक व साधारणमें १, छः संस्थानोंमें १, उपघात १ इस तरह ४ जोड़नेसे २४का उदय एकेन्द्रिय जीवोंके शरीर मिश्र कालमें होता है।

(४) २५ का उदय स्थान–(नं० १) ऊपर २४में परघात जोड़के २५का उदय एकेन्द्रियोंके शरीर पर्याप्ति कालमें होता है। (नं० २)–इन २५ मेंसे परघात व औदारिक शरीर निकालके व आहारक शरीर व अंगोपांग जोड़के २५ का उदय आहारक शरी-रधारी मुनिके आहारक मिश्रकालमें होता है। तथा (नं० ३)–ऊपर २५ मेंसे औदारिक शरीर व परघात निकालकर वैक्रियिक शरीर व अंगोपांग मिलाकर २५का उदय देव व नारकियोंके मिश्र कालमें होता है।

(५) २६ का उदय स्थान–(नं० १)–ऊपर कहे २४ में तीन अंगोपांगमेंसे १, व छः संहननमेंसे १ इस तरह २६ का उदय–द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, पचेंद्रिय व सामान्य मानवके व सामान्य समुद्घात केवलीके कपाटद्वयके समय औदारिक मिश्र कालमें होता है। (नं० २)–ऊपर २५ एकेन्द्रियके साथ आतप या उद्योत जोड़नेसे २६ का उदय एकेन्द्रिय पर्याप्तके शरीर पर्या-प्तिकालमें होता है। (नं० ३)–ऊपर २५ एकेन्द्रियके साथ उच्छ्वास जोड़नेसे २६ का उदय एकेन्द्रियके उच्छ्वास पर्याप्ति कालमें होता है।

(६) २७ का उदय स्थान–(नं० १)–ऊपर २४में औदा-रिकके स्थानमें आहारक शरीर व आहारक अंगोपांग, परघात व

प्रशस्त विहायोगति इनको जोड़नेसे २७का उदय प्रमत्त गुणस्थानी मुनिके आहारक शरीर पर्याप्ति कालमें होता है।

(नं० २) ऊपर २४ में औदारिक अँगोपांग, वज्रवृषभ-नाराच संहनन व तीर्थंकर जोड़नेसे २७ का उदय समुद्धात तीर्थंकरके कपाट द्वयके औदारिक मिश्रकालमें होता है।

(नं० ३) ऊपर २४ मेंसे औदारिक शरीरके स्थानमें वैक्रियिक शरीर व वैक्रियिक अँगोपांग, परघात व एक कोई विहायोगति जोड़नेसे २७ का उदय देवनारकीके शरीरपर्याप्ति कालमें होता है।

(नं० ४) एकेन्द्रिय २४के परघात, आतप या उद्योत तथा उछ्वास जोड़नेसे २७ का उदय एकेन्द्रियकी उछ्वास पर्याप्ति-कालमें होता है।

(७) २८ का उदय स्थान-(नं० १) ऊपर २४में औदारिक अंगोपांग, एक कोई संहनन, परघात व एक कोई विहायोगति मिलानेसे २४ का उदय सामान्य मनुष्यके व मूल शरीर प्रविष्ठ समुद्धात सामान्य केवलीके व दो, तीन, चार व पंचेन्द्रिय तिर्यंचके इन सबके शरीर पर्याप्तिकालमें होता है।

(नं० २) ऊपर २४ मेंसे औदारिक शरीरको जगह आहारक शरीर मिलानेसे व आहारक अंगोपाग, परघात, प्रशस्त विहायोगति, उछ्वास इन ४ को जोड़नेसे २८ का उदय आहारक शरीरधारी मुनिके उछ्वास पर्याप्ति कालमें होता है।

(नं० ३) ऊपर २४ मेंसे औदारिक शरीरके स्थानमें वैक्रियिक शरीर मिलानेसे तथा वैक्रियिक अंगोपांग, परघात, एक कोई

विहायोगति व उछ्वास इन ४ को जोड़नेसे २८ का उदय देव व नारकीके उछ्वास पर्याप्ति कालमें होता है ।

(८) २९ का उदय स्थान–(नं० १) सामान्य मनुष्यके २८ में व मूल शरीर प्रविष्ट समुद्घात सामान्य केवलीके २८ में उछ्वास जोड़नेसे २९ का उदय उनकी उछ्वास पर्याप्ति कालमें होता है ।

(नं० २) ऊपर २४ में अंगोपांग, १ कोई संहनन, परघात, १ विहायोगति तथा उद्योत जोड़नेसे २९ का उदय दोंद्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय व पंचेंद्रियके शरीर पर्याप्ति कालमें होता है ।

(नं० ३) इन ही २९ मेंसे उद्योतके स्थानमें उछ्वास जोड़नेसे २९ का उदय दो, तीन, चार व पांच इंद्रियवालोंके उछ्वास पर्याप्ति कालमें होता है ।

(नं० ४) ऊपरके २४ में अंगोपांग, प्रथम संहनन, परघात, प्रशस्त विहायोगति व तीर्थ इन ५ के जोड़नेसे २९ का उदय समुद्घात तीर्थंकरके शरीर पर्याप्ति कालमें होता है ।

(नं० ५) ऊपर २४ में औदारिक शरीरके स्थानमें आहारक शरीर लेकर व आहारक अंगोपांग, परघात, प्रशस्त विहायोगति उछ्वास व सुस्वर इन ५ को मिलानेसे २९ का उदय प्रमत्त गुणस्थानी आहारक शरीरधारीके भाषापर्याप्ति कालमें होता है ।

(नं० ६) ऊपर २४ मेंसे औदारिक शरीरके स्थानमें वैक्रियिक शरीर व अंगोपांग, परघात, एक कोई विहायोगति, उछ्वास व कोई स्वर इस तरह ५ जोड़नेसे २९ का उदय देव तथा नारकीके भाषा पर्याप्ति कालमें होता है ।

(९) ३० का उदय स्थान-(नं० १) ऊपर २४ में अंगो-पांग, संहनन, परघात, एक विहायोगति, उछ्वास व उद्योत इन ६ को जोड़नेसे ३० का उदय दोसे पांच इंद्रियके उछ्वास पर्याप्तिमें होता है।

(नं० २) ऊपर २४ में अंगोपांग संहनन, परघात, एक विहायोगति, उछ्वास, एक कोई स्वर इस तरह ६ जोड़नेसे ३० का उदय सामान्य मनुष्यके व दोसे पांच इंद्रिय तिर्यंचोंके भाषा पर्याप्ति कालमें होता है।

(नं० ३) ऊपर २४ में अंगोपांग, संहनन, परघात, प्रशस्त विहायोगति, उछ्वास व तीर्थ इन ६ को मिलानेसे ३० का उदय समुद्घात तीर्थंकरके उछ्वास पर्याप्तिकालमें होता है।

(नं० ४) ऊपर २४ में अंगोपांग, संहनन, परघात, प्रशस्त विहायोगति, उछ्वास व कोई स्वर इस तरह ६ जोड़नेसे ३० का उदय सामान्य समुद्घात केवलीके भाषा पर्याप्तिकालमें होता है।

(१०) (नं० १) ३१ का उदय स्थान-नं० ४ के ऊपर ३० में तीर्थंकर जोड़नेसे तीर्थंकर केवलीके भाषा पर्याप्तिमें ३१ का उदय होता है।

(नं० २) ऊपर २४ में अंगोपांग, संहनन, परघात, उद्योत, एक विहायोगति, उछ्वास व एक स्वर इस तरह ७ जोड़नेसे ३१ का उदय दोसे पांच इंद्रियवालोंके भाषा पर्याप्तिकालमें होता है।

(११) ९ का उदय स्थान—मनुष्य गति, पंचेंद्रिय, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यश व तीर्थंकर इन ९ का उदय तीर्थंकर अयोग केवलीके होता है।

(१२) ८ का उदय स्थान—ऊपर ९ में तीर्थंकर निकालके ८ का उदय सामान्य अयोग केवलियोंके होता है।

पांचों कालोंमें स्वामियोंकी अपेक्षा उदयस्थानोंका नकशा।

काल	एकेंद्रिय	द्वि॰ आदि तिर्यंच	सामान्य मनुष्य	नारक	देव	आहारक मुनि	तीर्थ केवली समु॰	सामान्य केवली समु॰
विग्रह गति	२१	२१	२१	२१	२१	०	२१	२०
शरीर मिश्र	२४	२६	२६	२५	२५	२५	२७	२६
शरीर पर्याप्ति	२५ २६	२८ २९	२८	२७	२७	२७	२९	२८
उच्छ्वास पर्याप्ति	२६ २७	२९ ३०	२९	२८	२८	२८	३०	२९
भाषा पर्याप्ति	०	३० ३१	३०	२९	२९	२९	३१	३०

नोट—अयोगीके ९ व ८ का उदय स्थान होता है। विशेष यह जानना उचित है कि सर्व नारकी, साधारण वनस्पति, सूक्ष्म एकेंद्रिय तथा सर्व लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके अशुभ प्रकृतियोंका ही उदय रहता है। इससे पांचों कालोंमें एक एक ही भंग है। शेष एकेंद्रिय, विकलेंद्रिय, असैनी पंचेंद्रियमें यश तथा अयश दोनोंमेंसे किसीके कोई किसीके कोईका उदय है इसलिये इनमें ही दो भंग होते हैं।

संज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंच और मानव सामान्यके संस्थान ६ × संहनन ६ × विहायोगति २ × सुभग २ × सुस्वर २ × आदेय २ × यश २ का उदय होनेसे कुल ११५२ भंग होते हैं। चार प्रकार देव व आहारक शरीरधारी मुनिके सर्वकाल प्रशस्तका ही उदय होता है तथा केवलज्ञानीके वज्रवृषभ नाराच संहनन, सुभग, आदेय, यशका ही उदय होता है। विशेष भंगोंका कथन गोम्मटसार स्थान समुत्कीर्तन अधिकारसे जानना चाहिये। गुणस्थानोंकी अपेक्षा नामकर्मके उदय स्थान नीचेके नकशेसे विदित होंगे।

गुणस्थानकी अपेक्षा उदय स्थान।

गुण-स्थान	उदय स्थान
१	२१ के भंग ५९ इस प्रकार हैं— (१) देवगति विग्रहगति १; (२) मनुष्यगति विग्रहगति २ सुभग, २ आदेय २ यशके कारण ८ भंग; (३) संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें भी ८ भंग; (४) दोसे असैनी पंचेंद्रिय तक यश २ के कारण ८ भंग; (५) बादर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पतिमें यश २के कारण १० भंग; (६) सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूक्ष्म साधारण व बादर साधारणके एक एक भंग सो ६; (७) लब्ध्यपर्याप्तक ११ एके०+४ विकलेन्द्री व असैनी पंचे०+१ पंचे० पशु+१ मानव=१७के एक एक भंग=१७-(८) नारकीके एक भंग। सब भंग हैं १+८+८+८+१०+६+१७+१=५९ २४ के भंग २७ इस प्रकार हैं—

गुण०	उदय स्थान
१	(१) शरीर पर्याप्ति मिश्रमें बादर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति हरएकमें यश २ के कारण सब १० भंग; (२) सूक्ष्म पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, बादर साधारण वनस्पति व सूक्ष्म सा० वन० हरएकमें १=६; (३) लब्ध्यपर्याप्तक ११ एकेन्द्रियके=११–सब भंग हैं–१०+६+११=२७। २५ के भंग १८ इस प्रकार हैं— (१) देवनारकीके एक एक भंग=२, (२) शरीर-पर्याप्ति मिश्र–बादर पृ०, ज०, अ०, वायु व प्रत्येकके यश २ के कारण दो दो भंग=१०, (३) सूक्ष्म पृ०, ज०, अ०, वायु, व साधारण व बादर साधारण इन ६ के शरीर पर्याप्तिमें एक एक भंग=६, कुल भंग हैं–२+१०+६=१८। २६ के भंग ६१४ इस प्रकार हैं— (१) शरीर मिश्रमें दोसे असैनी पंचे० तक यश २ के कारण=८, (२) संज्ञो पंचेंद्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य हरएकके शरीर मिश्रमें ६ संहनन × ६ संस्थान × सुभग २ × आदेय २ × यश २=२८८ कुल ५७६, (३) लब्ध्यपर्याप्तक शरीर मिश्रमें २ से असैनी पंचेंद्रिय सैनी पंचे० व मनुष्य इन ६ के एक २ भंग=६, (४) बादर पृथ्वीके आतप या उद्योत सहित शरीर पर्याप्तिमें यश २ के कारण=४ भंग (५) बादर जल व प्रत्येक वनस्पतिके शरीर पर्याप्तिमें यश २ के कारण=४ भंग, (६) उछ्वास पर्यायमें बादर पृ०, ज०,

गुण०	उदय स्थान
१	अ०, वा०, प्रत्येक वन०के यश २ के कारण १० भंग, (७) सूक्ष्म पृ०, ज०, अ०, वा०, उभय साधारण इन छःके एक२=६ में सर्व भंग हैं=८+५७६+६+४+४+१०+६=६१४ । २७के भंग १० (१) शरीर पर्याप्तिमें देवनारकके एक२ =२ भंग (२) उछ्वास पर्याप्तिमें बादर पृथ्वीके आतप वा उद्योतमें २ यशके कारण भंग ४ (३) बादर जल व प्रत्येक वनस्पतिके यश २के कारण ४ सर्व भंग हैं=२+४+४=१० । २८ के भंग ११६२–इस प्रकार हैं— (१) शरीर पर्याप्तिमें सैनी पंचेंद्रिय तथा मनुष्यके ६ संस्थान×६सहनन×सुभग२× आदेय२×यश२×विहायोगति २=५७६हरएकके, कुल ११५२ भंग । (२) शरीर पर्याप्ति दोसे असैनी पंचेंद्रियके यश २ के कारण भंग=८ । (३) उच्छ्वास पर्याप्तिमें देव व नारकके एक एक =२भंग । सर्व भंग है=११५२+८+२=११६२ । २९ के ९७४६ भंग इस प्रकार हैं— (१) शरीर पर्याप्तिमें संज्ञी पंचेंद्रियके ६ संस्थान×६ संहनन×सुभग२×आदेय२×यश२×विहायोगति २=५७६ भंग, (२) दोसे असैनी पंचेंद्रिय उद्योत सहितके यश २के कारण ८ भंग; (३) उछ्वास पर्याप्तिमें सैनी पंचेंद्रिय तथा मनुष्यके ऊपरके समान हरएकके ५७६=११५२ (४) उछ्वास पर्या-

गुण०	उदय स्थान
१	तिमें दोसे असैनी पंचेन्द्रियतक उद्योत रहितके यश २ के कारण ८ भंग; (५) भाषापर्याप्तिमें देव व नारकीके एक १ भंग =२। सर्व भंग हैं=५७६+८+११५२+८+२=१७४६। ३०के भंग २८९६ इस प्रकार हैं— (१) उछ्वास प० में संज्ञो पंचेंद्रिय उद्योत सहितके ऊपरके समान भंग ५७६; (२) दोसे असैनी पंचे० के उद्योत सहितके यश २के कारण ८ भंग, (३) भाषापर्याप्ति मनुष्यके ६ संस्थान×६ संहनन×सुभग २×आदेय२×यश २ × विहायोगति २ × स्वर २=११५२ भंग; (४) संज्ञी पंचेंद्रिय उद्योत रहितके ५ ऊपरके समान ११५२ भंग भाषापर्याप्तिमें। (५) भाषा पर्याप्तिमें दोसे असैनी पंचेन्द्रियके यश २के कारण भंग ८। सर्व भंग हैं–५७६+८+११५२ +११५२+८=२८९६। ३१के भंग ११६० इस प्रकार हैं— (१) संज्ञी पचेंद्रिय उद्योत सहित भाषा पर्याप्तिमें ऊपर प्रमाण–११५२ भंग, (२) दोसे असैनी पं० उद्योत सहित भाषा पर्याप्तिमें यश२ की अपेक्षा दो२ भंग=८, सब भंग हैं ११५२+८=११६०। इस तरह प्रथम गुणस्थानमें ९ उदय स्थान हैं। भंग–$\frac{२१}{५९}+\frac{२४}{३७}+\frac{२५}{१८}+\frac{२६}{६१४}+\frac{२७}{१०}+\frac{२८}{११९६}+\frac{२९}{१७४६}+\frac{३०}{२८९६}+$ $+\frac{३१}{११६०}$=९ उदय स्थानके भंग–७६९२।

गुण०	उदय स्थान
२	२१-उदय स्थान भंग ३१ इस प्रकार— (१) बादर पृथ्वी व जल काय व प्रत्येक वनस्पतिके यश २ की अपेक्षा ६ भंग, (२) दोसे असैनी पंचेंद्रियके यश २ की अपेक्षा ८ भंग, (३) सैनी पंचेंद्रियके सुभग २× आदेय २× यश २=८ भंग, (४) मनुष्यके भी इसी तरह ८ भंग, (५) देवगतिका १ भंग। कुल हैं–६+८+८+८+१=३१। २४ का उदय स्थान भंग ६— शरीर मिश्रमें बादर पृथ्वी जल व प्रत्येक वनस्पतिके यश २ की अपेक्षा ६ भंग। २५ का उदयस्थान—देवके शरीर मिश्रमें भंग १। २६ का उदयस्थान भंग ५८४ इस तरह— (१) शरीर मिश्रमें दोसे असैनी पंचेंद्रिय यश २ की अपेक्षा ८ भंग। (२) सैनी पंचे० तथा मनुष्यके शरीर मिश्रमें पहलेकी भांति प्रत्येक २८८=५७६। कुल भंग हैं–८+५७६=५८४। २९ का उदयस्थान देव नारकी भाषा पर्याप्तिमें एक एक भंग=२ भंग। ३० का उदय स्थान भंग २३०४ इस तरह— सैनी पंचे० तथा मनुष्यके भाषा पर्याप्तिमें पहलेकी भांति हरएकके ~~११५२~~=२३०४। ११५२

गुण०	उदय स्थान
२	३१ का उदय स्थान सैनी पंचे० के उद्योत युत भाषा पर्याप्तिमें पहलेकी तरह ११५२ कुल उदय स्थान ७ । भंग—$\frac{२१}{३२}+\frac{२४}{४}+\frac{२५}{२}+\frac{२६}{५८४}+\frac{२९}{२}+\frac{३०}{२३०४}+\frac{३१}{११५२}=\frac{७}{४०८०}$
३	२९—देवनारकी भाषा पर्याय एक एक भंग =२ ३०—भाषा पर्याप्तिमें सैनी पंचे० तथा मनुष्यके पहलेकी तरह प्रत्येकके ११५२ =२३०४ ३१—भाषा पर्या०में सैनी पंचे० उद्योत युतके पहलेकी तरह भंग =११५२ कुल भंग ३४५८
४	२१—चार गति अपेक्षा भंग =४ २५—शरीर मिश्र पहिला नरकनारकी व कल्पवासी देव हरएकका १ भंग =२ २६—(१) शरीर मिश्र भोगभूमि तिर्यंचके शुभका उदय भंग =१ (२) कर्मभूमिके संज्ञी तिर्यंचके शरीर मिश्रमें ६ संस्थान ×६ संहननकी अपेक्षा भंग =३६ २७—शरीर प्रर्याप्तिमें देव व पहला नरक भंग एक२ =२ २८—भंग ७५ इस तरह—भोगभूमि व पहला नरक शरीर पर्याप्तिमें वैमानिक उछ्वास पंचे०में एक२ =३ (२) मनुष्यके शरीर पर्याप्तिमें ६ संस्थान×६ संहनन×२ विहायोगति =७२

गुण०	उदय स्थान
४	२९ भंग ७६—इस तरह (१) भोगभूमि मनुष्य व तिर्यंचके उछ्वास पंचे० में एक एक भंग =२ (२) देव व नारकीके भाषा पर्या०में भंग =२ (३) कर्मभूमि मनुष्यके उछ्वास प० में ६सं× ६ संहनन ×२ विहा० =७२ ३० भंग २३०५ इस तरह-(१) भोगभूमि तिर्यंच उद्योत युत उछ्वास प० में भंग =१ (२) सैनी पंचेंद्रिय तथा मनुष्यके भाषा प० में पहलेकी तरह हरएकके ११५२ कुल =२३०४ ३१ संज्ञी पंचे० उद्योत युत भाषा०में पहलेकी भांति भंग =११५२ कुल उदयस्थान ८। भंग—$\frac{२१}{८}+\frac{२५}{२}+\frac{२६}{३२}+\frac{२७}{२}+\frac{२८}{७५}+\frac{२९}{७६}+\frac{३०}{२३०५}+\frac{३१}{११५२}$ = ३६५२
५	३०—का उदय स्थान भंग २८८—संज्ञो पचें०तथा मनुष्यके भाषा पर्याप्तिमें ६ संस्थान × ६ संहनन ×२ विहायोगति × स्वर २=१४४ ×२ =२८८ ३१—का उदय स्थान भंग १४४ संज्ञी पंचेंद्रिय उद्योत सहितके भाषा पर्याप्तिमें ६ संहनन ×६ सं० ×२ वि० ×२ स्वर =१४४ कुल भंग ४३२

गुण०	उदय स्थान
६	आहारक शरीर मिश्रमें— २६—का उदय भंग =१ आहारक शरीर उछ्वास पर्याप्तिमें— २७—का उदय भंग =१ आहारक शरीर उछ्वास पर्याप्तिमें— २८—का उदय भंग =१ आहारक शरीर भाषा पर्याप्तिमें— २९—का उदय भंग =१ ३०—का उदय सामान्य मुनिके भाषा पर्याप्तिमें, भंग ६ संहनन ×६ संस्थान × स्वर २×२ विहायोगति=१४४ कुल भंग—१ + १ + १ + १ + १४४=१४८
७	३०—का उदय सामान्य मुनि भाषा पर्याप्तिमें भंग ऊपरके समान =१४४
८ उपशामक	३०—का उदय भंग =७२ ६ संस्थान × ३ संहनन × २ विहायोगति× स्वर २ =७२
९ उप०	३०—का उदय भङ्ग ७२ पूर्ववत्
१० उप०	३०—का उदय भङ्ग ७२ पूर्ववत

गुण०	उदय स्थन
११ उप०	३०-का उदय भंग ७२ पूर्ववत्
८ क्षेपक	३०-का उदय भंग २४=६ संहनन × विहा० २ × स्वर २= २४
९ क्षपक	३०-का उदय भङ्ग २४ पूर्ववत्
१० क्षपक	३०-का उदय भंग २४ ,,
१२ क्षपक	३०-का उदय भंग २४ ,,
१३	समुद्घात सामान्य केवलीके कार्मण योगमें २० का उदय भंग =१ उसीके तीर्थ सहित २१ का उदय भंग =१ उसीके औदारिक मिश्रमें २६ का उदय भंग ६ संस्थानकी अपेक्षा =६ उसीके तीर्थंकरके २७ का उदय भंग =१ उसीके शरीर पर्याप्तिमें २८ का उदय भंग ६ संस्थान × २ विहायोगति =१२ उसीके तीर्थंकर सहित २९ का उदय भंग =१ उसीके उछ्वास पर्याप्तिमें २९ का उदय भंग ६ सं० × २ विहायोगति =१२

गुण०	उदय स्थान	
१३	उसीके तीर्थ सहितके ३० का उदय भंग	=१
	उसीके भाषापर्याप्तिमें ३० का उदय भंग ६ संस्थान × स्वर २ × विहायोगति २	=२४
	उसीके तीर्थंकरके ३१ उदय भंग	=१
	कुल उदय स्थान ८—भंग	६०
	भंग—$\frac{२०}{१}+\frac{२१}{१}+\frac{२६}{६}+\frac{२७}{१}+\frac{२८}{१२}+\frac{२९}{१३}+\frac{३०}{३५}+\frac{३०}{२५}+\frac{३१}{१}=\frac{८}{६०}$	
१४	तीर्थंकरके ९ का उदय भंग	=१
	तीर्थ रहितके ८ का उदय भंग	=१

नाम कर्मके सत्व स्थान—१३ हैं—

९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १०, ९।

(१) ९३=सर्व नाम कर्मकी सत्ता है।

(२) ९२=तीर्थंकर विना सब हैं।

(३) ९१=आहारक २ विना सब।

(४) ९०=तीर्थंकर व आहारक २ विना सब।

(५) ८८=ऊपर ९० देवगति व देव गत्यानुपूर्वी।

(६) ८४=ऊपर ८८—नरकगति व नरक गत्यानुपूर्वी वैक्रियिक शरीर व अंगोपांग।

(७) ८२=ऊपर ८४–मनुष्य गति व आनुपूर्वी।

(८) ८०=९३–(नरक २, तिर्यंच २, विकलत्रय ३, उद्योत, आतप, एकेंद्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर) १३।

(९) ७९=ऊपर ८० तीर्थंकर।

(१०) ७८=ऊपर ८० आहारक २।

(११) ७७=ऊपर ८० (तीर्थ + आहारक २)

(१२) १०=तीर्थ अयोग केवली अंतमें मनुष्य गति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यश, तीर्थ।

(१३) ९=१०–तीर्थ।

चार गति अपेक्षा सत्व स्थान।

नरक गतिमें—

गुणस्थान	सत्व स्थान
१	९२, ९१, ९०
२	९०
३	९२, ९०
४	९२, ९१, ९०

तिर्यंच गतिमें—

गुणस्थान	सत्व स्थान
१	९२, ९०, ८८, ८४, ८२
२	९०
३	९२, ९०
४	९२, ९०
५	९२, ९०

देवगतिमें—

गुणस्थान	सत्व स्थान
१	९२, ९०
२	९०
३	९२, ९०
४	९३, ९२, ९१, ९०

मनुष्य गतिमें व चारों गति अपेक्षा।

गुण०	सत्व मनुष्य गति द्वारा	सत्व चारों गति द्वारा
१	९२, ९१, ९०, ८८, ८४	९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२
२	९०	९०
३	९२, ९०	९२, ९०
४	९३, ९२, ९१, ९०	९३, ९२, ९१, ९०
५	९३, ९२, ९१, ९०	९३, ९२, ९१, ९०
६	९३, ९२, ९१, ९०	९३, ९२, ९१, ९०
७	९३, ९२, ९१, ९०	९३, ९२, ९१, ९०
८ उप० ८ क्षय०	९३, ९२, ९१, ९० ९३. ९२. ९१. ९०	९३, ९२, ९१, ९०
९ उप० ९ क्ष०	९३, ९२, ९१, ९० ९३, ९२, ९१, ९०, ८०, ७९, ७८, ७७	९३, ९२, ९१, ९०, ८० ७९, ७८, ७७
१० उप० क्ष०	९३, ९२, ९१, ९० ८०, ७९, ७८, ७७	९३, ९२, ९१, ९०, ८० ७९. ७८, ७७
११	९३, ९२, ९१, ९०	९३, ९२, ९१, ९०
१२	८०, ७९, ७८, ७७	८०, ७९. ७८, ७७
१३	८०, ७९, ७८, ७७	८०, ७९, ७८, ७७
१४ द्विचरम	८०, ७९, ७८, ७७	८०, ७९, ७८, ७७
१४ चरम	१०, ९	१०, ९.

नामकर्मके बंध उदय व सत्व स्थान।

गुण०	बंध	उदय	सत्ता
१	२३, २५, २६, २८, २९, ३०	२१,२४,२५,२६,२७, २८,२९,३०, ३१	९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२
२	२८, २९, ३०	२१,२४,२५,२६, २९, ३०, ३१	९०
३	२८, २९	२९, ३०, ३१	९२, ९०
४	२८, २९, ३०	२१,२५,२६,२७, २८,२९ ३०,३१	९३, ९२, ९१, ९०
५	२८, २९	३०, ३१	९३, ९२, ९१, ९०
६	२८, २९	२५, २७, २८, २९, ३०	९३, ९२, ९१, ९०
७	२८, २९, ३०, ३१	३०	९३, ९२, ९१, ९०
८	२८, २९, ३०, ३१, १	उप० ३० क्ष० ३०	९३, ९२, ९१, ९०
९	१	उप० ३० क्ष० ३०	उप० ९३, ९२, ९१, ९० क्ष० ८०, ७९, ७८, ७७
१०	१	उप० ३० क्ष० ३०	उप० ९३, ९२, ९१, ९० क्ष० ८०, ७९, ७८, ७७
११	०	३०	९३, ९२, ९१, ९०
१२	०	३०	८०, ७९, ७८, ७७
१३	०	२०,२१,२६,२७, २८,२९,३०,३१	८०, ७९, ७८, ७७
१४	०	९-८	द्विच० ८०,७९,७८, ७७ चरम १०, ९

नोट—यहां सत्तामें ९३ गिनी है तब बन्ध व उदयमें ९३-(१६ वर्णादि + १० बंधन संघात) ६७ गिनी हैं।

(५) अन्तराय कर्म—

बंध	उदय	सत्ता
पांचों उत्तर प्रकृतियोंका बंध १०वें गुण० तक	पांचों कर्मोंका उदय १२वें गुण० तक	पांचोंकी सत्ता १२वें गुण० तक

(६) वेदनीयकर्म—

इसमें एक जीवके एक समय साता या असाता एकका ही बन्ध व एकका ही उदय रहेगा। छठें गुणस्थान तक साता या असाता दोनोंमेंसे कोई बन्ध सक्ती है फिर ७वेंसे १३वें गुणस्थान-तक मात्र साताका ही बन्ध होगा। सत्ता १३ वें तक व १४ वें भी कुछ कालतक दोनोंकी रहती है।

पहलेसे छठेतक बन्ध, उदय, सत्ताके चार भंग या तरह नीचे प्रमाण होंगे—

बंध	साता	साता	असाता	असाता
उदय	साता	असाता	साता	असाता
सत्ता	२	२	२	२

७वें गुणस्थानसे १३ तक दो भग होंगे।

बंध	साता	साता
उदय	साता	असाता
सत्ता	२	२

चौदहवें गुणस्थानमें चार भंग नीचे प्रकार होंगे।

वंध	०	०	०	०
उदय	साता	असाता	साता	असाता
सत्ता	२	२	साता	असाता

गुणस्थान अपेक्षा वंध उदय सत्ता।

गु०	वंध	उदय	सत्ता
१	१	१	२
२	१	१	२
३	१	१	२
४	१	१	२
५	१	१	२
६	१	१	२
७	१	१	२
८	१	१	२
९	१	१	२
१०	१	१	२
११	१	१	२
१२	१	१	२
१३	१	१	२
१४	०	१	२

(७) गोत्रकर्म—

गोत्रकर्मका भी एक कोईका वंध व एकका ही उदय रहता है। सत्ता दोकी अयोगीके द्विचरम समय तक रहती है। चरम समयमें उच्चकी सत्ता रहती है। तेजोवायुके उच्च गोत्र न रहनेसे

मात्र नीच गोत्रकी सत्ता रह जाती है। शेष एकसे पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके सत्ता नीच व उभय दोनों होसक्ती है।

इसकी सत्ताके भंग बन्ध उदय ७ होंगे—

बंध	नी०	नी०	नी०	उ०	उ०	०	०
उदय	नी०	नी०	उ०	उ०	नी०	उ०	उ०
सत्ता	नी०	२	२	२	२	२	उ०

मिथ्यादृष्टीके ५ भंग होंगे—

बंध	नी०	नी०	उ०	उ०	नी०
उ०	नी०	उ०	उ०	नी०	नी०
स०	२	२	२	२	नी०

सासादनमें ऊपरमेंसे पहले चार होंगे। मिश्र असंयत व देशविरतमें दो भंग होंगे।

बंध	उ०	उ०
उ०	उ०	नी०
स०	२	२

प्रमत्तसे १० वें तक एक ही भंग होगा।

बंध	३
उदय	३
सत्ता	२

११ से १३ तक

बंध	०
उदय	३
सत्ता	२

१४ वें में

बंध	०	०
उदय	३	३
सत्ता	२	३

गुणस्थान अपेक्षा बंध उदय सत्ता।

गुण	बंध	उदय	सत्ता
१	१	१	२
२	१	१	२
३	१	१	२
४	१	१	२
५	१	१	२
६	१	१	२
७	१	१	२
८	१	१	२
९	१	१	२
१०	१	१	२
११	०	१	२
१२	०	१	२
१३	०	१	२
१४	०	१	२

(८) आयुकर्म-इस कर्ममें भी एक आयुका बन्ध होगा व १का ही उदय होगा व २ की सत्ता क्षपक रहितके होगी। क्षपकके १ की ही सत्ता रहेगी। चारों गति अपेक्षा आयुके बन्ध, उदय

व सत्ताका हिसाब नीचे हैं। जब आयु बन्धती है तब उस आयुका नाम नकशेमें हैं। जब पहले बन्ध चुकी थी उसको उपरितन बंध कहके उ का चिन्ह दिया है:—

नरकगतिमें छः भंग होंगे—

बंध	०	ति०	उ०	०	म०	उ०
उ०	न०	न०	न०	न०	न०	न०
स०	१	२	२	१	२	२

तिर्यंच गतिमें १२ भंग होंगे—

बं०	०	न.	उ०	०	ति	उ०	०	म.	उ०	०	दे०	उ०
उ०	ति	ति	ति	ति	ति	ति	ति	ति	ति	ति	ति	ति
स०	१	२	२	१	२	२	१	२	२	१	२	२

मनुष्य गतिमें १२ भंग होंगे।

बं०	०	न०	उ०	०	ति	उ०	०	म०	उ०	०	दे०	उ०
उ०	म०	म०	म०	म०	म०	म०	म०	म०	म०	म०	म०	म०
स०	१	२	२	१	२	२	१	२	२	१	२	२

देवगतिमें ६ भंग होंगे।

बंध	०	ति	उ	०	म	उ
उ०	दे	दे	दे	दे	दे	दे
स०	१	२	२	१	२	२

अनरुक्त भंग निकालकर नरकमें (६–१)=५
,, ,, तिर्यंचमें (१२–३)=९
,, ,, मनुष्यमें (१२–३)=९
,, ,, देवमें (६–१)=५
कुल २८

गुणास्थानापेक्षा चार गतियोंमें भंग।

गुण०	नरक	तिर्यंच	मनु०	देव०	विशेष
१	५	८	८	५	
२	५		८	५	यहां तिर्यंच व मनुष्यके नरकायु न बधेगी
३	३	५ (४ उ० १ अ०	५	३	३=२ उपरितन १ अवन्ध
४	४	६	६	४	नरक व देवमें तिर्यंच बन्ध नहीं
५	०	३	३	०	देवायु सम्बन्धी
६ व ७	०	०	३	०	,,
उपशम श्रेणी	०	०	२	०	उपरितन देव मनुष्य
क्षपक श्रेणी	०	०	१	०	मनुष्यायुकी सत्ता

नोट—सासादनके ८ तिर्यंच व मनुष्यके बराबर हैं—
२ ति० + २ मनुष्य + २ देव + उपरितन नरक + अबन्ध।
चौथेमें नारकमें ४=२ मनुष्य + उपरितन तिर्यंच + अबन्ध।
,, ६ तिर्यंच या मनुष्यके=२ देव+उ.न.+उ.ति.+उ.म.+अबन्ध।
४ देवके=२ मनुष्य + उपरितन ति० + अबन्ध।

गुणस्थानोंकी अपेक्षा, बंध, उदय, सत्ता।

गुण०	बंध	उदय	सत्ता
१	१	१	२
२	१	१	२
३	०	१	२
४	१	१	२
५	१	१	२
६	१	१	२
७	१	१	२
८ व ९-१० ११ उपशम श्रेणी	०	१	२
८, ९, १०, १२ क्षपक	०	१	१
१३ व १४	०	१	१

एक जीवमें एक समय प्रति गुणस्थानमें १२० बन्ध योग्यमेंसे कितनी२ उत्तर प्रकृतियें हरएक आठ कर्मकी बंधेगी।

गुण.	ज्ञा०	दर्श.	वे०	मोह	आयु	नाम	गोत्र	अंत.	जोड़
१	५	९	१	२२	१	२३,२५,२६,२८,२९,३०	१	५	६७,६९,७०,७१,७३,७४
२	५	९	१	२१	१	२८, २९, ३०	१	५	७१, ७२, ७३
३	५	६	१	१७	०	२८, २९	१	५	६३, ६४
४	५	६	१	१७	१	२८, २९, ३०	१	५	६४, ६५, ६६
५	५	६	१	१३	१	२८, २९	१	५	६०, ६१
६	५	६	१	९	१	२८, २९	१	५	५६, ५७
७	५	६	१	९	१	२८, २९, ३०, ३१	१	५	५६, ५७, ५८, ५९
८	५	६–४	१	९	०	२८, २९, ३०, ३१, १	१	५	५५, ५६, ५७, ५८, २६
९	५	४	१	५,४,३,२,१,	०	१	१	५	२२, २१, २०, १९, १८
१०	५	४	१	०	०	१	१	५	१७
११	०	०	१	०	०	०	०	०	१
१२	०	०	१	०	०	०	०	०	१
१३	०	०	१	०	०	०	०	०	१
१४	०	०	०	०	०	०	०	०	०

एक जीवके एक समयमें गुणस्थानोंकी अपेक्षा १२२ मेंसे कितनी २ उत्तर प्रकृतियां हरएक कर्मकी उदय आवेंगी।

गु०	ज्ञा०	दर्श०	वे०	मोह	आयु	नाम	गो०	अंत.	जोड़
१	५	४.५	१	१०,९,८,७,	१	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	१	५	नोट—यहां जोड़ ठीक न बैठेगा। जिसको देखना हो हरएक गुणस्थानका अलग जोड़ कर ले।
२	५	४.५	१	९, ८, ७	१	२१, २४, २५, २६, २९, ३०, ३१	१	५	
३	५	४.५	१	९, ८, ७	१	२९, ३०, ३१	१	५	
४	५	४.५	१	९, ८, ७, ६	१	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	१	५	
५	५	४.५	१	८, ७, ६, ५	१	३०, ३१	१	५	
६	५	४.५	१	७, ६, ५, ४	१	२५, २७, २८, २९, ३०	१	५	
७	५	४.५	१	७, ६, ५, ४	१	३०	१	५	
८	५	४.५	१	६, ५, ४	१	३०	१	५	
९	५	४.५	१	२, १	१	३०	१	५	
१०	५	४.५	१	१	१	३०	१	५	
११	५	४.५	१	०	१	३०	१	५	
१२	५	४.५	१	०	१	३०	१	५	
१३	०	०	१	०	१	२०,२१,२६,२७,२८,२९,३०,३१	१	०	
१४	०	०	१	०	१	९–८	१	०	

एक जीवके गुणस्थानोंकी अपेक्षा १४८ कर्मप्रकृतियोंमें एक समय कितनोंकी सत्ता रहेगी।

गु०	ज्ञा.	दर्श.	वे.	मोह.	आ	नाम	गो.	अंत	जोड़.
१	५	९	२	२८, २७, २६	२	९३, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२	२-१	५	यहां भी जोड़ अलग होनेसे ठीक बनेगा ।
२	५	९	२	२८	२	९०	२	५	
३	५	९	२	२८, २४	२	९२, ९०	२	५	
४	५	९	२	२८, २४, २३, २२, २१	२	९३, ९२, ९१, ९०	२	५	
५	५	९	२	२८, २४, २३, २२, २१	२	९३, ९२, ९१, ९०	२	५	
६	५	९	२	२८, २४, २३, २२, २१	२	९३, ९२, ९१, ९०	२	५	
७	५	९	२	२८, २४, २३, २२, २१	२	९३, ९२, ९१, ९०	२	५	
८	५	९	२	२८, २४, २१	२	९३, ९२, ९१, ९०	२	५	
९	५	९-६	२	२८,२४,२१,१३,१२,११,५,४,३,२,१	२	९३,९२,९१,९०,८०,७९,७८,७७	२	५	
१०	५	६	२	२८, २४, २१, १	२	९३,९२,९१,९०,८०,७९,७८,७७	२	५	
११	५	६	२	२८, २४, २१	२	९३, ९२, ९१, ९०	२	५	
१२	५	६-४	२	०	१	८०, ७९, ७८, ७७	२	५	
१३	०	०	२	०	१	८०, ७९, ७८, ७७	२	०	
१४	०	०	२-१	०	१	८०, ७९, ७८, ७७, १०, ९	२-१	०	

श्री गोमटसार कर्मकांडके अनुसार जो कुछ ऊपर कथन किया गया है उससे यह बात ज्ञात हो जायगी कि एक जीवके एक गुणस्थानमें एक समय कितनी कर्म प्रकृतियोंका बन्ध होता है व कितनी प्रकृतियोंका उदय होता है व कितनी कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है। यह जो कुछ हिसाब है वह अवश्य एक जीवके उस दशामें होगा। परन्तु यह बात जानना उचित है कि कर्मोंके बन्धमें मुख्य कारण मोह कर्मका उदय है। यद्यपि जितनी प्रकृतियोंका बन्ध जिस गुणस्थानमें सम्भव है उतनी प्रकृतियोंका बन्ध होगा तथापि उनमें स्थिति तथा अनुभागकी कमी व अधिकता कषायोंकी तीव्रता व मंदता पर निर्भर है। यदि कषायोंकी तीव्रता होगी तो आयुकर्मके सिवाय सर्व कर्मोंमें स्थिति अधिक पड़ेगी व पाप कर्मोंमें अनुभाग अधिक व पुण्य कर्मोंमें कम अनुभाग पड़ेगा। यदि कषाय मंद होगी तब आयु कर्म सिवाय सर्व कर्मोंमें स्थिति कम पड़ेगी व पापकर्मोंमें अनुभाग कम व पुण्य कर्मोंमें अनुभाग अधिक पड़ेगा। नरक आयुमें कषायकी तीव्रतासे स्थिति अधिक व तीन आयुमें कम पड़ेगी। कषायकी तीव्रतामें नरकायुमें अनुभाग अधिक व तीन आयुमें अनुभाग अधिक पड़ेगा।

हमारी कषाय मंद रहें इसके लिये हमें सदा पुरुषार्थ करना चाहिये। यह बात ध्यानमें लेनेकी है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय तीन घातीय कर्मोंका क्षयोपशम हरएक संसारी जीवके रहता है इस कारण जितना ज्ञान, दर्शन व आत्म वीर्य प्रगट होता है वह आत्माका स्वभाव है वह कर्मोंके उदयसे नहीं। जितना ज्ञान दर्शन व आत्मबल प्रगट नहीं है वह उनके रोकनेवाले कर्मोंके

उदयसे है। इसी प्रगट ज्ञान दर्शन व आत्मवीर्यको पुरुषार्थ कहते हैं। इसके द्वारा सोच समझकर हमें हरएक काम करना योग्य है। असैनी जीवोंके विशेष विचारशक्ति नहीं है तो भी वे अपने २ योग्य ज्ञान व वीर्यसे बुद्धिपूर्वक काम किया करते हैं। सैनी जीवोंके मनसे विचारनेकी विशेष शक्ति होती है इसलिये हरएक मानवको यह उपदेश है कि वह धर्म, अर्थ (पैसा कमाना) व काम (इंद्रिय भोग) इन तीनों कार्योंका उद्यम अपने ज्ञान व वीर्यसे विचार करके करें। कर्मोंके भरोसे बैठे रहना अज्ञानता है। इन तीनों पुरुषार्थोंका उद्यम करते हुए यदि कार्य सिद्ध होजाय तो साता वेदनीयादि पुण्यका उदय व अन्तराय कर्मका क्षयोपशम सहायक होगया ऐसा समझना चाहिये। यदि कार्य असफल हुआ व बिगड़ गया व लाभकी अपेक्षा हानि होगई तो असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियोंका उदय कारण समझना चाहिये। कर्म बाहरी निमित्तोंके अनुकूल उदय आते हैं। इसलिये बाहरी निमित्तोंके व योग्य संगतिके मिलानेमें हमें अपनी बुद्धि व आत्मबलसे सदा ही उद्योग करना चाहिये। साता व असाता दोनों कर्म अपनी स्थितिके अनुकूल हर समय झड़ते रहते हैं। जिसका निमित्त होता है उसका उदय कहलाता है व जिसका निमित्त नहीं होता है उसका उदय नहीं कहलाता है। यदि धन मिल गया तो साता वेदनीयका उदय कहलायगा, यदि चोट लग गई तो असाता वेदनीयका उदय कहलायगा। यदि एकांतमें स्त्रीका निमित्त बन जायगा तो पुरुषके पुरुष वेदके व स्त्रीके स्त्रीवेदका उदय जागृत हो जायगा। यदि हम ध्यान, पूजन, स्वाध्याय करते हैं तो उस समय वेद, कषाय आदिका

उदय तदनुकूल निमित्त न होनेसे वृथा ही चला जायगा।

कर्मोंके नए बन्ध होनेमें उस समय जैसा कषाय भाव होगा वह कारण पड़ेगा। विचारवान मानवको सुखकी सामग्री मिलनेपर अभिमान न रखना चाहिये व दुःखकी सामग्री मिलनेपर घबड़ाना न चाहिये। जो लोग समताभावसे कर्मके उदयको भोग लेते हैं उनके जितनी कर्मप्रकृतियें उनके गुणस्थानके अनुसार बंध होगी उनमें मन्द कषायके कारण थोड़ी स्थिति व थोड़ा अनुभाग पड़ेगा। तथा मन्द कषाय या शांत या शुभ भाव होते हुए अघाती कर्मोंमें पापका बंध नहीं होकर पुण्यका ही होगा। असातावेदनीयका बन्ध न होकर साता वेदनीयका होगा। शास्त्र ज्ञान व सत्संगति हमारे भावोंमें ऐसा असर डालेंगी जिससे हम नवीन बंध पापका बहुत हलका व पुण्यका विशेष भारी करेंगे। कषायोंके उदय होते हुए उनके बलको ज्ञान व आत्मबलके प्रतापसे कम किया जासक्ता है। मिथ्यादृष्टी भी यदि विचारवान योग्य भावोंका रखनेवाला होगा तो नवीन बन्ध हलका करेगा। सम्यग्दृष्टीके तो नवीन बन्ध बहुत हलका होता ही है क्योंकि वह अपने आत्माको ही आत्मा समझता है। आत्मीक ज्ञान दर्शन सुख वीर्यको ही अपना आत्मीक धन समझता है। आत्मानन्दको ही अपना सच्चा सुख समझता है। संसारके चरित्रको मात्र एक नाटक समझता है। इसलिये वह कभी भी पुण्यकर्मके उदयमें उन्मत्त व पापके उदयमें खेदित नहीं होता है। इसलिये उसके गुणस्थानोंके अनुसार जितनी२ कर्म प्रकृतियोंका बन्ध पड़ता है उनमें स्थिति कम पड़ती है व पुण्यमें अनुभाग अधिक पड़ता है। सम्यग्दृष्टी

" स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं "

भावार्थ—अपना और अपूर्व (पूर्वमें अनिश्चित) पदार्थका निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण है। इस प्रमाणसे पदार्थका जब निश्चय हो जाता है तब हितका ग्रहण व अहितका त्याग होता है यह प्रमाण ज्ञान प्रत्यक्ष व और परोक्षके भेदसे दो प्रकार है। मतिज्ञान इंद्रिय और मनके द्वारा होता है इसलिये परोक्ष है तथापि उसको न्यायशास्त्रमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। वास्तवमें प्रत्यक्षज्ञान वह है जो इंद्रिय और मनकी सहायतासे न होकर आत्मा ही के द्वारा हो। ये ज्ञान तीन हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये तीनों ज्ञान विशेष प्रकारकी आत्मविकाशकी शक्तियां हैं। एक मुमुक्षुको सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये परोक्षज्ञानकी ही आवश्यक्ता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी जरूरत है। परोक्षज्ञानके भेद न्यायशास्त्रमें इस तरह कहे हैं—

" प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदं ॥ "

भावार्थ—सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और स्मृति आदिकी सहायतासे यह परोक्षज्ञान होता है। इस परोक्षज्ञानके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पांच भेद हैं। पदार्थोंके निर्णय करनेके ये उपाय हैं। पांच इंद्रिय और मनके द्वारा सीधा पदार्थका ज्ञान होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं। इस मतिज्ञानके होनेमें क्रमसे ज्ञानकी वृद्धिकी अपेक्षा चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। पदार्थका कुछ ग्रहण या जानपना होना उसको अवग्रह कहते हैं। यह ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। जिस विषयके जाननेकी तरफ आत्मा अपना उपयोग लेजाता है उस समय पहले

सन्नस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं।
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ॥
उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥ ४।५ ॥
रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥ ७।५ ॥

भावार्थ—ज्ञानीने अपनी इच्छापूर्वक होनेवाले रागको तो सर्वथा दूर कर डाला है। जो कर्मोंके उदयसे अपनी इच्छा न रहते हुए राग भाव होता है उसको जीतनेके लिये सदा अपने आत्मबलसे उद्योग किया करता है। परमें प्रवृत्तिको मेटता हुआ व अपने आत्मज्ञानसे पूर्ण भरा हुआ ज्ञानी ज्ञान अवस्थामें सदा ही आस्रव रहित रहता है। ज्ञानीके रागद्वेष मोह (अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व मय) का संभवपना नहीं रहा इसलिये ज्ञानीके बन्ध नहीं होता है क्योंकि वे ही बंधके कारण हैं।

जो कर्म निधत्ती व निकाचित रूप बंध होते हैं उनका फल तो अवश्य भोगना पड़ता है, वे छूट नहीं सक्ते परन्तु इस तरह बंधके जो कर्म नहीं होते हैं उनको संक्रमण किया जा सक्ता है। उनकी स्थिति घटाई जा सक्ती है। पापका रस कम किया जा सक्ता है। पुण्यका रस बढ़ाया जा सक्ता है। इसलिये बुद्धिमान मानवका यह कर्तव्य है कि आगे उदय आनेवाले कर्मोंकी अवस्था बदलनेके लिये सदा धर्म पुरुषार्थका उद्यम करता रहे। कर्म बाहरी निमित्तोंके मिलनेपर झटसे उदय आते हैं नहीं तो नहीं आते हैं इसलिये गोमटसारमें हरएक कर्मके उदयके बाहरी कारण बताए हैं जिसमें एक बुद्धिमान उनको बचा सके। गोमटसार कर्मकांडमें

उनका विशेष वर्णन है, यहां दृष्टान्त मात्र कुछ कहे जाते हैं।

इन बाहरी कारणोंको नोकर्म कहते हैं। मतिज्ञानावरणके उदयमें कपड़ा, अंधेरा, आदि कारण हैं। श्रुतज्ञानावरणमें विष व मदिरा पीना आदि हैं, अवधि मनः पर्यय ज्ञानावरणमें संक्लेशकारी बाहरी पदार्थ हैं। निद्राके उदयमें भेंसका दूध व लशुन खाना आदि कारण हैं। साता वेदनीयके उदयमें इष्ट अन्नपान मकानादि कारण हैं। असाताके उदयमें अनिष्ट अन्नपान स्थानादि हैं। सम्यक्त प्रकृतिके उदयमें मिथ्या देव, गुरु, शास्त्र, व उनके स्थान व उनके माननेवाले प्राणी हैं। तीव्र कषायके उदयमें खोटे नाटक देखना, पढ़ना, खोटे काव्य पढ़ना, कोकग्रन्थ पढ़ना, दुष्ट व मूर्खोंकी व बुरे आचरणवालोंकी संगति करना कारण है। पुंवेदके उदयमें स्त्रीके मनोहर शरीर, स्त्रीवेदके उदयमें पुरुषके मनोहर शरीर, नपुंसक वेदके उदयमें दोनोंके मनोहर शरीर अवलोकन आदि कारण हैं। हास्यके उदयमें मसकरे लोगोंका समागम कारण है। रतिके उदयमें मनके अनुसार चलनेवाले स्त्री पुत्रादि कारण हैं। अरतिके उदयमें इष्टवियोग व अनिष्ट संयोग कारण हैं। शोकके उदयमें मृत पुत्रादि कारण हैं। भयके उदयमें सिंह, सर्प, चोर आदि कारण हैं। जुगुप्साके उदयमें ग्लानि योग्य पदार्थ कारण हैं। वीर्यांतरायके उदयमें रूखा आहार पान आदि कारण हैं। इसी तरह अन्य कर्मोंके उदयमें भी बाहरी पदार्थ कारण पड़ते हैं। इसलिये हम लोगोंको उचित है कि हम बाहरी कारणोंको बचानेकी कोशिश करें जिससे बुरे कर्म उदय न आवे। क्योंकि मुख्यतासे मोहका उदय हमारा बिगाड़ करता है इससे मोहके उत्पन्न करानेवाले निमित्त कारणोंसे बचना चाहिये। इंद्रियोंकी सहायतासे मतिज्ञान व

श्रुतज्ञान होता है इसलिये इंद्रियोंको निर्बल बनानेके कारणोंको बचाना चाहिये व उनको सबल बनानेके कारणोंको मिलाना चाहिये, निद्रासे बचनेके लिये अल्प आहार करना चाहिये। इत्यादि।

कर्मोंको अदृष्ट इसीलिये कहा जाता है कि उनको हम अपनी इंद्रियोंसे कार्य करते हुए नहीं देखते हैं। परन्तु उनके फलसे उनके बंध व उदयका अनुमान होता है। एक बालक बद-सूरत पैदा हुआ है तब उसके अशुभ नाम कर्मका उदय अंतरंग कारण है व शरीर बननेवाले अशुभ परमाणुओंका संग्रह होना बाहरी कारण है। एक बालकके पैदा होते हुए ही घरका धन नष्ट होगया, असाताके कारण उपस्थित हो गए तब उस बालकके असाताका उदय अंतरंग निमित्त कारण है। कभी २ अकस्मात् दुःख व सुख हो जाता है। कारण तो सुखके मिले परन्तु दुःख हो जाता है व कारण दुःखके मिले सुख हो जाता है। इसमें तीव्र अनुभाग वाले कर्मोंका उदय कारण पड़ जाता है। जैसे कोई धनवानके यहां सर्व सुख सामग्री होते हुए भी रोगी बना रहता है। कोई निर्धनके यहां पैदा होकर भी किसी धनवानकी गोद चला जाता है। कभी थोड़ा उद्यम करनेसे विशेष लाभ होजाता है इसमें तीव्र पुण्यका रस कारण है। कभी विशेष उद्यम करनेसे अल्प लाभ होता है इसमें मंद पुण्यका अनुभाग कारण है। अक-स्मात् आग लग जाना, नदीमें डूबना, गिरपड़ना आदि तीव्र पापके उदयके कार्य हैं। अकस्मात् धनका, यशका, मान सम्मानका लाभ होजाना तीव्र पुण्यके उदयका कार्य है। कर्म वर्गणामें तैजस वर्ग-णासे अनंत गुणे परमाणु होते हैं। इससे यह सिद्ध है कि तैजससे

कार्मण वर्गणामें अनन्तगुणी शक्ति है। तेजसको बिजली कहते हैं। वर्तमान कालमें बिजलीके बलसे अद्भुत कार्य दीख रहे हैं। बिना तारके सम्बन्धके हजारों कोश शब्दोंका चले जाना व प्रकाशका चले जाना। क्षणमात्रमें हजारों कोश दूरकी आवाजका सुन लेना। तब कर्मोंमें इससे अनंत गुणी अदभुत शक्ति काम करनेकी है। कर्मोंके असरसे अपने या दूसरोंके भाव पलट जाते हैं। मंत्रकी शक्तिसे भाव पूर्वक पढ़कर फूंके हुए सरसोंके दाने सर्पका विष उतार देते हैं, वर्षा ले आते हैं, मनको वश कर लेते हैं। इसी तरह जीवोंके नाना प्रकार भावोंके द्वारा बांधे हुए कर्म जब पककर फल देते हैं तब अदभुत कार्य उत्पन्न करते हैं। पुण्यात्मा व्यापारीके पास दूरसे ग्राहक खिंचे चले आते हैं। पापी व्यापारीको देखकर ग्राहकोंका मन उचाट हो जाता है। पुण्यात्मा जन्मका पैदा हुआ बालक सबके मनको मोहित कर लेता है। पापी बालकको देख लोगोंका मन घृणारूप होजाता है। पुण्यात्माके कार्यमें सहाय करनेको बहुत जन तैयार हो जाते हैं, पापीके पास कोई खड़ा नहीं होता है।

इन कर्मोका हाल जाननेका प्रयोजन यह है कि हमको पुण्यके उदयको व पापके उदयको घूप व छायाके समान क्षणभंगुर मानना चाहिये। इनमें रागी द्वेषी न होना चाहिये तब हमारा भविष्यमें अलाभ न होगा। क्योंकि जीवोंके भाव ही नवीन कर्म-बन्धके कारण होते हैं। इसलिये हरएक बुद्धिमानको अपने भावोंकी सम्हाल रखनी चाहिये। अशुभ भाव जो तीव्र कषायरूप होते हैं वे कर्मोंके नाशक हैं। अतएव हमें शुद्ध भावोंका यत्न करना चाहिये। उनके अभावमें शुभ भाव रखने चाहिये, अशुभ भावोंसे बचना चाहिये।

अध्याय पांचमा।

सम्यक्तीके कर्म निर्जरा।

यद्यपि कर्म बंधनेके पीछे आबाधा कालको टालकर शेष अपनी सर्व बांधी हुई स्थितिमें समय२ वंट जाते हैं और यदि कुछ कर्मोकी दशामें परिवर्तन न हो तो वंटवारेके अनुसार कर्म समय २ झड़ते जाते हैं, इस निर्जराको सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा सर्व संसारी जीवोंके हर समय हुआ करती है। इस निर्जरासे आत्मा शुद्ध हो नहीं सक्ता क्योंकि बहुधा सविपाक निर्जराको होते हुए भाव रागद्वेष मोहरूप हो जाते हैं उन भावोंसे नवीन कर्मोंका बंध बहुत हो जाता है। इसलिये उस निर्जराको गज-स्नानकी उपमा दी गई है। जैसे हाथी एक तरफ सूंडसे जल डालता है दूसरी दफे फिर अपने ऊपर मट्टी डाल लेता है। आत्माकी शुद्धिका उपाय अविपाक निर्जरा है। जहां कर्म अपनी स्थितिको घटाकर शीघ्र ही आत्माकी सत्ताको छोड़ बैठें तथा जहां संवर भी साथ २ हो, नवीन कर्म बहुत तरहके न बंधे और बहुतसी कर्मोकी निर्जरा भी हो जावे। यह संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्षका साक्षात् उपाय है। जहां तालावमें नया पानी तो न आवे या बहुत कम आवे और पिछला पानी अधिक निकले तो वह तालाव शीघ्र ही पानीसे खाली हो जायगा। यह कर्मोंसे खाली होनेका कार्य अर्थात् संवर पूर्वक निर्जरा सम्यक्तीके वास्तवमें प्रारम्भ होती है। यह पहले बता चुके हैं कि चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यक्तीके भी ४१ कर्म प्रकृतियोंका संवर रहता है जो दुर्गतिमें प्राप्त करानेवाली

हैं व जो अनन्त संसारकी कारण हैं। साधारण रीतिसे विचार किया जाय तो सम्यक्ती सम्यक्त होनेके पूर्वहीसे सब कर्मोंकी स्थिति सिवाय आयुकर्मके जो वीस, तीस, चालीस, या सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर थी उनको घटाकर अंतः कोड़ाकोड़ी सागर मात्र कर देता है। सम्यक्त अवस्थामें इनकी स्थिति और भी घटती जाती है। स्थिति घटाकर कर्मोंको शीघ्र ही उदयमें लाकर खिरा देना सम्यक्तीके हुआ करता है। सम्यक्तीके जो कर्मोंके उदयसे सुख व दुःखकी अवस्था होती है उसेंम वह हर्ष विषाद नहीं करता है इसलिये कर्मोंकी निर्जरा बहुत होजाती है और बंध बहुत अल्प स्थिति व अनुभागको लिये उन ही कर्म प्रकृतियोंका होता है जो उस गुणस्थानमें संभव है जिसमें वह सम्यक्ती विद्यमान है। सम्यक्तीको गाढ़ रुचि आत्मानुभवकी तरफ रहती है, वह आत्मीक सुखका प्रेमी रहता है। उसके मनकी वासनामें मुक्ति सुन्दरी बस जाती है। वह सांसारिक विभूति स्त्री, धन, राज्य, विषयभोगसे अत्यन्त उदास व वैरागी होता है। यद्यपि चौथे व पांचवें गुणस्थानवाले सराग सम्यक्ती अप्रत्याख्यान या प्रत्याख्यान कषायके तीव्र उदयको अपने आत्मबलकी कमीसे रोक नहीं सक्ते इसलिये लाचार हो कषायके अनुकूल गृहस्थीके कार्य व काम पुरुषार्थका प्रबन्ध करते हैं तथापि मनसे यही समझते हैं कि यह मेरे आत्माका कार्य नहीं है, मैं कर्मोंके उदयकी वरजोरीसे यह सब काम कर रहा हूं। मैं इनका कर्ता नहीं, मैं विषयसुखोंका भोक्ता नहीं, मुझे कर्मोंके उदयवश कर्ता व भोक्ता बनना पड़ता है। मेरेको यह कर्म रोग लगा है, यह कर्म रोग कब मिटे व कब मैं इस कर्म द्वारा प्रेरित मन वचन कायकी चेष्टासे

निवृत्त होऊँ। जैसे रोगी रोगका इलाज करता हुआ भी रोगसे व रोगके इलाजसे दोनोंसे उदास है वैसे सम्यक्ती कर्मोंके उदयसे व मन वचन कायकी क्रियासे इस सर्वसे पूर्ण उदास है। सम्यक्ती सदा यह भावना भाता रहता है जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसारमें कहते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सयारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं विं॥

भावार्थ—मैं निश्चयसे सदा ही एक एकेला हूं, शुद्ध हूं, दर्शन व ज्ञानमई हूं, अमूर्तिक हूं, मेरा अन्य कोई परमाणु मात्र भी कोई संबंधी नहीं है। जैसे बालक क्रीड़ाका प्रेमी होता हुआ मा बापकी प्रेरणासे पढ़ने जाता है, पढ़ता है, पाठ याद करता है तथापि भीतरसे क्रीड़ाकी ही भावना रखता है। जब पढ़नेसे छुट्टी पाता है तो समझता है कि मैं कैदसे छूटा। उस बालककी जैसी रुचि खेलनेमें है वैसी रुचि पढ़नेमें नहीं है। वैसे सम्यक्ती आत्मरस पानका व आत्मानुभवका प्रेमी होता है। आत्मकार्यके सिवाय अन्यकार्यका रुचिवान नहीं होता है तथापि कर्मोंके उदयसे जो मन वचन कायकी क्रिया करता है उसको अरुचिपूर्वक लाचारीसे करता है। ज्यों ही उनसे छुट्टी पाता है कि आत्माके उपवनमें रमण करने लग जाता है। अपनी बुद्धिमें जैसे आत्मज्ञानको चिरकाल धारता है वैसे अन्य कार्यको नहीं धारण करता है। श्री पूज्यपादजी समाधिशतकमें कहते हैं—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरं।
कुर्यादर्थवशात्किंचिपि वाक्कायाभ्यामतत्परः॥

भावार्थ—आत्मज्ञानके सिवाय अन्य कार्यको बुद्धिमें चिरकाल

नहीं धारण करके ज्ञानीको यदि कुछ काम प्रयोजनवश करना पड़े तो वह विना लवलीन हुए अपने वचन और कायसे कर लेता है। सम्यक्तीके निर्वांछक अँग होता है यह पहले बता चुके हैं इसलिये वह इंद्रियसुखको दुःखरूप मानता है। आत्मीक सुखको ही ग्रहण योग्य समझता है। इसलिये उसका इंद्रियभोग व इंद्रियभोगका यत्न कषायके उदयके सहनेकी असमर्थतासे होता है। आत्मबलकी कमीसे वह सरागी सम्यक्ती कषायके बलको रोक नहीं सक्ता है तब वह हेय या अकर्तव्य जानता हुआ भी कषायके उदयके अनुसार कार्योंमें प्रवर्तता है। वह इसलिये इन कार्योंका स्वामी नहीं बनता है। जैसे किसीके पुत्रका विवाह हो और अनेक दूसरे उसके संबंधी उसके घरमें आवें और आकर विवाह वालेके यहांका सर्व कार्य कर और वह घरका स्वामी चाहे अलग बैठा रहे। तब भी जो बाहरवाले काम कर रहे हैं वे अपनेको उनका स्वामी नहीं मानते हैं। किंतु जो घरका मालिक अलग बैठा है व काम न करते हुए भी अपनेको घरके सर्व कामोंका स्वामी मानता है। बाहरवाले उन सर्व विवाह सम्बंधी कामोंको, परके हैं हमारे नहीं ऐसा समझकर करते हैं, उनके स्वामी नहीं होते हैं उसी तरह सम्यक्ती कर्मोंके उदयसे जितने काम करते हैं उनके वे स्वामी नहीं बनते हैं। उनका स्वामित्व अपने आत्मीक अनुभवसे ही रहता है। जितना राग स्वामीको होता है उतना राग सेवकको नहीं होता है। इसीलिये सम्यक्तीको कार्य करते हुए अकर्ता और भोग भोगते हुए अभोक्ता कहते हैं। इसीलिये सम्यग्दृष्टीके भोग निर्जरा ही के कारण हैं। जैसा समयसारमें श्री कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं—

उपभोज मिंदियेहि य दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी त सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ ६०२ ॥

भा०—सम्यग्दृष्टी उदास भावसे इंद्रियोंके द्वारा चेतन व अचेतन द्रव्योंका भोग करता है वह सर्व कर्मकी निर्जराके वास्ते है। इसका भाव यही है कि निर्जरा जितनी होती है उसकी अपेक्षा बन्ध गुण-स्थानुसार बहुत अल्प स्थिति व अनुभागका होता है। और भी कहा है—

दव्वे उपभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च।
तं सुहदुःख मुदिण्णं वेददिअह णिज्जरं जादिह ॥ २०३ ॥

भावार्थ—द्रव्योंको भोगते हुए नियमसे सुख या दुःख होता है। उस उदय आये हुए सुख दुःखको वह सम्यक्ती ज्ञाता दृष्टा होता हुआ हेय बुद्धिसे भोग लेता है इसलिये उन उदय प्राप्त कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है—वैसा बंध नहीं होता है। वह कैसा विचारता है—

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
णहु एस मज्झभावो जाणगभावोदु अहमिक्को ॥ २०७ ॥
उदय विपागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
णदु ते मज्झसहावो जाणगभावो दुअहमिक्को ॥ २१० ॥
एवं सम्माइट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणग सहावं।
उदयं कम्म विवागं च मुआदितच्चं वियाणंतो ॥ २०९ ॥

भावार्थ—सम्यक्ती ऐसा समझता है कि जब उसके क्रोधका उदय आता है कि पुद्गल कर्मरूप द्रव्य क्रोध है उसीका उदयरूप विपाक यह भाव क्रोध है। यह मेरा आत्मीक भाव नहीं है। मैं तो निश्चयसे मात्र इस भावका जाननेवाला हूं। इसी तरह जितने प्रकारके मान, लोभ, भय, शोक, आदि औपाधिक भाव सम्यक्तीके भीतर उदय हो जाते हैं तो उस समय वह वस्तुस्वरूपको विचार

लेता है कि भावोंमें कलुषता कर्मका रस है, मेरा ज्ञानस्वभाव इस स्वरूप नहीं है, यह भाव त्यागने योग्य है, पर है ॥२०७॥ जिनेन्द्रोंने यह बात बताई है कि कर्मोंके उदय होते हुए उनका फल नाना प्रकारका होता है। इन आठों ही कर्मोंका उदय मेरे आत्माका स्वभाव नहीं है, मैं तो मात्र एक ज्ञायक स्वभाव हूं। इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, रोग, शोक आदि अनेक अवस्थाएं मानव जीवनमें हो जाती हैं, उन सबको वह ज्ञानी कर्मरूपी रोगका असर जानता है। आप अपने स्वभावसे उनको भिन्न जानता हुआ उदास रहता है। ॥२१०॥ इस तरह सम्यक्ती अपने आपको ज्ञायक स्वभाव जानता रहता है और कर्मोंके उदयको अपनेसे भिन्न जानकर व अपने आत्मबलको ही अपना मानकर उन कर्मोंसे प्रीति या राग-द्वेष नहीं करता है। सुखकी सामग्री होते हुए हर्ष व दुःखका सामान होते हुए विषाद नहीं करता है। जैसे कोई बुद्धिमान व्यापारी अपनी दुकानमें बैठा है, यदि कोई सुन्दर स्त्री सौदा लेने जाती है तो वह उसकी सुन्दरताको देखकर भी उसपर राग न करके सौदा देकर अपने कामपर ध्यान रखता है। यदि कोई कुरूपा काली कानी स्त्री सौदा लेने आती है तो वह उसकी कुरूपताको देखकर भी उसपर द्वेष न करके सौदा देकर अपने कामपर ध्यान रखता है। इसी तरह सम्यक्ती जीव नित्य ही अपनी दृष्टि अपने आत्म तत्वपर रखता है, सुखके पड़नेपर आसक्त व दुःखके पड़नेपर त्रासित नहीं होता है। समभावको रखते हुए सुखदुःखको भोग लेता है, इसीसे बहुत अधिक निर्जरा हो जाती है। और भी कहा है—

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं।
कंखा मणागदस्सय उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥ २२ ॥

भावार्थ–सम्यक्तीके जो वर्तमान कालमें कर्मोंके उदयसे भोग प्राप्त होते हैं उनमें ही नित्य वियोग बुद्धि रहती है अर्थात् वर्तमान भोगोंको भी अरुचि पूर्वक हेय बुद्धिसे भोगता है। वह ज्ञानी भावी भोगोंकी इच्छा तो करता ही नहीं है। क्योंकि सम्यक्तीके गाढ़रुचि अपने आत्मीक आनन्दके भोगसे है। उसके सामने संसार भोगको वह कटुक व विष तुल्य समझता है।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि कम्मरएणदु कद्दममज्झे जहाकणयं ॥ २२९॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएणदु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२३०॥

भावार्थ–ज्ञानी आत्मा कर्मोंके मध्य पड़ा हुआ भी सर्व परद्रव्योंसे रागभावको त्यागता हुआ उसी तरह कर्मरूपी रजसे नहीं लिप्त होता है जिसतरह सुवर्ण कीचमें पड़ा हुआ भी जंग नहीं खाता, बिगड़ता नहीं है। परन्तु अज्ञानी कर्मोंके मध्य पड़ा हुआ सर्व परद्रव्योंमें रागी होता हुआ कर्मरूपी रजसे लिप्त जाता है जिस तरह लोहा कीचमें पड़ा हुआ जंग खा जाता है। ज्ञानीके भीतर सम्यक्त भाव है, अज्ञानीके भीतर मिथ्यात्व भाव है। ज्ञानी आत्मरसिक है, अज्ञानी विषयभोग रसिक है। ज्ञानीका भीतरी भाव अलिप्त है, अज्ञानीका लिप्त है।

अमृतचन्द्राचार्य
श्री ~~समन्तभद्राचार्य~~ समयसार कलशमें कहते हैं–

ज्ञानिनो नहि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव बहिर्लुठतीह ॥ १६ ॥

भावार्थ-ज्ञानीके भीतर रागरसकी शून्यता होती है इसलिये उसके कर्मोंका उदय ममता भावको प्राप्त नहीं करता है। जैसे जिस वस्त्रको कषायला न किया गया हो उसके ऊपर रंगका संयोग होते हुए भी बाहर२ रहता है उस वस्त्रके भीतर प्रवेश नहीं करता है।

इत्यादि कथनसे यह बात दिखाई है कि सम्यक्तीके कर्म उदयमें आकर झड़ते चले जाते हैं। यद्यपि यह सविपाक निर्जरा है तथापि सम्यक्तीके लिये हानिकर इसलिये नहीं है कि सम्यक्ती जितनी निर्जरा करता है उसके मुकाबलेमें नवीन बंध बहुत ही अल्प करता है। तीव्र बंधके कारण अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व भाव हैं सो चौथे गुणस्थानी अविरत सम्यक्तीके नहीं होते हैं। यही सम्यक्ती यदि देशविरत श्रावक होजाता है तो बन्धके कारण अप्रत्याख्यान कषायको भी हटा देता है। वही यदि प्रमत्त विरत साधु हो जाता है तो प्रत्याख्यान कषायको भी नहीं रखता है। वही अप्रमत्तविरत गुणस्थानमें संज्वलन कषाय व नौनोकषायको अतिमंद रखता है। आठवे अपूर्वकरण गुणस्थानमें इनका और भी मंद उदय होजाता है। नौमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें हास्यादि ६ का उदय नहीं रहता है, मात्र वेद व ४ कषायका उदय रहता है, वह भी घटता हुआ अन्तमें १० वां सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान कहलाता है। यहींतक कषाय है व यहींतक वास्तविक कर्मोंका बंध होता है। सम्यक्तीके जितनी २ कषायकी मंदता बढ़ती जाती है उतनी २ अल्प स्थिति वाले कर्म बंधते हैं व पापकर्मोंमें अल्प अनुभाग पड़ता है। यद्यपि पुण्यकर्मोंमें तीव्र अनुभाग पड़ता है। वह पुण्य सम्यक्तीके मोक्षमार्गमें हानिकर नहीं होता है। इस तरह सवि-

पाक निर्जरा अधिक व बंध अल्प होता है यह बात दिखलाई गई।

अब अविपाक निर्जरा सम्यक्तीके कैसे होती है सो कहते हैं। जब यह जीव सम्यक्तके सन्मुख होता है, अपूर्वकरण लब्धि प्राप्त करता है तब इसके चार आवश्यक होते हैं। स्थिति खंडन, अनुभाग खंडन, गुणसंक्रमण व गुणश्रेणी निर्जरा। अर्थात् विशुद्ध भावोंके प्रतापसे आयुके सिवाय सर्व कर्मोंकी स्थिति जो बंधी हुई है वह कमती होती जाती है व आगे भी कम स्थितिवाले कर्मोंका बंध होता है, पापकर्मोंका अनुभाग घटाता है। घातियाकर्मोंका अनुभाग जो पाषाण, अस्थि, दारु व लतारूप था उनको दारु व लतारूप कोमल करता है व अघातिया पाप कर्मोंका अनुभाग जो हालाहल, विष, कांजीर व निम्बरूप था उसको घटाकर कांजीर व निम्बरूप करता है। पाप कर्मोंका संक्रमण पुण्यकर्मोंमें होना यह गुण संक्रमण है। पाप कर्मोंकी असंख्यात गुणी निर्जरा समय २ होना यह गुण श्रेणी निर्जरा है। विशुद्ध भावोंके प्रतापसे ये चार बातें अनिवृत्तिकरण लब्धिमें भी होती रहती हैं–

सम्यक्त होनेके लिये जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उनके प्रतापसे गुण श्रेणी निर्जरा होती है। यह निर्जरा नीचे प्रकार अधिक अधिक होती है।

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है:—

मिच्छादो सद्दिट्ठी असंखगुणिकम्मणिज्जरा होदि।
तत्तो अणुव्वयधारी तत्तोय महव्वई णाणी॥ १०६॥

पढमकसाय चउण्हं विजोजओ तहय खवयसीलोय।
दंसणमोह तियस्सय तत्तो उपसमग चत्तारि॥ १०७॥

खवगोय खीणमोहो सजोइणाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं असंखगुणकम्म णिज्जरया ॥ १०८ ॥

भावार्थ–प्रथमोपशम सम्यक्तकी उत्पत्तिमें करणत्रय वर्ती विशुद्ध परिणाम युक्त मिथ्यादृष्टिके जो निर्जरा होती है उससे असंयत सम्यग्दृष्टिके असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इससे देशव्रती श्रावकके असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इससे अनन्तानुबन्धी कषायको विसंयोजन या अप्रत्याख्यानादि रूप परिणमाते हुए असंख्यात गुणी होती है। इससे दर्शन मोहके क्षय करनेवालेके असंख्यात गुणी होती है इससे उपशम श्रेणीके तीन गुणस्थानोंमें असंख्यात गुणी होती है। इससे उपशांत मोह ग्यारहवें गुणस्थानमें असंख्यात गुणी होती है। इससे क्षपक श्रेणीके तीन गुणस्थानोंमें असंख्यात गुणी होती है। इससे क्षीण मोह बारहवें गुणस्थानमें असंख्यात गुणी होती है इससे सयोग केवलीके असंख्यात गुणी होती है। इससे अयोग केवलीके असंख्यात गुणी होती है। ऊपर २ असंख्यात गुणाकार है इसीसे इसको गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं। सर्वार्थसिद्धि टीकासे ऐसा भाव झलकता है कि ये सर्वस्थान एक २ अंतर्मुहूर्त तकके हैं, जब परिणाम समय २ अनंतगुण विशुद्ध होते जाते हैं। हरएक अंतर्मुहूर्तमें भी समय २ असंख्यात गुणी निर्जरा होती है और अवस्था बदलते हुए भी उससे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। सम्यग्दृष्टिके सन्मुख अपूर्वकरण लब्धिमें यह निर्जरा शुरू हो जाती है इससे असंख्यातगुणी उस समय होती है जब सम्यग्दृष्टि होता है। उपशम सम्यग्दृष्टी अंतर्मुहूर्त ही रहता है उस समय परिणाम

विशुद्ध रहते हैं तब असंख्यातगुणी निर्जरा समय २ हो सक्ती है ऐसा भाव झलकता है उससे जब अप्रत्याख्यान कषायका उपशम होते हुए श्रावक होता है तब जितनी देरके अंतर्मुहूर्त तक परिणाम चढ़ते हुए रहते हैं उतनी देर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इसी तरह आगेकी अवस्थाओंमें जानना चाहिये। १२ वें गुण-स्थानमें जब दूसरे शुक्लध्यानको ध्याता हुआ घातिया कर्मोंका क्षय करता है उस समयके अन्तर्मुहूर्तमें क्षीणकषाय होनेवाले कालसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। असंयमी वेदक व क्षायिक सम्य-क्तका व देशव्रतीका काल बहुत है तब ये गृहस्थ अनेक आर-म्भादिके काम भी करते हैं। उस समयकी अपेक्षा नहीं है मात्र उपशम या क्षायिक सम्यक्त पाते हुए या देश संयमी होते हुए कालकी अपेक्षासे यह गुणश्रेणी निर्जरा है। अविपाक निर्जरा जितनी २ वीतरागता अधिक होगी उतनी २ अधिक होगी। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहते हैं—

> उपसम भाव तवाणं जह जह वड्ढी हवेइ साहूणं।
> तह तह णिज्जर वड्ढी विसेसदो धम्म सुक्कादो ॥१०५॥

भावार्थ—साधुओंके जैसे २ शांतभावकी वृद्धि होती जाती है वैसे २ निर्जरा बढ़ती जाती है। धर्मध्यान और शुक्लध्यानसे विशेष निर्जरा होती है।

ऊपर जो गुणश्रेणी निर्जराके स्थान बताए हैं इससे भी अधिक गुणाकार रहित निर्जरा नीचे लिखे कारणोंसे होती है—

> जो विसहदि दुव्वयणं साहम्मिय हीलणं च उपसग्गं।
> जिणऊणकसायरिउं तस्स हवे णिज्जरा विउला ॥१०६॥

भावार्थ-जो मुनि दुर्वचन सहे, साधर्मी मुनिद्वारा अनादर सहे, देवादि द्वारा उपसर्गको सहे तथा कषायरूपी शत्रुके वश न होकर शांत परिणाम रक्खे उसके बहुत कर्मोंकी निर्जरा होती है।

रिणमोयणुव्व मण्णइ जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं ।
पापफलं मे एदे मयावियं संचिदं पुव्वं ॥ ११० ॥

भावार्थ-जो मुनि उपसर्ग और तीव्र परिषहको ऐसा माने जो मैंने पूर्वजन्ममें पापका संचय किया था उसका यह फल है, यह मेरा कर्म छूट रहा है, आकुलता न करे, उसके बहुत निर्जरा होती है।

जो चिंतेइ शरीरं ममत्तजणयं विणस्सरं असुहं ।
दंसणणाणचरित्तं सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं ॥ १७१ ॥

भावार्थ-जो मुनि इस शरीरको ममता जनक, विनाशीक, व अशुचि माने तथा जिसके सुखजनक दर्शन ज्ञानचारित्र निर्मल नित्य बने रहें अर्थात् स्वरूपमें रमे उसके बहुत निर्जरा होती है

अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेदि बहुमाणं ।
मणइंदियाण विजई स सरूवपरायणो होदि ॥ ११२ ॥

भावार्थ-जो साधु अपनी निंदा करे परन्तु गुणवानोंका बहुत मान करे, मन व इंद्रियोंका विजयी हो तथा अपने आत्मस्वरूपमें लवलीन हो उसके बहुत निर्जरा होती है ।

तस्स य सहलोजम्मो तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि ।
तस्सवि पुण्णं वड्ढइ तस्सय सोक्खं परो होदि ॥ ११३ ॥

भावार्थ-जो साधु ऊपरे लिखित निर्जराके उपायोंमें प्रवर्तता है उसीका जन्म सफल है व उसीके पापकी निर्जरा होती है व उसीके ही पुण्यकर्मका अनुभाग बढ़ता है, उसीको ही परमसुखकी प्राप्ति होती है ।

जो सम सुक्खणिलीणो वारंवारं सरेइ अप्पाणं ।
इंद्रियकसायविजइ तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥११४॥

भावार्थ—जो मुनि समतामई वीतराग सुखमें लीन होते हुए वह द्रव्य कषायोंको जीतते हुए वार २ अपने आत्माको ध्याते हैं उनके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

सम्यग्दृष्टि होनेके सन्मुख होते हुए ही अविपाक निर्जराका काम शुरू हो जाता है। ऐसा झलकता है कि जब २ आत्मानुभवीके परिणाम विशुद्ध होते हैं अर्थात् अपूर्वकरण लब्धिके समयसे भी अधिक विशुद्ध होते हैं जो लब्धि सम्यक्तप्राप्तिके लिये कारणरूप थी उस समय स्थिति खंडन, अनुभाग खंडन, गुण संक्रमण, गुणश्रेणी निर्जरा ये चारों बातें होने लगती हैं। ये ही आत्माकी शुद्धिके कारण हैं। कर्मोकी स्थिति जितनी २ घटती जायगी व जितनी २ कम स्थितिवाले कर्म बंधेंगे उतना २ ही संसारका पार निकट आता जायगा। जितनी २ मंद कषाय होगी उतनी स्थिति कम बंधेगी। मात्र आयुकर्मका हिसाब छोड़देना चाहिये, शेष पाप व पुण्य सर्व ही कर्मोंकी स्थिति कम पड़ेगी। पहले बांधे कर्मोंकी स्थिति भी जितनी २ कम होती जायगी उतने२ शीघ्र वे झड़नेको तैयार हो जांयगे। सर्व ही पापकर्मोंका अनुभाग खण्डन होता जायगा व पुण्यकर्मका बढ़ता जायगा, जिससे यदि पापका उदय आवेगा तो बहुत अल्प हानिकारक होगा व पुण्यका उदय विशेष साताकारी होगा। जिनका बंध न पाइये ऐसी अशुभ प्रकृतियोंका द्रव्य असंख्यात गुणा क्रम लिये जिनका बंध पाइये ऐसी स्वजाति शुभ प्रकृतियोंमें बदलजाना सो गुणसंक्रमण है। यह

भी बड़ा उपकारी है। गुणश्रेणी निर्जरा तो उपकारी है ही। इससे भी अधिक निर्जरा आत्मध्यानसे होती है। वीतरागमयी भावोंके प्रतापसे बहुतसे कर्म जिनकी स्थिति अल्प रही थी वे शीघ्र स्थितिको क्षय करके गिर जाते हैं व जिनकी स्थिति अधिक थी उनकी स्थिति कम होजाती है। कर्मोंकी स्थिति घटाकर गिर जाना ही अविपाक निर्जरा है। इसका मुख्य उपाय तप है। तपमें मुख्य ध्यान है। शेष ११ तप उस आत्मध्यानके लिये कारण हैं।

उपवास करके अपना समय धर्मध्यानमें विताना विशेष कर्म निर्जराका कारण है। ऊनोदर करके प्रमादको जीत विशेष स्वाध्याय व ध्यानमें लीन होजाना विशेष निर्जराका उपाय है। कोई प्रतिज्ञा ले संतोषसे भोजनको जाना, न मिलनेपर आनन्द भाव रखना व ध्यान स्वाध्यायमें अधिक जम जाना विशेष निर्जराका हेतु यह वृत्तिपरिसंख्यान तप है। रसोंका त्याग करके इच्छाओंको जीतकर आत्माके रसमें रंजित होना विशेष निर्जराका कारण यह रस परित्याग तप है। एकांतमें शयन आसन करके ध्यान स्वाध्यायकी वृद्धि करनेका हेतु विशेष निर्जराका कारण विविक्त शय्यासन तप है। कठिन कठिन स्थानोंमें निर्भय हो ध्यानस्थ हो जाना व कायको क्लेश पड़ते हुए भी क्लेश भाव न मालूम करना परम निर्जराका कारण कायक्लेश तप है। अपने भाव शुद्ध रखके यदि कोई दोष मन वचन कायसे हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त लेकर भावकी शुद्धि करके आत्मध्यान करना विशेष निर्जराका कारण प्रायश्चित्त तप है। रत्नत्रय व रत्नत्रय धारियोंका विनय करते हुए परम प्रेमसे आत्माके स्वरूपमें तल्लीन होना विशेष निर्जराका उपाय विनय तप है। रोगी,

थके, पीड़ित साधु संतोंकी वैयावृत्य टहल सेवा करके उनके संयममें सहाई होते हुए अपनेको धन्य मानना व गर्व रहित हो अपने ध्यान स्वाध्यायमें लीन होना विशेष निर्जराका कारण वैयावृत्य तप है। मन वचन कायको और मार्गोसे रोककर शास्त्र स्वाध्यायके पांच प्रकार भेदोंमें लगाकर तत्वका मनन करना परम निर्जराका कारण स्वाध्याय तप है। शरीरादिसे ममता त्याग करके आत्मामें आत्मस्थ होना परम निर्जराका कारण व्युत्सर्ग तप है। साक्षात् धर्मध्यान व शुक्लध्यान करना तो महान अविपाक निर्जराका कारण है। बारह तपोंसे विशेष कर्मोंकी निर्जरा होती है। व अघातिक पापकर्मोंका संवर होता है। घातीय कर्मोंका बन्ध जो गुणस्थानानुसार होता भी है उनमें बहुत अल्प स्थिति व अनुभाग पड़ता है। वास्तवमें यह तप संवर और निर्जरा दोनोंका कारण है। श्री समयसारमें कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराय संपण्णो।
एसो जिणो व एसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥

भावार्थ—रागी जीव कर्मोंको बांधता है, वैरागी जीव कर्मोंसे छूटता है यह जिनेंद्रका उपदेश है। इसलिये हे भव्य! तू कर्मोंमें रंजायमान मत हो। १४८ प्रकृतियोंमें कितनी प्रकृतियां किस २ गुणस्थानमें बिलकुल निर्जरित होकर आत्माकी सत्ताको छोड़ देती हैं यह कथन पहले अध्यायमें निर्जरा तत्वके स्वरूपमें कहा गया है। सम्यक्त पूर्वक ज्ञान व चारित्र सर्व ही यह रत्नत्रयमई आत्मीक भाव कर्मोंके मैलको छुड़ानेवाले हैं। सम्यक्तीके किस तरह सविपाक व अविपाक निर्जरा होती है यह कथन यहांपर संक्षेपसे किया

गया है। विशेष जाननेके लिये लब्धिसार व क्षपणासारको देखना चाहिये। इस मोक्षमार्ग प्रकाशकमें इतना ही समझना जरूरी है कि संसार शरीर व भोगोंसे उदासीनता व निश्चय रत्नत्रयमई आत्मीक भाव कर्मोंकी निर्जराके कारण हैं। अतएव मुमुक्षु जीवको उचित है कि वह निरन्तर इनका अभ्यास करे। यही आत्म मनन बन्धको अल्प कराता हुआ कर्मोंकी विशेष निर्जरा करेगा और शीघ्र ही मोक्षद्वीपमें ले जायगा।

अध्याय छठा।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप।

यदि विचार कर देखा जावे तो सम्यग्दर्शन सहित ही ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहेंगे क्योंकि ऐसा ही ज्ञान मोक्षमार्गका एक अंग है। यदि मतिज्ञान व्यवहारमें ठीक हो व शास्त्रज्ञान भी यथार्थ हो यहांतक कि ११ अंग ९ पूर्व तकका ज्ञान हो और उस ज्ञानमें कोई संशय विपर्यय व अनध्यवसाय न हो परन्तु वह सम्यग्दर्शन सहित न हो तो उस ज्ञानको कभी भी सम्यग्ज्ञानरूपी मोक्षमार्ग नहीं कह सकते। क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके वह ज्ञान आत्माकी शुद्धिका साधक नहीं होता है।

न्याय शास्त्रद्वारा जिसको प्रमाण ज्ञान या सच्चा ज्ञान कहते हैं वह ज्ञान सम्यग्दर्शन सहित ही सम्यक्ज्ञान नाम पाता है। यों देखा जावे तो तत्वोंको समझनेके लिये जिस अधिगम बाहरी कारणकी आवश्यक्ता है वह अधिगम प्रमाण और नयसे होता है। यह वही प्रमाण है जिसको न्यायशास्त्रमें प्रमाण कहा गया है।

" स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं "

भावार्थ-अपना और अपूर्व (पूर्वमें अनिश्चित) पदार्थका निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण है। इस प्रमाणसे पदार्थका जब निश्चय हो जाता है तब हितका ग्रहण व अहितका त्याग होता है यह प्रमाण ज्ञान प्रत्यक्ष व और परोक्षके भेदसे दो प्रकार है। मतिज्ञान इंद्रिय और मनके द्वारा होता है इसलिये परोक्ष है तथापि उसको न्यायशास्त्रमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। वास्तवमें प्रत्यक्षज्ञान वह है जो इंद्रिय और मनकी सहायतासे न होकर आत्मा ही के द्वारा हो। ये ज्ञान तीन हैं-अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये तीनों ज्ञान विशेष प्रकारकी आत्मविकाशकी शक्तियां हैं। एक मुमुक्षुको सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये परोक्षज्ञानकी ही आवश्यक्ता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी जरूरत है। परोक्षज्ञानके भेद न्यायशास्त्रमें इस तरह कहे हैं—

" प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदं ॥ "

भावार्थ-सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और स्मृति आदिकी सहायतासे यह परोक्षज्ञान होता है। इस परोक्षज्ञानके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पांच भेद हैं। पदार्थोंके निर्णय करनेके ये उपाय हैं। पांच इंद्रिय और मनके द्वारा सीधा पदार्थका ज्ञान होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं। इस मतिज्ञानके होनेमें क्रमसे ज्ञानकी वृद्धिकी अपेक्षा चार भेद हैं-अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। पदार्थका कुछ ग्रहण या जानपना होना उसको अवग्रह कहते हैं। यह ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। जिस विषयके जाननेकी तरफ आत्मा अपना उपयोग लेजाता है उस समय पहले

एक ऐसा सामान्य ग्रहण होता है जिसका आकार ज्ञानमें नहीं झलकता, इसको दर्शन कहते हैं। उसके पीछे ही जो कुछ जाननेमें आता है उसको अवग्रह कहते हैं। उसके पीछे उसका विशेष जाननेमें आना कि यह ऐसा माल्हम होता है ऐसा शिथिलज्ञान सो ईहा है। फिर निश्चय होजाना कि यह अमुक पदार्थ है सो अवाय है। इसको ऐसा जान लेना कि स्मरणमें रहे सो धारणा है। जैसे कानमें शब्द आया। उपयोगने जब शब्द स्पर्श किया तब दर्शन हुआ, फिर जाना कुछ शब्द है, यह अवग्रह है। यह काकका शब्द माल्हम पड़ता है, यहईहा है,यह काकका ही शब्द है, यह अवाय है। इसीको याद रखना कि काक शब्द सुना था, धारणा है। यह अवगृह आदि १२ प्रकारके पदार्थोंका होता है। १ बहु—बहुतसोंका एक दम, २ अल्प—एकका, ३ बहुविध—बहुत तरहकी वस्तुका, ४ एकविध—एक तरहकी वस्तुका, ५ क्षिप्र—शीघ्र गमन या परिणमन करनेवाली वस्तुका, ६ अक्षिप्र—धीरे गमन या परिणमन करनेवाली वस्तुका, ७—अनिःसृत—छिपी या ढकी वस्तुका, ८ निःसृत—प्रगट वस्तुका, ९ अनुक्त—विना कही वस्तुका अभिप्राय मात्रसे, १० उक्त—कही हुई वस्तुका, ११ ध्रुव—दीर्घकाल स्थायी वस्तुका, १२ अध्रुव—क्षणिक वस्तुका। इस तरह १२ को चार दफे गुणनेसे ४८ भेद हुए। पांच इन्द्रिय और मन प्रत्येकसे यह ४८ भेद होसके हैं। इसलिये २८८ भेद अर्थावग्रहके हैं। जिस पदार्थका इतना ग्रहण होसके कि उसमें ईहा आदि होसके वह अर्थावग्रह है तथा जिसका इतना अप्रगट ग्रहण हो कि ईहा आदि न होसके वह व्यंजनावग्रह है। जैसे किसीका शब्द कानके उपयोगमें इतना कम झलका कि

हम आगे विचार ही नहीं कर सक्के कि किसका शब्द है, यह व्यंजनावग्रह है। जहां पदार्थ इंद्रियोंसे भिड़कर जाना जाता है वहां ही व्यंजनावग्रह होता है। इसलिये यह चक्षु या मनसे न होकर मात्र स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण इंद्रियसे होता है। यह १२प्रकारके पदार्थका हो सक्ता है, इसलिये इसके ४८ भेद हो जांयगे। यह मात्र व्यंजनाग्रहके भेद हैं, ईहा आदिके नहीं। इस तरह अर्थावग्रहके २८८ व्यंजनावग्रहके ४८ कुल ३३६ भेद मतिज्ञानके होते हैं।

धारणा किये हुए पदार्थका स्मरण होआना स्मृति है। जैसे हमने कल काक शब्द सुना था। जिसको पहले जाना था उसीको या उस समान किसीको फिरसे जानकर यह स्मरण करना कि यह वही है या वैसा ही है जैसा पहले जाना था, यह प्रत्यभिज्ञान है। जैसे फिर काक शब्दको सुनकर यह जानना कि कल जैसा सुना था वैसा ही यह शब्द है या किसी पुरुषको कल देखा था आज फिर देखकर पहिचानना कि यह वही है। अविनाभावी संबंधका विचार करना तर्क है, कि ऐसा यदि होगा तो ऐसा अवश्य होगा जैसे जहां धुआं होगा वहां अग्नि अवश्य होगी या जहां कमल विकसित होंगे वहां सूर्यका उदय अवश्य होगा। इसको व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं। साधनसे साध्यके विशेष ज्ञान होनेको अनुमान कहते हैं। जैसे कहींपर धुआं देखा गया इससे तर्क द्वारा यह जान लिया गया कि जहांपरसे धुआं उठा है वहांपर आग जरूर है क्योंकि आगके विना धुआं हो नहीं सक्ता यह निश्चित है। जिस वस्तुको प्रत्यक्षमें नहीं जाना जा सके उस वस्तुको उसके

चिह्न या लक्षण द्वारा जान लिया जावे सो ज्ञान अनुमान प्रमाण है। जैसे आत्माको पहिचानना। इंद्रिय द्वारा जानना, बोलना आदि देखकर पहचान लेना कि इस शरीरमें आत्मा है क्योंकि जिसमें आत्मा नहीं रहता वह शरीर इंद्रिय होते हुए भी जान नहीं सक्ता, बोल नहीं सक्ता। यह सब अनुमान ज्ञान है। अनुमान ज्ञानका मुख्य उपाय तर्क है। इसके साधन व साध्यका विशेष परीक्षामुख वर्णन आदि जैन न्यायशास्त्रोंसे जानना चाहिये।

आप्तके वचन आदिसे होनेवाले पदार्थोंके ज्ञानको आगम कहते हैं। प्रमाणीक पुरुषको आप्त कहते हैं। जैनागममें मुख्य आप्त तीर्थंकर या सामान्य केवली अरहंत हैं। उन्होंने दिव्यवाणीसे यथार्थ उपदेश किया। वे सर्वज्ञ वीतराग होते हैं। अतएव उनका वचन प्रमाणीक है। उन ही की वाणीको सुनकर उनके निकटवर्ती गणधर या श्रुतकेवली द्वादशांग वाणीमें उस सुने हुए अर्थको गूँथते हैं। उसको जानकर अन्य ऋषिगण ग्रन्थ संकलन करते हैं। जैन ऋषि सम्यग्ज्ञानी व वीतराग होते हैं इसलिये प्रमाणीक पुरुष हैं। दिगम्बर जैन आम्नायमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य जो विक्रम सं० ४९ में हुए प्रमाणीक माने जाते हैं। इस सम्बन्धका कथन पहले अध्यायमें शास्त्रके स्वरूपमें कहा जाचुका है।

यद्यपि आगम आप्तके वचनसे प्रमाणीक है तथापि कोई किसी आगमको बनाकर बनानेवालेका नाम किसी प्रसिद्ध ऋषिका रखदे तौ उसको क्या आगम मान लिया जावे? इस शंकाका समाधान यह है कि परीक्षा प्रधानी बुद्धिमानको परीक्षा करके आगमको मानना चाहिये। जिस आगमका कथन प्रत्यक्ष मतिज्ञानसे

व अनुमान प्रमाणसे व प्राचीन आगमसे खंडित न होता हो वही ठीक आगम मान लिया जायगा। तथा शास्त्रमें बहुतसे कथन तो ऐसे होते हैं जिनके जाननेसे जीवका हित व अनहित होता है, इसको हेय व उपादेय तत्व कहते हैं अर्थात् त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य तत्व। जो बातें मात्र जानने योग्य हैं उनको ज्ञेय तत्व कहते हैं उनसे हमारा हित व अनहित नहीं होता। जो जो असत्यवक्ता होगा वह हेय व उपादेय तत्वमें जानबूझकर औरका और कहेगा, इसकी परीक्षा बुद्धिबलसे की जा सक्ती है। मोक्षमार्गमें जब आत्मस्वातंत्र्य या पूर्ण वीतरागता या कषाय नाशका उद्देश्य है तब उस शास्त्रमें वीतराग सर्वज्ञ देवकी ही भक्ति पुष्ट की हो, वीतरागी निर्ग्रंथ साधुको ही गुरु कहा हो व वीतराग विज्ञान या रत्नत्रयमई आत्मानुभव रूप भावको ही धर्म बताया हो। जितना भी उपदेश हो वह अपने या दूसरोंके कषायोंके हटानेका, वीतरागताके प्रचारका, अहिंसाका, जीवदयाका हो। इस मोटी पहिचानसे आगमके कथनकी पहिचान की जा सक्ती है। विशेष बुद्धिमान न्यायशास्त्रमें कहे हुए प्रमाणोंके द्वारा शास्त्रकी परीक्षा करते हैं। जिस आगममें प्रयोजनभूत जीव आदि सात तत्वोंका कथन होगा उसमें जो सूक्ष्म परमाणु आदिका कथन व दूरवर्ती मेरुकुलाचल आदिका कथन व दीर्घकालवर्ती राम रावण वृषभ आदिका कथन होगा वह अयथार्थ नहीं हो सक्ता। जिस आप्तने मतलबकी बातें ठीक लिखी हैं वह अप्रयोजनीय या मात्र जाननेयोग्य बातोंको गैर ठीक क्यों लिखेगा? जिस समयमें वह शास्त्रका लेखक हुआ है उस समयमें जैसा उसको दूर क्षेत्रोंका व दूरकालवर्ती पदार्थोंका

ज्ञान हुआ वैसा उसने लिखा है उसकी प्रमाणता अन्य प्राचीन शास्त्रोंसे कर लेना चाहिये। जिसकी प्रमाणताका कोई साधन न हो और यह ठीक मालूम है कि इस आगममें प्रयोजन भूत तत्वोंका कथन सर्वज्ञ वीतरागके मतानुसार यथार्थ किया गया है जो बाधा रहित है व परम कल्याणकारी है तो जिनकी हम जांच नहीं कर सकते उनको उस आगमके प्रमाणसे ही मान लेना चाहिये। जैसे द्रव्योंमें जो अगुरु लघु सामान्य गुणके अंशोंमें षट्गुणी हानिवृद्धि होती रहती है व इसके द्वारा स्वभाव पर्याय होती है उसका कथन इतना सूक्ष्म है कि वचन अगोचर है। वह आगम प्रमाणसे ही मानने योग्य है। जैसा कि आलापपद्धतिमें श्री देवसेन आचार्यने कहा है—

"सूक्ष्मा वागगोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरु-लघुगुणाः।"

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

भावार्थ—सूक्ष्म वचन अगोचर प्रति समय वर्तन करनेवाले अगुरु लघु गुणोंको आगम प्रमाणसे ही मानना चाहिये।

जिनेन्द्र भगवानका कहा हुआ तत्व सूक्ष्म है सो हेतुओंसे खंडित नहीं हो सक्ता। उसको आज्ञासे सिद्ध ऐसा ग्रहण कर लेना चाहिये क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र कभी अन्यथा कहनेवाले नहीं है।

इस तरह पदार्थोंके निर्णय करनेके लिये न्यायशास्त्रमें मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम ये उपाय बताए हैं। इनके द्वारा जो ज्ञान संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय तीन दोषोंसे रहित होगा वह प्रमाण ज्ञान या सम्यग्ज्ञान कहलाएगा। यह पदार्थ

ऐसा है कि वैसा है, जैसे यह चांदी है या यह सीप है इस दो कोटि या अनेक कोटिमें जानेवाले ज्ञानको संशय कहते हैं। सत्यको असत्य जानलेनेको विपर्यय ज्ञान कहते हैं, जैसे चांदीको सीप जान लेना। जाननेकी इच्छा न होनेको अनध्यवसाय कहते हैं जैसे कोई तिनका स्पर्श पगमें हुआ उस समय कुछ विचार न करना, कुछ हुआ होगा ऐसा ज्ञान, ज्ञानमें आलस्यभाव, यह भी ज्ञानका दोष है। इनसे रहित बुद्धिमें जो बात जम जावे—ठीक २ निर्णयरूप हो जावे उसे ही प्रमाण ज्ञान कहते हैं।

आगम ज्ञान श्रुतज्ञानमें गर्भित है। मोक्षमार्गके प्रकरणमें श्रुतज्ञानको ही आगम ज्ञान लेना चाहिये।

साधारण रीतिसे श्रुतज्ञान उसे कहते हैं जो मतिज्ञान पूर्वक हो। मतिज्ञानसे जो पदार्थ पांच इंद्रिय तथा मनद्वारा ग्रहण किया गया हो उसके द्वारा दूसरे पदार्थका ग्रहण करना सो श्रुतज्ञान है। जैसे शरीरमें शीतवायुका स्पर्श होना। यह शीतवायुका ज्ञान मतिज्ञान है। इस मतिज्ञानके पीछे यह ज्ञान होना कि यह दुखदाई है या सुखदाई है सो श्रुतज्ञान है। एक वस्तुका स्वाद जिह्वासे जानना सो मतिज्ञान है फिर वह हितकारी या अहितकारी मानना सो श्रुतज्ञान है। एक वस्तुकी सुगंध आना सो मतिज्ञान है फिर उसको खानेकी इच्छासे उसको लेनेके लिये जानेका ज्ञान होना सो श्रुतज्ञान है। यह सब अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। यह ज्ञान एकेंद्रियसे पंचेंद्रिय पर्यंत सर्व जीवोंके होता है। मक्खी दूरसे सुगंधको मतिज्ञान द्वारा ग्रहण कर श्रुतज्ञानसे उसकेभोगकी इच्छा करके उधर दौड़कर जाती है। दूसरा अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है

जिसके द्वारा अक्षरोंको सुनके उनका क्या अर्थ होता है उसे समझा जाय । जैसे राजा शब्द सुनके राज्य करनेवालेका ज्ञान होना । जीव शब्द सुनके चेतना गुणधारी आत्माका ज्ञान होना । यह सैनी पंचेंद्रियको ही होता है । मोक्षमार्गमें सहकारी यही श्रुतज्ञान है । जिनवाणीका मूल कथन १२ अंगोंमें व १४ प्रकीर्णकोंमें मिलता है । १२ अंगोंके ज्ञानको अंग प्रविष्ट व १४ प्रकीर्णकोंके ज्ञानको अंग बाह्य कहते हैं। इनका विशेष स्वरूप गोमटसारकी ज्ञान मार्गणासे जानने योग्य है । यहांपर प्रयोजन इतना जानने योग्य है कि हमको मुख्यतासे छः द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थोंका स्वरूप जानना जरूरी है, क्योंकि इनका जानना मोक्ष-मार्गमें सहकारी है इसलिये द्रव्यानुयोग संबंधी ग्रन्थोंको पढ़ना बहुत जरूरी है जैसे द्रव्यसंग्रह, तत्वार्थसूत्र, व तत्वार्थसूत्रकी टीकाएं सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि । इनसे अर्थ बोध ठीक करनेके लिये यदि व्याकरण व न्यायशास्त्रका ज्ञान हो तो द्रव्योंके व तत्वोंके स्वरूप समझनेमें सुगमता हो तथा जगतमें जैनधर्म सिवाय अन्य मतोंने जो२ तत्व कल्पना किये हैं उनकी परीक्षा करनेमें व जैन तत्वोंसे मिलान करनेमें सुगमता हो । इन द्रव्योंके स्वरूपमें जीव द्रव्यके संबंधमें जो गुणस्थान मार्गणा आदि हैं व जीवोंके कर्मबन्ध होनेका व उनके उदय होनेका व उनकी सत्ता रहनेका जो हिसाब है व जीवोंका कहां २ अल्प बहुत्व है व लोकका क्या स्वरूप है, कहां २ नारगतिके जीव रहते हैं, उनकी क्या माप है इत्यादि सर्व कथन ननेके लिये करणानुयोगके शास्त्रोंका पढ़ना आवश्यक है जैसे गो-

मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, धवल, जयधवल, महा-धवल, आदि तथा इनमें जो गणित व क्षेत्रफल है उसको समझ-नेके लिये अंकगणित बीजगणित क्षेत्रगणित आदिका गम्भीर ज्ञान होनेकी आवश्यक्ता है। जीव कैसे २ आचरण पालनेवालेसे श्रावक धर्ममें तथा मुनिधर्ममें उन्नति करते हैं इस बातको जाननेके लिये चरणानुयोगके ग्रन्थोंको पढ़नेकी जरूरत है जैसे रत्नकरण्ड श्राव-काचार, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, अमितिगति श्रावकाचार, पद्मनंदि श्रावकाचार, मूलाचार, भगवती आराधना, चारित्रसार, आचारसार आदि। इनका ठीक ज्ञान होनेके लिये कुछ नीति शास्त्रका ज्ञान होनेकी जरूरत है उसके लिये नीतिवाक्यामृत अच्छा ग्रन्थ है। अथवा पंच तंत्रका ज्ञान भी हितकारी है। गृहस्थ धर्म, अर्थ, काम तीन पुरुषार्थोंको अविरोध रूपसे साध सके ऐसा उनके ज्ञानमें झलक जाना उचित है। किन २ जीवोंने कैसा२ चारित्र पालकर क्या२ फल पाया, मोक्षमार्गकी किस तरह सिद्धि की, निर्वाण कैसे प्राप्त किया व किन २ पापोंका क्या २ फल किसको प्राप्त हुआ व किस २ पुण्य कर्मका क्या २ फल किसने लब्ध किया इत्यादि अनेक दृष्टांत जाननेके लिये प्रथमानुयोगका ज्ञान आवश्यक है इसके लिये २४ तीर्थंकरोंके चरित्र, १२ चक्री ९ नारायण ९ प्रतिनारायण ९ बलभद्र व उनके समयोंमें भए अन्य प्रसिद्ध स्त्री पुरुषोंके चरित्र पढ़ने योग्य हैं। महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पार्श्वपुराण, महावीरचारित्र, जीवंधर चरित्र, जम्बूस्वामी चरित्र, श्रेणिक चरित्र, धन्यकुमार चरित्र, सुकुमाल चरित्र, सुदर्शन चरित्र, आदि अनेक जीवनचरित्र पढ़ने योग्य हैं। जितनी बुद्धि जिसकी

विशाल हो वह उतनी सूक्ष्मतासे चारों अनुयोगोंके ग्रन्थोंको पढ़े। जिसकी बुद्धि स्थूल हो वह जितना संभव हो उतना ग्रंथका अभ्यास करे परन्तु चारों अनुयोगोंका कुछ२ वर्णन तो जान लेना आवश्यक है। ग्रंथोंके अभ्यास विना मोक्ष मार्गका विस्तारसे स्वरूप ज्ञान नहीं हो सकेगा. इसलिये मुमुक्षुको ग्रन्थके मननमें सदा ही लगे रहना चाहिये। व्यवहार सम्यग्ज्ञानका ग्रन्थाभ्यास ही कारण है।

जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शनके निशंकितादि आठ अंग हैं वैसे व्यवहार सम्यग्ज्ञानके आठ अंग हैं। इन आठ अंगोंको पालते हुए ज्ञानका आराधन करना योग्य है।

सम्यग्ज्ञानके आठ अंग—(१) ग्रंथपूर्ण—ग्रन्थ या शास्त्रको शुद्ध पढ़ना योग्य है। अशुद्ध नहीं पढ़ना चाहिये। मात्र अक्षर व स्वर कम व बढ़ नहीं पढ़ना चाहिये। अवसर जैसा हो उसके अनुसार धीरे, या तीव्र स्वरसे पढ़े। यदि स्वयं स्वाध्याय करता हो और पासमें कई और स्वाध्याय करनेवाले हों तो मनमें धीरे २ ही पढ़ना चाहिये जिसमें दूसरेके स्वाध्यायमें कोई बाधा नहीं आवे। यदि आप अकेला हो तो जिस तरह उपयोग लगे उस तरह मंद या तीव्र स्वरसे पढ़े। यदि दूसरोंको सुनाना हो तो दो चार श्रोता हों तो कम तीव्र स्वरसे पढ़े। यदि सभा हो तो जहांतक अपना शब्द सर्व श्रोताओंके कानोंतक पहुंच सके उतने दीर्घस्वरसे पढ़े। पढ़ते समय मिष्टता, कलित्तता, स्पष्टता व शुद्धता पर ध्यान रक्खें। सुननेवालोंको शब्दोंका स्पर्श कोमल अमृत झड़नेके समान मालूम हो। ग्रंथका पाठ करनेवाला इस तरह पढ़ें कि वह व सुननेवाले दोनों अर्थको समझ सकें। (२) अर्थपूर्ण—

जब ग्रन्थका अर्थ समझावे तो जो शब्दोंसे अर्थ व भाव निकलता हो उस सबको पूर्णपनसे समझावे। कोई अर्थ कम न करे न कोई अर्थ अधिक करे जो शब्दोंके भीतर गर्भित न हो। अर्थ समझाते हुए संक्षेप या विस्तार श्रोताओंकी बुद्धिके अनुसार करना चाहिये। भाव यह रखना चाहिये कि हमारा कथन सुननेवालोंके समझमें आजावे। वे ग्रन्थके भावको भले प्रकार पा जावें। आप भी ग्रंथका अर्थ पूर्ण समझें व दूसरोंको भी पूर्ण व ठीक समझावें। (३) उभय-पूर्ण-ग्रंथका पाठ तथा अर्थ दोनों शुद्धताके साथ पूर्ण कहे। पहले दो अंगोंमें तो ऐसा है कि पहलेमें तो किसी ग्रन्थका पाठ मात्र उच्चारण है, दूसरेमें पाठ न कह करके मात्र उसका अर्थ ही कहे। अब इस तीसरे अंगमें यह है कि पाठको कहते हुए उनका अर्थ भी साथ २ कहे। (४) काले अध्ययन-योग्य कालमें शास्त्रको पढ़े। जो काल सामायिक, ध्यानका हो उस कालमें न पढ़े। अथवा जब कोई आपत्ति आगई हो, अकस्मात् होगया हो, तूफान आगया हो, ऋतु बिगड़ गई हो, ग्रहण पड़ रहा हो इत्यादि विशेष कालोंमें शास्त्रका स्वाध्याय न करके मात्र ध्यान व भावोंका मनन करे। सभाका शास्त्र ऐसे दिन न पढ़े जिस दिन देशके राजाकी, किसी साधुकी, किसी प्रसिद्ध माननीय गृहस्थकी मृत्यु हो जावे। व्यवहारमें सुतक व पातकका जैसा आचार व्यवहार अपने देशमें प्रचलित हो उसको ध्यानमें लेता हुआ शुद्धताके साथ योग्य कालमें शास्त्रको पढ़े। (५) विनयेन अध्ययन-विनयके साथ शास्त्रको पढ़े। मनमें बड़ा आदर भाव रक्खे कि शास्त्र मेरे लिये गुरुके बराबर है। इससे मेरे हितका ज्ञान मुझे मिलता है। इसलिये

बहुत भक्तिसे व प्रेमसे ग्रन्थको पढ़े। उस समय और सब कामोंसे दिलको हटाकर जितनी देर पढ़ना हो उतनी देर शास्त्र पढ़नेमें ऐसा तन्मय हो जावे कि और सब बातोंकी तरफ बिलकुल निश्चिंत हो जावे। शास्त्र पढ़नेका मनमें बड़ा चाव रक्खे। मनमें भावना रक्खे कि कब वह समय आवे जो मैं अपने जीवनका समय शास्त्र स्वाध्यायमें लगाकर सफल करूं। शास्त्र स्वाध्यायके लाभको कोटि रत्नके लाभसे भी अधिक समझे (६) सोपध्यान अध्ययन–उपधान सहित पढ़ना योग्य है। अर्थात् धारणामें रखते हुए पढ़े। जो कथन जहांपर निकले उस कथनको स्वयं पढ़ता हुआ याद करले व जो सुने सो सुनकर याद करता रहे। यदि कथन स्मरणमें न रहे तो पढ़नेका लाभ कुछ न होगा। जैसे तैसे पढ़ते जाना व धारणामें न रखना वास्तवमें ज्ञानका आराधन नहीं है। सम्यग्ज्ञानकी वृद्धिका होना व अज्ञानका नाश होना तब ही संभव है जब उपध्यान सहित पढ़ा जावे अर्थात् विचार सहित धारणामें रखते हुए पढ़ा जावे। जैसे बालक कहानीको सुनकर याद करलेते हैं वैसे ही शास्त्रके कथनको ऐसे ध्यानसे पढ़ना चाहिये कि धारणामें होता हुआ चला जावे। (७) बहुमानेन समन्वित अध्ययन–बहुत मानके साथ पढ़े। अर्थात् आप आदरके साथ बैठे, पुस्तकको आदरके साथ ऊंचेपर रक्खे। पुस्तकका विनय करे वैसे पुस्तक पढ़ानेवाले गुरुका विनय करे। तथा जो पढ़े उस ज्ञानका बहुत मान करे। अपना जन्म सफल जानता हुआ पढ़े। आलस्य सहित अविनयसे पुस्तकको पढ़ना ज्ञानके साधनमें सहायक नहीं हो सकेगा। (८) अनिह्नव–अपने ज्ञानको छिपावे नहीं। कोई दूसरा

किसी बातको पूछे तो उसको बड़े हर्षसे बतादेवे तथा अपने गुरुका नाम नहीं छिपावे, जब कभी अवसर आवे तब अपने गुरुका यश गावे अपनी लघुता प्रकट करे; इसतरह सम्यग्ज्ञानके आठ अंगोंको ध्यानमें लेता हुआ शास्त्र पढ़ना सच्चा ज्ञानका आराधन है।

ज्ञानके होनेमें जैसे मति, स्मृति, आदि आगम सहायक बताए गए हैं, इनको प्रमाणज्ञान कहते हैं वैसे नय भी सहायक है। प्रमाण और नयसे अधिगम होता है। मुख्यतासे श्रुतज्ञान प्रमाण है जिससे जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान होता है। नय श्रुतज्ञानके अंश हैं। नयके द्वारा वस्तुके एक अंशका ज्ञान होता है। नय अपेक्षाको भी कहते हैं। जब एक अपेक्षाके द्वारा किसी कथनको मुख्य किया जाता है तब दूसरी अपेक्षाओंसे अन्य कथन उस समय गौण होजाते हैं। एक धर्म या स्वभावको या एक पर्यायको या एक अंगको या अंशको जो बतावे सो नय है। नयके द्वारा विकल या अपूर्ण ज्ञान होता है। मुख्यनयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

जो नय द्रव्यकी मुख्यतासे पदार्थका ज्ञान करावे वह द्रव्यार्थिक नय है। जो नय द्रव्यके स्वरूपसे उदासीन होकर पर्यायकी मुख्यतासे पदार्थका ज्ञान करावे वह पर्यायार्थिक नय है।

नयोंके मुख्य सात भेद तत्वार्थ सूत्रमें कहे गए हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ व एवंभूत। इनमेंसे पहले तीन नय द्रव्यार्थिक हैं तथा चार दूसरे नय पर्यायार्थिक हैं।

(१) नैगमनय—न एकं गच्छति इति निगमः। निगमः विकल्पः,

तत्र भवः नैगमः । निगम उसे कहते हैं जहां एक ही बातपर न जमा जाय किंतु विकल्प उठाया जाय । संकल्प मात्र ग्रहणवाले ज्ञानको नैगम नय कहते हैं। इसके तीन भेद हैं (१) अतीतनैगम-नय—भूतकालकी बातमें वर्तमानकालका संकल्प किया जाय ऐसी बात कहना सो अतीतनैगमनय है। जैसे कहना कि आज दिवालीके दिन श्री वर्द्धमान भगवान मोक्ष गए हैं । यह कथन यद्यपि असत्यसा दिखता है क्योंकि वर्द्धमानस्वामीको मोक्ष गए करीब २॥ हजार वर्ष हुए हैं, परन्तु व्यवहारमें ऐसा मान लेना अतीत नैगमनयसे असत्य नहीं है, ठीक है। (२) भावि नैगमनय—जो बात आगे होनेवाली है उसको वर्त-मानमें होगई कासा संकल्प करे । जैसे कोई परीक्षामें बैठकर आया है अभी उसका फल नहीं निकला है तौभी उसके प्रश्नोंके किये हुए उत्तरोंको सुनकर कहे कि तुम उत्तीर्ण होगए हो निश्चिंत रहो। (३) वर्तमान नैगमनय—जो बात वर्तमानमें प्रारम्भ करनेका संकल्प हो या उसका प्रबन्ध किया जारहा हो तौभी वह वर्तमानमें होचुकी ऐसा संकल्प करे सो वर्तमान नैगमनय है । जैसे कोई स्त्री चौका साफ कर रही है अभी आग भी नहीं जलाई है, कोई स्त्री पूछती है बहिन क्या कर रही हो ? तब वह उत्तर देती है कि मैं रसोई तयार कर रही हूं । क्योंकि जगतमें ऐसे भाव व ऐसे कथन संभव हैं और वे सत्य माने जाते हैं। इनकी सत्यता हरएकको मान्य रहे इसलिये नयोंका विस्तार किया जाता है, जिससे कोई उसमें विवाद न खड़ा कर सके ।

कहीं आग लगनी शुरू होगई है, किसीने पूछा क्या दशा है तब कहनेवाला कहता है कि क्या पूछते हो मेरा तो सर्व नाश

होगया। यह कथन वर्तमान नैगमनयसे ठीक है क्योंकि नाश प्रारम्भ होगया है और शीघ्र ही होनेवाला है।

(२) संग्रहनय—सामान्यरूपसे या संग्रहरूपसे जिसके द्वारा पदार्थोंको ग्रहण किया जावे वह संग्रहनय है। कहा है— " अभेदरूपेण वस्तुसमूहं संग्रहणाति इति संग्रहः " अर्थात् जो अभेदरूपसे या भेद न करके वस्तुसमूहको ग्रहण करे। या जो अपनी एक जातिके पदार्थसमूहको जिसमें विरोध न आवे पर्याय-रूपका भेद न करके समस्तको एकमें ग्रहण करे। जैसे सत् द्रव्यं ऐसा कहा कि द्रव्य सत्‌रूप है। इसमें सामान्यसे सर्व ही द्रव्योंका ग्रहण होगया। इसके दो भेद हैं—एक सामान्यसंग्रह नय—जैसे सर्वद्रव्य परस्पर अविरोधी हैं ऐसा कहना, दूसरा विशेषसंग्रह नय—जैसे सर्व जीव परस्पर अविरोधी हैं।

ये सब वाक्य संग्रहनयसे कहे जाते हैं। उपयोगो लक्षणम् अर्थात् जीवका लक्षण उपयोग है। इसमें सर्व जीव आगए। कालश्च—काल भी द्रव्य है। इसमें असंख्यात कालाणुओंका संग्रह है। मूर्तिमान् अणुः—परमाणु मूर्तिमान अर्थात् स्पर्श रस गंधमय है। इस वाक्यमें सर्व परमाणु आगए।

(३) व्यवहारनय—संग्रहरूपसे ग्रहण किये हुए पदार्थको विशेष या भेदरूप व्यवहार जिससे किया जाय वह व्यवहारनय है। कहा है—संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहारः " यह व्यवहारनय दो प्रकार है—एक सामान्य व्यवहा-रनय जो सामान्य संग्रह नयका भेद करे जैसे द्रव्योंके भेद हैं—जीव और अजीव। २—विशेष व्यवहारनय—जो विशेष संग्रहनयका भेद

करें जैसे संसारी और मुक्त दो प्रकार हैं। जिस२ वाक्यको संग्रह-नयसे ग्रहें उसका व्यवहारनयसे भेद कर सके हैं। तथा जो किसी व्यवहारनयसे वाक्य कहा उसीका जब भेद करेंगे तब वह व्यवहार-नयसे कहा वाक्य संग्रहनयसे कहा हो जायगा और उसके भेदका कथन व्यवहारनयसे होगा। जैसे संसारी जीवोंके भेद किये—

संसारिणस्त्रसस्थावराः—

यह वाक्य व्यवहारनयसे है। जब त्रस और स्थावरके भेद करेंगे तब यही वाक्य संग्रहनयका वाक्य हो जायगा "पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः, द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः" स्थावर पांच प्रकार हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति तथा द्वेन्द्रिय आदि त्रस होते हैं। यदि वनस्पतिके भेद साधारण व प्रत्येक करेंगे तो यह भेद व्यवहारनयसे होगा व सामान्य वनस्पतिका कथन संग्रहनयसे होगा। इसीतरह संग्रह और व्यवहारनयका उपयोग पदार्थोंके जाननेमें व कहनेमें आता है।

यहां मनुष्य जमा हैं यह वाक्य संग्रहनयसे है। यहां रामचंद्र, छोटेलाल, देवकरण, रतनलाल, फूलचंद, देवकीनंदन, चिमनलाल बैठे हैं यह कथन व्यवहारनयसे है। शरीर गलनशील है यह वाक्य संग्रहनयसे है। शरीरके हाथ, पग, नाक, आंख, कान, अंगुली, केश गलनशील हैं यह वाक्य व्यवहार नयसे है। सेना आरही है यह वाक्य संग्रह नयसे है। सेनामें इतने घोड़े, हाथी, रथ, पयादे आदि हैं यह वाक्य व्यवहार नयसे हैं।

(४) ऋजुसूत्र नय—जिससे पदार्थकी वर्तमान पर्याय मात्रका ग्रहण हो वह ऋजुसूत्र नय है। कहा है " ऋजुं प्रगुणं

प्रांजुकं सूत्रयति तंत्रयते इति ऋजुसूत्रः" अर्थात् जो सीधी डोरीको ग्रहण करे, जो भूत व भावी पर्यायोंको छोड़कर वर्तमान पर्यायको ही विषय करे। इसके दो भेद हैं। (१) सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय—जो पदार्थकी अति सूक्ष्म समय मात्र पर्यायको ही ग्रहण करे। (२) स्थूल ऋजुसूत्र—जो अनेक समयवर्ती स्थूल पर्यायको ग्रहण करे जैसे मनुष्य पर्यायको ग्रहण करना जो मनुष्य आयुके उदय तक रहेगी।

सूक्ष्म पर्यायको कहना बहुत कठिन है। जबतक उसका कथन होगा तबतक वह सूक्ष्म पर्याय पलट जावेगी। इसलिये लोक व्यवहारमें स्थूल पर्यायका ही कथन होसक्ता है। जैसे कहना कि यह गाय काली है, यह कपड़ा पुराना है, यह रोगी मरणासन्न है, यह मानव धनवान है, यह मानव विद्वान हैं, ये सब वाक्य स्थूल अवस्थाके बतानेवाले हैं। ऋजुसूत्र नयका लक्ष्य अवस्थाविशेष पर ही रहता है।

(५) शब्दनय—जो व्याकरणकी अपेक्षासे शब्दोंको व्यवहार करे। कहा है—"शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः शब्दनयः अर्थात् जो व्याकरणसे प्रकृति प्रत्यय द्वारा शब्द सिद्ध हो उसे जिस नयसे कहा जाय वह शब्द नय है। व्याकरण व भाषा साहित्यकी रीतिसे शब्दोंको व्यवहार करते हुए जो लिंगका दोष, संख्याका दोष, कारकका दोष, कालका दोष प्रकट रूपसे दीखे परन्तु व्याकरणसे कोई दोष न हो, ऐसे प्रकट दोषको जो दूर करे, दोष न माने वह शब्दनय है। जैसे स्त्री पदार्थके लिये पुल्लिंग शब्द दारा, नपुंसकलिंग शब्द कलत्र व

स्त्रीलिंग शब्द भार्या तीनों काममें लाये जा सकते हैं। यद्यपि इसमें लिंगका विरोध है तथापि व्याकरणकी रीतिसे शब्दनय द्वारा यह कहना ठीक है। जलम् आपः इसमें जल शब्द एकवचन है आपः बहुवचन है यह संख्याका दोष है तो भी पानीके लिये व्याकरणसे व्यवहार किये जाते हैं। 'सेना पर्वतम् अधिवसति' सेना पर्वतपर ठहरी है। यहां सप्तमी विभक्ति पर्वते होनी चाहिये तथापि द्वितीया विभक्ति पर्वतंका व्यवहार शब्दनयसे ठीक है। यहां कारकके दोषको मिटाया है। 'विश्वदृश्वाऽस्यपुत्रो जनिता' अर्थ है-इसके विश्वदृश्वा पुत्र होगा। यहां भविष्यकालके लिये जनिता भूतकालकी क्रिया लगाई। यह काल दोष है सो शब्दनयसे निर्दोष है। आप तो कभी कभी आते हैं। इस हिन्दीके वाक्यको एक पुरुषके लिये कहा गया है परन्तु क्रिया बहुवचनकी काममें लाई गई है। शब्दनयसे यह वाक्य ठीक है। लक्ष्मणजी रावणपर बाण प्रहार करते हैं। ऐसा वाक्य कहना-यह भूतकालमें वर्तमानकालका प्रयोग किया गया है तथापि शब्द नयसे ठीक है।

(६) समभिरूढ़ नय-पदार्थमें शब्दके अनेक अर्थ होते हुए भी एक अर्थका आरूढ़ करना जिस नयसे हो वह समभिरूढ़ नय है। कहा है-" नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः " अर्थात् अनेक अर्थोंको लोप करके मुख्यतासे एक किसी अर्थको लेकर किसी पदार्थमें उसका व्यवहार किया जाय। जैसे गो शब्दका अर्थ वाक्य, पृथ्वी, स्वर्ग, वाणी, वज्र, दिशा, नेत्र, किरण, जल है तथापि गो शब्दको समभिरूढ़ नयसे गौके लिये व्यवहार कर सके हैं। स्त्रीके लिये अबला, नारी, महिला आदि शब्द अर्थ

भेद होनेपर भी समभिरूढ़ नयसे व्यवहार किये जासक्ते हैं। शब्द नयमें मात्र व्याकरण पर ध्यान था, यहां शब्दके अर्थ पर ध्यान है। व्यवहारमें किसीका नाम रखना इसी समभिरूढ़ नयसे है। वैद्यराज, पुजारी, रसोइया आदि नाम मानवोंको देना व वैद्यकी, पूजा व रसोई न करते हुए भी पुकारना समभिरूढ़ नयसे ठीक है।

(७) एवंभूत नय—वर्तमानमें जैसी क्रिया जो करता हो वैसी क्रिया करता हुआ जिस नयसे कहना वह एवंभूत नय है। कहा है "एवं क्रिया प्रधानत्वेन भूयते इति एवंभूतः" जितने शब्द जिस पदार्थके लिये समभिरूढ़नयसे माने गए हों उन शब्दोंसे जो अर्थ निकलता हो उसरूप क्रिया व गुण व स्वभावमें जब वह पदार्थ परिणमन कर रहा हो तब ही उसको उस शब्दसे कहना यह एवंभूत नयका काम है। जो वैद्यराज प्रसिद्ध है जब वह वैद्यक करता हो तब ही उसको वैद्यराज एवंभूत नयसे कहते हैं। जब कोई स्त्री नाथरहित असहाय हो तब ही उसको अबला एवंभूत नयसे कह सक्ते हैं। तीर्थका प्रचार करते हुए—धर्मोपदेश देते हुए ही तीर्थंकरको तीर्थंकर कहना एवंभूत नयसे है। जन्मके समय तीर्थंकर कहना समभिरूढ़ नयसे है। जब साधु आत्म साधनमें लीन हो तब ही उसे साधु कहना एवंभूत नयसे है। अन्य समय साधु कहना समभिरूढ़ नयसे है। चलते समय गौको गौ कहना एवंभूत नयसे है। लेते व खाते गौको गौ कहना समभिरूढ़नयसे है।

शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत इन तीन नयोंको शब्दनय कहते हैं क्योंकि इनका ध्यान शब्दकी तरफ है। शेष पहले चार नय अर्थनय कहलाते हैं क्योंकि उनका लक्ष्य पदार्थकी तरफ है।

मुख्य सात नय हैं—कुछ उनके उपनय भी जानने योग्य हैं। सद्भूत व्यवहार—जिससे गुण व गुणीका भेद किया जाय। शुद्ध गुण व गुणीका भेद करनेवाला शुद्ध सद्भूत व्यवहार है। अशुद्ध गुण व अशुद्ध गुणीका भेद करनेवाला अशुद्ध सद्भुत व्यवहार है। जैसे सिद्धके ज्ञानदर्शन सुखादि हैं तथा मनुष्यके मति व श्रुतज्ञान हैं।

असद्भूत व्यवहारनय—जो वात जिसमें न हो तौ भी किसी कारणसे उसमें व्यवहार करना इस नयसे होता है। इनके तीन भेद हैं (१) स्वजाति अस० व्यव०—जैसे कहना कि परमाणु कायवान वहु प्रदेशी हैं। यद्यपि वह वर्तमानमें एक प्रदेशी हैं परन्तु उसमें शक्ति मिलनेकी है इसलिये इसे बहुप्रदेशी इस नयसे कह सकते हैं। जाति-पना एक ही है। (२) विजाति अस० व्य०—एक जातिका आरोप दूसरेमें करना। जैसे कहना मूर्त मतिज्ञान है। यद्यपि मतिज्ञान अ-मूर्तिक आत्माका गुण विशेष है परन्तु वह मूर्तीक कर्मके क्षयोपशमसे होता है इसलिये उसे मूर्तिक इस नयसे कह सकते हैं (३) स्वजाति विजाति अस० व्य०—अपनी जाति व परजातिमें दोनोंमें एक जातिका आरोपण करना जैसे कहना कि ज्ञान जीव अजीव ज्ञेयमें है। वास्तवमें ज्ञान आत्मामें है तथापि ज्ञेयमें है ऐसा कहना इस नयसे हो सक्ता है क्योंकि जीव व अजीव ज्ञानके विषय हैं। इन तीनोंको अनुपचरित असद्भूत व्यवहार भी कहते हैं।

उपचारनय या उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—जहां विल्कुल सम्बन्ध न हो फिर भी मान लिया जाय, वही उपचार-नय है। इसके भी तीन भेद हैं (१) स्वजाति उप० अस० व्य० नय—जैसे कहना पुत्र दारादि मेरे हैं, यहां जीव जातिमें मानता की गई।

सो वास्तवमें झूठी है। इसीसे यह उपचरित है (२) विजातीय उप० अस० व्य०—अपनेसे भिन्न जातिमें अपनापन मानना। जैसे कहना वस्त्राभरण मेरे हैं (३) स्वजाति विजाति उप० अस० व्य० नय—दोनोंमें मानना जैसे कहना कि देश राज्यदुर्गादि मेरे हैं।

निश्चय और व्यवहारनय—अध्यात्म जैन शास्त्रोंमें दो नयोंकी मुख्यतासे वर्णन है—एक निश्चयनय और दूसरे व्यवहारनय—जैसा पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थं।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोपि संसारः ॥ ५ ॥
व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस जगतमें निश्चयनय वह है जो सत्य पदार्थको जैसा है वह वैसा प्रगट करें। व्यवहारनय वह है जो पदार्थको जैसा वह असलमें नहीं है वैसा भेदरूप या अशुद्ध या अन्यरूप प्रकट करे ऐसा आचार्य कहते हैं। बहुत करके संसारके प्राणी सत्यार्थ निश्चयनयके ज्ञानसे विमुख होरहे हैं। जो शिष्य व्यवहार-नय और निश्चयनय दोनोंको जानकर मध्यस्थ या वीतराग या पक्षपात रहित अनेकांती होजाता है वही जिनवाणीके उपदेशके पूर्ण फलको पाता है। स्वाश्रितो निश्चयः—जो एक द्रव्यके आश्रय कथन करे वही निश्चयनय है। यह नय जीवको जब देखेगा तब शुद्ध स्वरूप देखेगा कि जीव रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्मसे रहित अपने गुणोंमें व्याप्त एक अनुभवगम्य परम पदार्थ परमात्मस्वरूप है। इस नयके द्वारा ही

भेद विज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस नयके द्वारा ही संसारी आत्मा भी शुद्ध स्वरूप झलकता है, रागद्वेष मिटानेको व समताभाव लानेको यही दृष्टि उपयोगी है। इस नयके जानेविना सम्यक्तकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसीसे निश्चय रत्नत्रय या शुद्धोपयोगका पता चलता है, जो साक्षात् मोक्षका मार्ग है। पराश्रितो व्यवहारः जो परद्रव्यके आश्रित होता है उसको व्यवहार कहते हैं। परके आश्रयसे भेदरूप कथन करना व अशुद्ध कथन करना व औरका और कहना पड़ता है यह सव व्यवहरनयका विषय है। जीवको रागी द्वेषी कहना, कर्मबद्ध मुर्तिक कहना, एकेन्द्रिय आदि स्थावर व त्रस कहना, देव, मनुष्य, पशु, नारकी कहना, मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी कहना, श्रावक, मुनि, केवली, अर्हंत, सिद्ध कहना, बंधता है, मुक्त होता है कहना, ज्ञानमय, दर्शनमय, वीर्यमय, चारित्रमय, सुखमय कहना, भेदरूप कहना यह सव कथन व्यवहारनयका विषय है। किसी २ आचार्यने अशुद्ध निश्चयनयको कहकर व्यवहारनय अलग कहा है। उनके मतसे आत्माके अशुद्ध भावोंका आरोप अशुद्ध निश्चयनयसे कहा जाता है। इसके सिवाय सर्व कथन व्यवहारनयसे है। अन्य आचार्योंने इस अशुद्ध निश्चयनयको भी व्यवहारनयमें ही गर्भित कर दिया है। इस प्रकार संक्षेपसे नयका स्वरूप कहा गया। विशेष जाननेके लिये आलापद्धति, नयचक्र आदि न्यायके ग्रंथ अवलोकन करने योग्य हैं। जो मोक्षमार्गमें सहकारी तत्वोंको समझना चाहता है उसको मुख्यतासे श्रुतज्ञानरूप प्रमाण तथा उसीके अंशरूप नयज्ञान उपकारी है। इनहीके द्वारा जीवादि तत्वोंको समझना चाहिये। सात तत्वोंका

सर्व कथन व्यवहारनयसे है। इन सात तत्वोंमें निश्चयनयसे दो द्रव्यका संबंध है—जीव और अजीव। इनमें अजीव त्यागने योग्य है, मात्र अपना शुद्ध जीव एक केवल ग्रहण करने योग्य है। ऐसा ज्ञान जब आता है तब भेदविज्ञान होता है। इस भेदविज्ञानके वार २ मननसे ही इस जीवको सम्यक्तके लिये कारणभूत देशना प्रायोग्य व करणलब्धिकी प्राप्ति होती है तब यह जीव सम्यग्दर्शनका लाभ करता है। तब वह यथार्थ प्रमाण ज्ञान जिससे अधिगम या पदार्थ बोध हुआ था न्यायशास्त्रकी दृष्टिसे प्रमाणज्ञान या सम्यग्ज्ञान था परन्तु मोक्षमार्गमें वह सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति विना कुज्ञान था। जिस समय अनतानुबंधी कषाय तथा दर्शन मोहनीयका उपशम होकर सम्यग्दर्शन गुण आत्मामें प्रकट होगया उसी समय उस प्रमाणज्ञानको, जो कुज्ञान कहलाता था, सम्यग्ज्ञानके नामसे कहने लगे। सम्यग्दर्शनके प्रकाश होते ही आत्मानुभव होता है, आत्माका सच्चा झलकाव होता है। यह ज्ञान उस समय तक आवर्णित या ढका रहता है जहांतक सम्यग्दर्शनका प्रकाश न हो। सम्यक्तके प्रकाश होते ही स्वानुभुत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होजाता है व स्वानुभवकी लब्धि होजाती है। वास्तवमें यही सम्यग्ज्ञान है। उसी समय अनंतानुबन्धी कषायके उदय न रहनेसे स्वरूपाचरण चारित्र भी प्रकट होजाता है। सच पूछो तो सम्यग्दर्शनके साथ २ ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका उदय होता है। इसीसे मोक्षमार्गका प्रारम्भ तब हीसे समझा जाता है।

पांचों ज्ञानोंमें मुख्यतासे श्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका साक्षात् उपाय है। श्रुतके आश्रय अर्थका आलंबन प्रथम व द्वितीय शुक्ल-

ध्यान तकमें होता है जो शुक्लध्यान साक्षात् केवलज्ञानकी उत्पत्तिका द्वार है। अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानका प्रकाश किसी अंतरात्माको नहीं भी हो तो भी श्रुतज्ञानमई आत्मानुभवके द्वारा केवलज्ञानका प्रकाश हो ही जायगा। लिखा है—आत्मानुभव ही केवलज्ञानका कारण है। अवधि व मनःपर्ययका विषय शुद्ध आत्मा नहीं है। इनका विषय तो पुद्गल है या संसारी अशुद्ध आत्मा है। समयसारकलशमें कहा है—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ ७–५ ॥

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषां शुद्धतत्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥ ४–६ ॥

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११।७॥

सिद्धांतोऽयमुपात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ॥
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा—
स्तेऽहं नाऽस्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥६–९॥

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पं।
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ॥
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः।
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥ २०–११ ॥

भावार्थ—ज्ञानस्वरूप रहना ही सदा ज्ञानमय होना है। यही एक आत्मद्रव्यका स्वभाव है, यही मोक्षका मार्ग है। जो भेद

विज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्माकी महिमामें रत होजाते हैं उन्हीको निश्चयसे शुद्ध तत्वकी प्राप्ति होती है, उनही जीवोंको जो सर्व अन्य द्रव्योंसे दुर रहते हैं व अपने स्वरूपमें निश्चल रहते हैं, अविनाशी मोक्षकी प्राप्ति होती है जहां सर्व कर्मबन्ध छूटजाते हैं। आत्मीक पदरूप मोक्ष कर्म या क्रियाकाण्डसे बहुत दुर हैं परन्तु सहज आत्मज्ञानसे बहुत सुलभ है इसलिये ऐ जगतके प्राणियो! अपने आत्मज्ञानकी कलासे निरंतर उसीके अनुभवका यत्न करो। सिद्धांतसार यही है कि जो निर्मलचारित्रधारी मोक्षके अर्थी हैं उनको यही अनुभव करना चाहिये कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्यमात्र ज्योतिस्वरूप हूं और ये जितने नाना प्रकार रागादि औपाधिक भाव झलकते हैं वे मुझसे भिन्न लक्षणधारी हैं उनरूप मैं नहीं हूं क्योंकि वे सब मेरेसे जुदे परद्रव्य हैं। जो ज्ञानी मात्र अपनी एक विशाल आत्मभूमिका आश्रय करते हैं और मोहको किसी भी तरह हटादेते हैं वे ही मोक्षके साधकपनेको पाकर सिद्ध होजाते हैं। जो इस भूमिको नहीं पाते हैं वे मूढ़ जीव संसारमें भ्रमण करते हैं।

श्री समयसारमें श्री कुन्दकुन्द महाराज बताते हैं—

> मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टंति।
> परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥१६३॥

भावार्थ—निश्चय शुद्ध आत्मपदार्थको छोड़कर विद्वान जन व्यवहारमें प्रवर्तन नहीं करते हैं क्योंकि परमार्थके आश्रय लेनेवाले साधुओंके ही कर्मोंसे मुक्ति होती है।

> णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति।
> तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२२१॥

भावार्थ—आत्मज्ञान गुणके विना बहुतसे भी व्यवहार शास्त्रके ज्ञानी उस परमात्मपद्को नहीं पाते हैं इसलिये यदि तू कर्मोंसे मुक्ति चाहता है तो उसी एक निजपदको ग्रहण कर ।

मुक्खपहे अप्पाणं ठवेहि वेदयहि झायहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४३४॥

भावार्थ—हे भव्य ! निश्चयरत्नत्रयमई आत्मानुभवरूप मोक्षमार्गमें अपनेको स्थापित कर, उसीको ध्याय व उसीका अनुभव कर, उसीमें नित्य रमण कर, अन्यद्रव्योंमें मत रमण कर ।

अपने शुद्ध आत्माका अनुभव ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है यही साक्षात् मोक्षका सहकारी है । द्वादशांगका व थोड़े शास्त्रका जितना भी ज्ञान है सो सब व्यवहार सम्यग्ज्ञान है । ऐसा ही समयसारकलशमें कहा है—

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या,
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिःप्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो शुद्ध निश्चयनयके आश्रय आत्माका अनुभव करना है वही सम्यग्ज्ञानका अनुभव है ऐसी बुद्धी धारणकर आत्मामें ही आत्माको निश्चल बिठाकर तू देखेगा कि तूही एक नित्य सब ओरसे ज्ञानसमूह दीख रहा है । अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ये विशेष आत्म शक्तियां हैं या ऋद्धियां है । विशद या स्पष्ट ज्ञान होनेके लिये उपकारी हैं । ये दोनों एक देश प्रत्यक्ष ज्ञान हैं । आत्माके ही द्वारा अवधि ज्ञानावरण व मनः पर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं । इनका कुछ स्वरूप

यहांपर दिया जाता है। ये भी सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान हैं। मात्र अवधिज्ञान जब मिथ्यादर्शन सहित होता है तब उसको विभंग ज्ञान या कुअवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान—अवधि नाम मर्यादाका है। जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादाको लिये हो सो अवधिज्ञान है। यह ज्ञान मात्र रूपी पदार्थोंका अर्थात् पुद्गलका या पुद्गलके संबंधमें संसारी जीवोंका होता है। इसके मुख्यतासे तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि,। देशावधि व परमावधि हरएकके जघन्य, मध्यम, व उत्कृष्ट तीन २ भेद हैं। परन्तु सर्वावधि एक ही प्रकार है। देशावधिका जघन्य क्षेत्र अंगुलका असंख्यातवां भाग है, उत्कृष्ट सर्वलोक है, मध्यके असंख्यात भेद हैं। परमावधिका जघन्यक्षेत्र एक प्रदेश अधिक लोकाकाश क्षेत्र है, उत्कृष्ट असंख्यात लोकक्षेत्र है। मध्यमके अनेक भेद हैं। सर्वावधिका क्षेत्र उत्कृष्ट परमावधिसे भी बाहर असंख्यात लोकक्षेत्र हैं। वर्धमान (बढ़ता रहे), हीयमान (घटता रहे), अवस्थित (स्थित रहे), अनवस्थित (घटे व बढ़े), अनुगामी (साथ रहे), अननुगामी (साथ न रहे) ये छहों भेद तथा प्रतिपाति (छूटजावे) तथा अप्रतिपाती (न छूटे) ऐसे आठों भेद देशावधिमें संभव हैं। परमावधिमें हीयमान व प्रतिपाती विना छः भेद हैं। सर्वावधिमें अवस्थित, अनुगामी अननुगामी व अप्रतिपाती ये चार भेद हैं।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवनारकियोंको जन्मसे होता है। पशु व मनुष्योंको गुणप्रत्यय अवधिज्ञान निर्मल भावोंके द्वारा होता है। देव, नारकी व पशुओंके मात्र देशावधि होती है। इस अवधि-

ज्ञानकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा चारों गतियोंकी क्या होती है यह कथन राजवार्तिकसे विशेष जानना योग्य है। इस ज्ञानसे अपने व दूसरेके आगे व पीछेके जन्मोंका ज्ञान होता है।

मनःपर्यय ज्ञान—"मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानं मनः-पर्ययः"—मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे दूसरेके मनमें प्राप्त पदार्थोंको जो प्रत्यक्ष जान लेता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति, विपुलमति। ऋजु अर्थात् सरल मन चिंतवन किये हुए सरल वचनोंसे कहे हुए सरल कायसे किये हुए कार्योंको जो कोई अपने मनमें चिंतवन कर रहा हो उनको मनःपर्यय ज्ञानी जान ले यह ऋजुमतिका विषय है। यदि कोई पूछे तो उसके मनको चिंतागत सर्व विषयोंको ठीक २ जानकर कह दे। इस ऋजुमतिका काल दो तीन भव उत्कृष्ट सात या आठ भव है। इतने कालके भीतरकी जानलेता है। क्षेत्र जघन्य ३ से ९ कोस है, उत्कृष्ट ३ से ९ योजन है। इतने क्षेत्रके भीतर जो कोई चिंतवन कर रहा हो उसकी बात जान लेता है।

विपुलमति—सरल व वक्र मन, वचन, कायसे किये हुए कार्योंको जो चिंतवन करता हो व उसने पहले चिंतवन किया था व आगे चिंतवन करेगा उस सबको जो ज्ञान जान ले वह विपुल-मति है। इसका जघन्यकाल ७ या ८ भव है, उत्कृष्ट असंख्यात भव है। क्षेत्र जघन्य ३ से ९ योजन है, उत्कृष्ट ४९ लाख योजन मानुषोत्तर पर्वतके भीतर है। ऋजुमति ज्ञान छूट भी सक्ता है परन्तु विपुलमति छूट नहीं सक्ता है। कार्माण द्रव्यके अनंतवें भागको सर्वावधि जान सक्ता है। उसके भी अनंतवें भागको

ऋजुमति जानता है। उसके भी अनंतवें भागको विपुलमति जानता है—आप भी पहले चिंतवन किया हो उसको भी जानले व दूसरे जीवोंके भी जानले। विशेष वर्णन राजवार्तिकसे जानना योग्य है अथवा गोमटसारसे जानना योग्य है। यह मनःपर्यय ज्ञान मुनि महाराजके ही होता है।

केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है—लोकालोकके त्रिकालवर्ती पदार्थोंको उनकी अनंत पर्यायोंके साथ जानता है। यह आत्माका निजस्वभाव है। ज्ञानके बाहर कोई पर्याय नहीं रहजाती है। पांचों ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयसे यह ज्ञान प्रकाशित होता है।

मुमुक्षु जीवको पदार्थोंके जाननेके लिये जैसे श्रुतज्ञान प्रमाण व नय आवश्यक हैं वैसे निक्षेप भी आवश्यक है। निक्षेप या न्यास लोकव्यवहारको कहते हैं। जगतमें पदार्थोंके भीतर चार प्रकारका व्यवहार स्थापित किया जाता है। इसलिये निक्षेपके चार भेद हैं—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्यनिक्षेप व भावनिक्षेप। इसका संक्षिप्त कथन यह है कि गुण, जाति, स्वभावकी अपेक्षा न करके किसीका कोई नाम रखदेना सो नाम निक्षेप है। जैसे किसी बालकका नाम इंद्र रखना या सिंहदत्त रखना या चन्द्रभान रखना या देवकीनन्दन रखना आदि। उस बालकके नामके अर्थके अनुसार कोई गुण नहीं है। लोकव्यवहारके लिये ऐसा नाम रक्खे विना मानवको बुलाना व उसका समाचार लिखना अति दुर्लभ होगा। नाम रखनेसे वह दूसरे मानवोंसे अलग जाना किया जाता है। उसके साथ काम करनेसे जगतमें सुभीता होता है। काष्ठ, मिट्टी, पाषाण आदिमें किसीकी स्थापना करके यह भाव करना

कि यह वही है सो स्थापना निक्षेप है। इसके दो भेद हैं–तदाकार स्थापना, अतदाकार स्थापना। जिसकी मूर्ति या जिसका चित्र बनाना हो उसका वैसा ही आकार बनाकर स्थापना करनी यह तदाकार स्थापना है। जैसे श्री पार्श्वनाथ भगवानकी ध्यानाकार प्रतिमा उनके अर्हंत स्वरूपके आकारकी स्थापना है। इस तदाकार स्थापनासे वही भाव झलकता है जो भाव उस महान पुरुषमें था। वास्तवमें यह स्थापना भावोंको दिखलानेवाली होती है। क्रोधी मानवका चित्र क्रोध प्रदर्शक होगा। शृंगारित कामवासनामें लिप्त स्त्रीका चित्र काम भाव झलकाएगा। वीरोंकी मूर्ति वीरता बताएगी। कोई व्यक्ति कहींपर न हो और उसके स्वरूपका ज्ञान करना हो तो यह तदाकार स्थापना लोकमें व्यवहार की जाती है। किसी चोरको पकड़ना है, यदि उसका चित्र किसीको मिल जायगा, उस स्वरूपसे वह चोर पकड़ लिया जायगा। अपने मित्र परदेशमें हों, नहीं आसक्के हों तो उनका चित्र यदि देखनेमें आजावे तो दर्शकको प्रत्यक्ष देखेकासा सुख होता है। बड़े२ महान आचार्य, विद्वान, परोपकारी जो जीवन छोड़ गए उनकी मूर्तियें व उनके चित्र दर्शकके मनमें उनके गुणोंमें भक्ति व आदर पैदा कर देते हैं। जिसमें जिसकी स्थापना की हो उस मूर्ति या चित्रका सन्मान उसीका सम्मान या उसका अपमान उसीका अपमान माना जाता है। जैनियोंमें मूर्तिका स्थापन या उसके द्वारा पांच परमेष्ठीकी भक्ति भक्तजनोंके भावोंको वीतराग करनेमें परम सहायक है। (२) अतदाकार स्थापना। जिसकी तदाकार स्थापना नहीं बन सकी हो उसकी किसी भी वस्तुमें स्थापना कर लेनी सो अतदाकार स्थापना

है। इसकी भी लोक व्यवहारमें बड़ी आवश्यक्ता होती है। कोई बड़ा महल बनाना है तो कारीगर कागजमें लकीरोंके द्वारा सब चिह्न कर लेता है कि कहां२ क्या क्या बनेगा। किसी देशका हाल जानना है तब उस देशका चित्रपट बना दिया जाता है उसमें चिह्नोंके द्वारा नदी, पर्वत, नगर, द्वीप, समुद्र, खानें, हद्बन्दी आदि बतादी जाती है उसको देखकर देशके स्वरूपका ज्ञान सुगमतासे होजाता है। विना चित्रपटके मात्र वर्णन पढ़नेसे वैसा अनुभव नहीं होता है जैसा नकशा देखनेसे होता है। दोनों ही प्रकारकी स्थापना लोक व्यवहारमें प्रयोजनीय है।

(३) द्रव्यनिक्षेप—जो पर्याय या अवस्था किसीमें थी व आगामी होनेवाली है। वह द्रव्यमें वास्तवमें शक्तिरूपसे है, उसका वर्तमानमें झलकाव न होते हुए भी वह वर्तमानमें है ऐसा जिससे व्यवहार किया जासके वह द्रव्यनिक्षेप है। जैसे कोई वैद्य था, अब उसने वैद्यक छोड़ दी है या यह वैद्य वैद्यक न करके वर्तमानमें किसी अन्य कार्यमें लगा हुआ है तब भी उसको वैद्य मानना या कहना या कोई अवश्य राजा होनेवाला है या विवाहित होनेवाला है उसको पहलेहीसे राजा या वर कहना।

इस निक्षेपकी लोकमें बड़ी जरूरत पड़ती है। काम छोड़े हुए कोतवालको कोतवाल साहब कहनेका रिवाज है। एक मानव कर्मसिद्धांतके ज्ञाता शास्त्री हैं परन्तु इस समय भोजन कर रहा है उस समय भी जब बात किसीसे होती है तो यह कहा जाता है कि यह शास्त्री कर्मसिद्धांतके ज्ञाता हैं। ऐसा कहना या मानना द्रव्य निक्षेप रूपसे है। एक सम्यग्दृष्टी है परन्तु युद्धमें लगा

हुआ है तब भी उसे सम्यक्ती कहना द्रव्यनिक्षेपसे ठीक है क्योंकि उसके आत्म द्रव्यमें सम्यक्तकी लब्धि विद्यमान है वह इस समय उपयुक्त नहीं है। अर्हंत भगवानको सिद्ध कहना द्रव्य निक्षेपसे ठीक है। श्रीकृष्ण व श्रेणिकके जीवको तीर्थंकर मानना द्रव्य निक्षेपसे ठीक है क्योंकि ये दोनों तीर्थंकर होनेवाले हैं। कोई मर गया वह बड़ा सेठ था उनका शरीर पड़ा है उसको देखकर कहना कि यह बड़े परोपकारी व धनिक हैं। यह भी द्रव्य निक्षेपसे कहा जा सक्ता है। महावीरस्वामी अब सिद्ध हैं उनको पूर्व सिंह व भील पर्यायकी अपेक्षा भील या सिंह कहना द्रव्य निक्षेपसे ठीक है। द्रव्यमें अनन्त पर्याय हो चुकीं व अनंत होनेवाली हैं उनका आरोपण द्रव्यनिक्षेप स्वरूप वर्तमानमें किया जासक्ता है।

भावनिक्षेप—वर्तमान अवस्था जिस द्रव्यकी जैसी हो उसको वैसी मानना या कहना भावनिक्षेप है। राज्य करते हुएको राजा, स्वात्मानुभव करते हुएको सम्यक्ती, तीर्थ प्रचार करते हुएको तीर्थंकर, सिद्धावस्थामें आत्माको सिद्ध, नारकीको नारकी, देवको देव, सामायिक करते हुएको ध्यानी कहना भावनिक्षेप रूप है। जगतमें इसके विना भी काम नहीं चल सक्ता है। ये चारों निक्षेप पदार्थ रूप है। पदार्थ नाम निक्षेप रूप है। पदार्थ स्थापना निक्षेप रूप है। पदार्थ द्रव्य निक्षेप रूप है। पदार्थ भाव निक्षेप रूप है। इनको इन निक्षेप रूप जिस ज्ञानसे जाना जावे वह नय है। नय जाननेवाला है यह निक्षेप जाननेयोग्य है। नय विषय करनेवाला है यह निक्षेप उस नयका विषय है। नाम निक्षेप समभिरूढ़ नयका विषय है क्योंकि रूढ़िमें कोई नाम पदार्थका रख लिया गया

है। स्थापना निक्षेप ऋजुसूत्र नय या एवंभूत नयका विषय है क्योंकि वह किसी पर्यायका या कार्यका ऐसा बोध करा रहा है मानों साक्षात् वर्तमानमें मौजूद है। द्रव्य निक्षेप नैगमनयका विषय है क्योंकि द्रव्यमें भूत व भावी पर्यायका संकल्प वर्तमानमें किया गया है। भावनिक्षेप भी ऋजूसूत्र तथा एवंभूत नयका विषय है। पर्यायोंके स्वरूपको जाननेके लिये दो उपाय और हैं।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः।

॥ तत्वार्थसूत्र अ० १ सूत्र ७॥

भावार्थ—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान इन छः बातोंका वर्णन कर देनेसे पदार्थका ज्ञान होसक्ता है। स्वरूप कहना निर्देश है, उसका स्वामी बताना स्वामित्व है, उसकी प्राप्तिका उपाय बताना साधन है, कहां वह होता है वह अधिकरण है, कितनी देर उसकी स्थिति रहती है यह स्थिति है, उसके भेद बताना विधान है। इस रीतिसे किसी भी विषयका आपण कर सक्ते हैं। यदि सम्यक्त पर विचारना है तो निर्देश होगा कि तत्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, स्वामी इसके चारों गतिके सैनी पंचेंद्रिय पर्याप्त, जागृत, ज्ञानोपयोगी जीव हैं, साधन सम्यक्तका अंतरंग दर्शन मोह व अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षय, या क्षयोपशम है, बाहरी साधन तत्वोपदेशरूप अधिगम है या निसर्ग है उसका भी साधन जातिस्मरण, वेदनाका अनुभव, जिन महिमा दर्शन, जिन प्रतिमा दर्शन, महान ऋद्धि दर्शन आदि हैं। स्थान सम्यक्तका वास्तवमें आत्मा है बाहरी त्रस नाडी भर है जो १४ राजू प्रमाण है। स्थिति उपशम सम्यक्तकी एक अंतर्मुहूर्त

है। क्षायिक सम्यक्तकी स्थिति अनंत है परन्तु ऐसे सम्यक्त होनेके पीछे संसारमें रहनेकी स्थिति जघन्य एक अंतर्मुहूर्त व उत्कृष्ट ३३ सागर तथा दो कोटिपूर्व वर्ष है परन्तु उसमें ८ वर्ष व १ अंतर्मुहूर्त कम है। क्षयोपशमकी स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त व उत्कृष्ट ६६ सागर है। विधान सम्यक्तके दो भी हैं-निसर्गज अधिगमज वा तीन है-औपशमिक, क्षयोपशमिक तथा क्षायिक।

दूसरा उपाय यह है—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च॥ त० १-८॥

भावार्थ-सत, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव, अल्पबहुत्व इन ८ तरहसे भी जीवादि पदार्थोंका ज्ञान होता है। किसीकी सत्ता या अस्तित्वको बताना सत है। उसकी गिनती बताना संख्या है। उसका वर्तमान क्षेत्र या उपजनेका या मूल क्षेत्र बताना क्षेत्र है। उसका कहांतक गमन होसक्ता है उस स्पर्श योग्य क्षेत्रको बताना स्पर्शन है, उसकी स्थिति बताना काल है, उसका स्वभाव बताना भाव है, वह वस्तु कहां थोड़ी व कहां अधिक मिलती है बताना अल्प बहुत्व है। जैसे हमें जीव तत्वका व्याख्यान करना है तब हमें पहले यह सिद्ध करना चाहिये कि जीव है या नहीं, फिर बताना चाहिये कि जीव संख्यामें अनंतानंत हैं। क्षेत्रापेक्षा बताना होगा कि नारकी नरकमें, देव स्वर्गवासी ऊर्ध्वलोकमें, मानव ढाईद्वीपमें व तीर्यंच सर्व लोकमें उपजते हैं। स्पर्शन अपेक्षा कहना होगा कि जैसे स्वर्गका देव तीसरे नर्क तक जा सक्ता है या एक कर्म भूमिका उपजा मानव ढाईद्वीप तक जा सक्ता है यह सब स्पर्शन है। कालमें संसारी जीवोंकी

आयु बतानी होगी जैसे सर्वार्थसिद्धिवाले अहमिन्द्रोंकी आयु तेतीस सागर है। भावमें जीवोंके ज्ञान दर्शनादि स्वभाव या औपशमिकादि पांच भाव कहने होंगे। अल्पबहुत्वमें यह कहना होगा कि निगोद पर्यायमें अनंतानंत जीव हैं। मानवमें बहुत कम हैं। इत्यादि।

स्याद्वाद या सप्त भंगका स्वरूप—पदार्थोंका स्वरूप जाननेके लिये स्याद्वादका स्वरूप जानना भी अवश्यक है। पदार्थोंमें बहुतसे विरोधी स्वभाव रहते हैं उनका वर्णन करनेका उपाय यह स्याद्वाद है। स्यात्‌के अर्थ हैं किसी अपेक्षासे वादके अर्थ हैं कहना। किसी धर्म या स्वभावको किसी अपेक्षासे कहना स्याद्वाद है। जैसे एक १९ वर्षका मानव एक ही समयमें पिता व पुत्र दोनों है। तब उसको कहेंगे स्यात्‌ पिता—किसी अपेक्षासे अर्थात्‌ अपने पुत्रकी अपेक्षासे यह पिता है। स्यात्‌ पुत्रः—किसी अपेक्षासे अर्थात्‌ अपने पिताकी अपेक्षासे पुत्र है। ये दोनों विरोधी संबंध एक ही समयमें हैं इस बातको मजबूती करनेके लिये इन दो भंगोंके सिवाय पांच भंग और किये जाते हैं। जैसे—

(३) स्यात्‌ पिता पुत्रश्च—अर्थात्‌ किसी अपेक्षासे जब दोनोंको विचार करें तब यह पिता और पुत्र दोनों है।

(४) स्यात्‌ अवक्तव्यः—किसी अपेक्षासे अर्थात्‌ जब हम यह उद्यम करें कि एक ही समयमें पाए जानेवाले दोनों भावोंको एक ही समयमें शब्दसे कहें तो यह शब्दोंके द्वारा नहीं होसक्ता इसलिये पिता व पुत्रपना एक समयमें होते हुए भी कहा नहीं जासक्ता।

है। परिहारविशुद्धि चारित्र एक खास ऋद्धि है जो उस मुनिको प्राप्त होती है जो ३० वर्ष गृहस्थीमें सुखसे रहकर फिर दीक्षित हो और ८ वर्षतक तीर्थंकर भगवानकी संगति करे व प्रत्याख्यान पूर्व पढ़ा हो। इससे जीवहिंसामें विशेष प्रकारसे बचाव होता है। छठे सातवें गुणस्थानमें यह परिहारविशुद्धि चारित्र होता है। सामायिक व छेदोपस्थापना नौमें गुणस्थानतक होती हैं। १० वें गुणस्थानमें मात्र सूक्ष्मलोभका उदय रहनेसे चारित्र निर्मलताके निकट होता है। इसको सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। यथाख्यात चारित्र या पूर्ण वीतराग भाव सर्व कषायोंके उपशम या क्षयसे ११-१२-१३-१४ गुणस्थानोंमें होता है। इस पंचमकालमें सातमें गुणस्थानसे आगेके गुणस्थान नहीं होते हैं। क्योंकि उपशम श्रेणी चढ़ने लायक उत्तम संहनन व क्षपकश्रेणी चढ़ने लायक प्रथम संहनन इस पंचमकालके मानवोंमें नहीं होता है। जब कषाय सातवें गुणस्थानमें अति मन्द होजाती है तब साधु उपशमश्रेणी चढ़ने योग्य होता है। वेदक सम्यग्दृष्टि नहीं चढ़ सक्ता। वेदकसे यातो सातों प्रकृतियोंका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होगा या उपशमकर द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होगा तब ही श्रेणी चढ़ेगा। चारित्र मोहनीयकी २१ प्रकृतियोंके उपशम करनेका कार्य उपशम श्रेणीमें होता है। अधोकरण लब्धि तो सातवेमें ही होजाती है फिर अपूर्वकरण लब्धि अंतर्मुहूर्तके लिये होती है इसहीको अपूर्वकरण आठवां गुणस्थान कहते हैं। फिर अनिवृत्तिकरणलब्धि अन्तर्मुहूर्तके लिये होती है, इसहीको नौमा गुणस्थान कहते हैं। यहांतक सर्व कषाय उपशम होजाती हैं, मात्र सूक्ष्म लोभ रहजाता

(३) स्यात् जीवः नित्यः अनित्यश्च—यदि दोनों बातोंको साथ कहें तो यह जीव नित्य भी है अनित्य भी है।

(४) स्यात् अवक्तव्यः—यदि एक समयमें दोनों बातोंको कहना चाहें तो शब्दमें शक्ति नहीं है जो कह सके, इसलिये जीव अवक्तव्य है।

(५) स्यात् नित्यः अवक्तव्यश्च—यद्यपि एक समयमें कथन अपेक्षा जीव अवक्तव्य है तथापि नित्य अवश्य है।

(६) स्यात् अनित्यः अवक्तव्यश्च—यद्यपि अवक्तव्य है तथापि अनित्य भी है।

(७) स्यात् नित्यः अनित्यः अवक्तव्यश्च—यद्यपि अवक्तव्य है तथापि नित्य अनित्य उभयरूप एक ही समयमें है।

इसतरह व्यवहार नयसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके मुमुक्षु जीवको उचित है कि निश्चयनयसे आत्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। उसको निराला केवल सिद्ध सम शुद्ध स्वभावसे समझकर वैसा ध्यावे वैसा अनुभव करे तब स्वात्मानुभव होगा, यही अनुभव मोक्षमार्ग है। रागद्वेष टार साम्यभावमें आना ही जीवका हित है। उसका सार उपाय यह सम्यक्तपूर्वक सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान जयवंत हो! यही दोइजका चन्द्रमा है, यही बढ़ते २ पूर्णमासीका चन्द्रमा केवलज्ञान होजाता है।

सातवां अध्याय ।

सम्यक्चारित्रका स्वरूप ।

जैसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्माके ही स्वभाव हैं वैसे सम्यग्चारित्र भी आत्माका ही स्वभाव है । वीतरागता सहित स्वरूपमें थिरता व आत्मलीनता व परम साम्यभाव व परम शांति व निष्कषाय भाव सम्यक्चारित्र है, इस गुणको चारित्रमोहनीय नामकर्मने विपरीत कर रक्खा है । जितना २ चारित्रमोहनीय कर्मका उदय हटता जाता है, चारित्रमोहनीयका क्षयोपशम, उपशम या क्षय होता जाता है उतना२ चारित्रगुण अधिक विकसित होता जाता है । सम्यग्दर्शनके प्रकाश होते ही अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभके उदय न होनेसे स्वरूपाचरण चारित्र होजाता है अर्थात् स्वरूपके भीतर रमण करनेकी शक्ति प्रगट होजाती है । सम्यक्ती जब स्वानुभूतिमें तन्मय होजाता है तब वहां यह चारित्र झलकता है । परन्तु अविरत सम्यक्तीके चौथा गुणस्थान होते हुए अभी २१ चारित्र मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका यथा संभव उदय विद्यमान होते हुए रागद्वेषकी कलुषता भावोंमें रहती है । स्वरूपमें अधिक थिरता नहीं रह सक्ती इसलिये यह आवश्यक है कि इन कषायोंका बल क्षीण किया जावे और स्वरूपमें थिरता रूप चारित्रकी उन्नति की जावे । सम्यक्त होते हुए यद्यपि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी साथ २ प्रगट हुए हैं तथापि अपूर्ण हैं । इनकी पूर्णता करनेका कार्य अभी सम्यक्तीको करना शेष है । इनकी पूर्णता होते हुए सम्यक्तको भी अवगाढ़

व परमावगाढ़ नाम मिल जाता है। क्योंकि तीनों गुण आत्माके भीतर एक साथ रहनेहवाले हैं। व परस्पर उपकारी हैं। सबसे अधिक उपकारी सम्यक्त है इसके बिना यदि बहुत भी श्रुतज्ञान हो तो कुज्ञान है व बहुत भी बड़ा साधुका व्यवहार चारित्र हो, कठिनसे कठिन कायक्लेश तप हो तथापि वह कुचारित्र व कुतप है, सम्यक्त होनेके पीछे सम्यग्ज्ञानका मनन ही या आत्मानुभव ही एक उपाय है जिसके द्वारा ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे ज्ञान बढ़ता है व कषायोंका अनुभाग क्षीण होनेसे चारित्र बढ़ता है। आत्मानुभव ही परम औषधि है जिससे कर्म मैल कटता है व आत्मा शुद्ध होता है। आत्मानुभव ही धर्मध्यान है। आत्मानुभव ही शुक्लध्यान है। आत्मानुभव ही चारित्र है। आत्मानुभव ही साम्यभाव है। इसी लिये श्री समयसारकलशमें कहा है—

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥५-६॥

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥६-६॥

भावार्थ—वास्तवमें शुद्ध आत्मतत्वके अनुभवसे कर्मोंका संवर होता है। वह आत्मानुभव भेदविज्ञानसे होता है। आत्मा व अनात्माके भिन्न २ ज्ञानसे होता है इसलिये भेद विज्ञानकी भावना अतिशय करके करनी चाहिये। इस भेद विज्ञानको लगातार उस समय तक भाना चाहिये जबतक परसे छूटकर ज्ञान ज्ञानमें प्रतिष्ठाको न प्राप्त करले अर्थात् केवलज्ञानका लाभ न होजावे।

आत्मानुभव ही अंतरंग व निश्चय चारित्र है। श्री कुन्द-

कुन्दाचार्यने प्रवचनसारमें चारित्रका स्वरूप कहा है:—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

भावार्थ-अर्थात् अपने स्वरूपमें आचरण या स्वसमयमें प्रवृत्ति है। वह चारित्रधर्म वही है जो साम्यभाव ऐसा कहा गया है। साम्यभाव या समभाव आत्माका वह परिणाम है जो दर्शन मोह और चारित्र मोहके उदयसे होनेवाले मोह रागद्वेषसे रहित अत्यन्त निर्विकार है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ ३९ ॥

भावार्थ-जहां सर्व पाप सहित मन वचन काय योगोंकी प्रवृत्तिका त्याग होकर व सर्व कषायसे रहित होकर स्पष्ट परम-वीतरागरूप जो आत्माका स्वभाव प्रकट हो वही चारित्र है। जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शन अर्थात् जीवादि सात तत्वोंका श्रद्धान आत्म रुचि रूप निश्चय सम्यग्दर्शनके लिये निमित्त कारण है। तथा जैसे आगमका अभ्यास व मनन रूप व्यवहार सम्यग्ज्ञान आत्मज्ञान रूप निश्चय सम्यग्ज्ञानके लिये कारण है वैसे व्यवहार श्रावक व मुनिका चारित्र आत्मथिरता रूप निश्चय सम्यक्चा-रित्रके लिये निमित्त कारण है।

उपादाननिमित्ताभ्यां कार्यं सिद्धिः-हरएक कार्यकी सिद्धि उपादान और निमित्त दोनों कारणोंसे होती है। सुवर्णकी शुद्धिमें उपादान शक्ति तो सुवर्ण हीमें है परन्तु जितने मसाले व जितने अग्निके तावके निमित्तकी जरूरत है उतनेके

विना सुवर्ण शुद्ध नहीं होसक्ता। मिट्टीका घट बनता है। घटके बननेमें मिट्टी उपादान या मूलकारण है परन्तु जबतक चाक व कुम्हार आदिका निमित्त जो घटके बननेमें आवश्यक कारण है न होगा तबतक घट नहीं बन सक्ता। न तो निमित्त मात्र कार्य कर सक्ता न उपादान कार्य कर सक्ता है, दोनोंका संयोग हरएक कार्यके लिये आवश्यक है। मोक्षकी प्राप्तिमें अविनाभावी निमित्त कारण वज्रवृषभनाराच संहननकी भी आवश्यक्ता है। विना ऐसा संहनन हुए मानव क्षपकश्रेणी नहीं चढ़ सक्ता और घातियाकर्मोंका नाश नहीं कर सक्ता। व्यवहारचारित्रका जैसा २ निमित्त बनता है वैसा २ ही उपादान विकसित होता है। इसलिए व्यवहार चारित्रका साधन निश्चय चारित्रके लिये आवश्यक बताया गया है। रागद्वेष यह वीतरागताका विरोधी है। रागद्वेषके होनेमें बाहरी परिग्रह व उनका आरम्भ निमित्तकारण है इसलिये बाहरी त्याग वीतरागताका साधक है। श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्डमें चारित्रकी आवश्यक्ता इसीलिये बताते हैं।

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥ ४७॥

भावार्थ–दर्शनमोहरूपी अन्धेरेके जानेपर व सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर व सम्यग्ज्ञानका भी लाभ होजानेपर साधु रागद्वेषको छुड़ानेके लिये चारित्रको ग्रहण करता है। वह चारित्र दो प्रकारका है–सकल और विकल या एकदेश। जैसा रत्न॰ में कहा है–

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम्॥ ५०॥

भावार्थ—चारित्र दो प्रकारका है सकल और विकल। सर्व-परिग्रहके त्यागी गृहरहित साधुओंके लिये सकल चारित्र है और परिग्रहधारी गृहस्थियोंके लिये विकल चारित्र है

सकल व्यवहार चारित्र।

सम्यक्त पूर्वक ही चारित्र चारित्रनाम पाता है। इसलिये सकल चारित्रका पालनेवाला छट्ठे प्रमत्तविरतगुण स्थानसे बारहवें क्षीण कषाय गुणस्थान तक साधु होता है। छठे गुणस्थानमें अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण इन १२ कषायोंका उदय नहीं रहता है मात्र संज्वलन क्रोधादि चार व ९ नोकषाय इन १३ कषायोंका उदय रहता है। जितना रागद्वेष इनके उदयसे संभव है उतना ही इस गुणस्थानमें होता है। जैसे जलमें लकीर तुर्त मिट जाती है वैसे इस गुणस्थानवाले साधुके रागद्वेषकी लहर कदाचित् आती है तो तुर्त मिट जाती है। सातवें अप्रमत्त गुण-स्थानसे लेकर क्षीण मोह तक सर्व ६ गुणस्थान ध्यानमय हैं। जबतक कोई साधु उपशम या क्षपक श्रेणी न चढ़ें तबतक वह सातवेंसे छठे व छठेसे सातवेंमें बारबार आया जाया करता है क्योंकि हरएकका काल अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है। मुनिका आहार, विहार, शास्त्रोपदेश, शास्त्र विचार, दीक्षादान, प्रायश्चित्त ग्रहण, वन्दना, स्तुति आदि सर्व कार्य छठे गुणस्थानमें ही होते हैं, सात-वेमें इतनी कषाय मंद है कि आत्मानुभवमें मगन होजाता है।

मुनिपद धारनेवाला शिष्य जब वस्त्राभूषण उतारकर केशोंका लोचकर व प्रतिज्ञा लेकर ध्यानमें तिष्ठता है तब चौथेसे या पांचमें

गुणस्थानसे या कोई पहले गुणस्थानसे एकदम सातवेंमें पहुंच जाता है। मुनिपद लेते हुए सातवां गुणस्थान होता है। सातवेंसे गिरकर पहले पहल छठा गुणस्थान होता है।

साधुका व्यवहार चारित्र १३ प्रकार है। जैसा श्रीनेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें कहा है:—

> असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्तीय जाण चारित्तं।
> वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं॥

भावार्थ—अशुभसे छूटना व शुभमें प्रवृत्ति करना व्यवहार चारित्र है। पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्तिरूप ऐसा १३ प्रकार चारित्र व्यवहारनयसे जिनेन्द्रने कहा है।

पांच महाव्रत-(१) अहिंसा महाव्रत- हिंसा दो प्रकारकी है- संकल्पी और आरम्भी। जो हिंसाके ही अभिप्रायसे की जाय सो संकल्पी हिंसा है जैसे शिकार खेलनेमें, धर्मार्थ पशुबलि करनेमें, मांसाहार करनेमें, व अन्य शौक आदिमें जो हिंसा हो। आरम्भी हिंसा वह है जो खेती, वाणिज्य, देश रक्षा, माल रक्षा, उद्योग, आदि व मकान बनाना, कुआ खुदाना, बाग लगाना, रसोई बनाना आदि आवश्यक कामोंको करते हुए हिंसाका संकल्प न होते हुए भी करनी पड़े। मुनि अहिंसाको बुद्धिपूर्वक पूर्णपने पालते हैं इसलिये वे संकल्पी और आरम्भी दोनों तरहकी हिंसाको नहीं करते हैं। न वे त्रस जीवोंकी विराधना करते हैं और न वे स्थावर जीवोंकी हत्या करते हैं। वे मन वचन काय कृतकारित अनुमोदना ९ तरहसे हिंसाके त्यागी हैं। इसीलिये वे अहिंसाव्रतकी रक्षार्थ पांच भावनाएं भाते हैं-(१) वाग्गुप्ति-वचनोंकी सम्हाल-

ऐसा वचन न निकले जो हिंसाका प्रेरक हो । (२) मनोगुप्ति–मनकी सम्हाल–मनमें हिंसक व द्वेषपूर्ण व घातक विचार न हो । (३) ईर्या समिति–चार हाथ भूमि देखकर चलना । (४) आदान-निक्षेपण समिति–किसी वस्तुको देखकर रखना, उठाना । (५) आलोकित पान भोजन–देखकर दिनमें भोजनपान करना ।

२–सत्य महाव्रत–मन वचन काय, कृतकारित अनुमोदनासे प्रमाद या कषायके वशीभूत हो अप्रशस्त, अशुभ, निंदनीय, कटुक, निष्ठुर, असत्य, अहितकारी, व धर्मशास्त्रके विरुद्ध वचन नहीं कहना । जो कुछ कहना सो स्वपर हितकारी शास्त्रानुकूल मर्यादा रूप हित मित वचन कहना, प्राण जाते हुए भी असत्य न कहना, सत्य महाव्रतकी रक्षार्थ साधुजन पांच भावनाएं भाते हैं–(१) क्रोध त्याग–क्रोध उत्पन्न न हो जावे । (२) लोभ त्याग–कोई लोभ न पैदा हो जावे । (३) भीरुत्व त्याग–कोई भय न हो जावे । (४) हास्य त्याग–कोई हास्य करनेका भाव न हो । (५) अनुवीची भाषण–शास्त्रके अनुकूल वचन निकले ।

३–अचौर्य महाव्रत–मन वचन काय, कृतकारित अनुमोदनासे विना दी हुई वस्तु ग्रहणका त्याग । साधुजन अपनेसे नदीका पानी व वृक्षका फल भी नहीं लेते हैं । जो कुछ भक्तजन देते हैं वही लेते हैं । कभी भी कषायके वशीभूत हो विना दी वस्तु ग्रहण नहीं करते । चोरीका कोई प्रसंग न आवे व चोरीका दोष न लगे इसलिये साधुजन इन पांच बातोंका ध्यान रखते हैं (१) शून्यागार–शून्य स्थान वन, पर्वत, गुफा आदिमें ठहरना । (२) विमोचितावास–उजड़े हुए व दीर्घकालसे छोड़े हुए मकान

या स्थानमें ठहरना, (३) परोपरोधाकरण-जहां कोई मना करे वहां नहीं ठहरना तथा आप जहां ठहरे हों वहां कोई आवे तो उसे मना नहीं करना (४) भैक्ष्यशुद्धि-भिक्षा शुद्धतासे दोषोंको टालकर लेना। दोष होनेपर भी भोजन लेलेना चोरी है। (५) सधर्माविसंवाद-साधर्मि मुनियोंसे किसी बातपर झगडा नहीं करना क्योंकि विसंवाद करनेसे धर्मका लोप होता है। यह स्थान मेरा है, यह शास्त्र मेरा है तेरेको नहीं देंगे इत्यादि प्रकारका झगडा चोरीके दोषको लाता है।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत-मन वचन काय, कृतकारित अनुमोदनासे काम भावका व स्त्री सेवनका त्याग। साधु, देवी, मनुष्यणी, पशुनी व काष्टचित्रामकी स्त्री चारों ही की ओर भगिनी रूप भावना रखते हैं। कामभावके विकारसे बचनेके लिये इन चारोंकी संगतिसे दूर रहते हैं तथा इन पांच भावनाओंको ध्याते हैं (१) स्त्रीरागकथाश्रवण त्याग-स्त्रियोंमें राग बढ़ानेवाली कथाके सुनने कहनेका त्याग-(२) तन्मनोहरांगनिरीक्षण त्याग-उनके मनोहर अंगोंको राग सहित देखनेका त्याग। (३) पूर्वरतानुस्मरण त्याग। पहलेके गृहस्थावस्थाके भोगे हुए भोगोंके स्मरण करनेका त्याग। (४) वृष्येष्टरस त्याग-काम वर्धक इष्ट रसोंके खानेका त्याग। (५) स्वशरीर संस्कार त्याग। अपने शरीरको श्रृंगारित करनेका त्याग। इसीलिये मुनि दन्तवन नहीं करते, स्नान नहीं करते, आभूषण व वस्त्र नहीं पहनते, केशलोंच करते हैं, एकांतवास करते हैं, ब्रह्मचर्यव्रतको ध्यानमें परम सहायी जानते हैं।

(९) परिग्रह त्याग—मन वचन काय, कृतकारित अनुमोदनासे १० प्रकारके परिग्रहका त्याग करते हैं। क्षेत्र, मकान, धन, धान्य, चांदी, सोना, दासी, दास, कपड़े, वर्तन। इन सबको रंच मात्र भी पास नहीं रखते हैं क्योंकि ये ही ममताके उत्पन्न करनेमें निमित्त कारण हैं। जिन पदार्थोंको बुद्धि पूर्वक त्यागा जा सक्ता है कि ममत्व न उपजे, उन सब पदार्थोंका त्याग साधु कर देते हैं। यद्यपि शरीर भी ममताका कारण है परन्तु शरीरका त्याग असंभव है। दूसरे शरीर संयमका भी साधन है। मानव-देहके आश्रय ही ध्यान किया जा सक्ता है। शरीर मात्रके धारी रहजाते हैं। धर्मसाधनमें सहकारी अहिंसाका उपकरण मोरपिच्छिका रखते हैं, शुद्धि व शौचका सहायक गर्मजल सहित काष्ठका कमण्डल रखते हैं, ज्ञानका सहकारी जैन ग्रन्थ रखते हैं। और कोई वस्तु पास नहीं रखते हैं—बालकके समान नग्न, निर्भय, निर्द्वंद व प्राकृतिक रूपमें रहते हैं। बुद्धिपूर्वक अन्तरंग १४ प्रकारका परिग्रह भी त्यागते हैं। अर्थात् १४ प्रकारके औपाधिक भावोंकी ममता हटाते हैं। उनके न होनेकी पूरी सम्हाल रखते हैं (१) मिथ्यात्व, (२) क्रोध, (३) मान, (४) माया, (५) लोभ, (६) हास्यभाव, (७) रतिभाव, (८) अरतिभाव (९) शोक, (१०) भय, (११) जुगुप्सा (ग्लानि) (१२) स्त्री वेद, (१३) पुरुष वेद, (१४) नपुंसक वेद। आत्माको ही अपना जानकर सर्व अनात्मीक भाव व पदार्थोंकी मूर्छा त्याग देना ही परिग्रह त्याग महाव्रत है। इस व्रतकी रक्षाके हेतु मन रुचते व अरुचते पांचों इंद्रियोंके पदार्थोंके मिलनेपर राग द्वेष न करनेका अभ्यास रखना चाहिये।

पांचों इंद्रियोंके विषयोंको जीतनेकी भावना करनी। पांच भावनाएं इस व्रतकी हैं।

पांच समिति–पांच महाव्रतोंकी रक्षाके लिये ही पांच विशेष समाधान रूप व्यवहारोंको ध्यानमें रखते हैं–(१) ईर्या समिति–दिनके प्रकाशमें प्रासुक या रोंदी हुई भूमिपर चार हाथ भूमि आगे देखकर सम्हालकर पग रखते हुए चलना जिससे किसी स्थावर व त्रस जंतुकी बाधा न होजावे। इसीलिये साधुजन किसी प्रकारके वाहनपर नहीं चढ़ते हैं। पैदल गमन करते हैं। कहीं मध्यमें नदी आजावे तो जाने लायक जल गोड़ों तक हो तो पार करलें अथवा कोई नौका जाती हो व कोई साधुको बैठे देखकर कहे कि महाराज! चलें, तो वे उस नौका द्वारा मात्र नदी पार करलें। फिर तुर्त ही इस अशक्यानुष्ठान जनित कार्यमें जो प्रमादके वशीभूत हो हिंसाका दोष लगा हो उसके निवारणार्थ कायोत्सर्ग सहित ध्यान करते हैं। (२) भाषा समिति–साधुयोग्य उत्तम मीठी अमृतमई वाणी बोलना।

(३) एषणा समिति–शुद्ध भोजन ४६ दोष व १४ मल व ३२ अन्तराय टालके वही लेना जिसे गृहस्थने अपने कुटुम्बके लिये बनाया हो व उसमेंसे भाग दिया जावे। साधुके निमित्त या साधुके उद्देश्यसे न बनाया हो। साधुजन आहारकी ममता हटानेके लिये खड़े होकर मात्र हाथमें जो ग्रास श्रावक रखदे उसे ही नियमित लेते हुए संतोष करते हैं। सरस नीरसका विचार नहीं करते हैं। मात्र उदररूपी गर्तको भरते हैं ताकि संयमका साधन शरीरसे होसके। मुनिकी वृत्ति भ्रामरी वृत्ति कहलाती है जैसे भ्रमर

पुष्पोंसे मद लेता हुआ पुष्पोंको किंचित् भी हानि नहीं पहुंचाता है इसीतरह साधु गृहस्थोंके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए आहारको लेकर गृहस्थोंको रंचमात्र भी कष्ट नहीं देते हैं। ४६ दोषादिका कथन मूलाचार ग्रन्थसे व प्रवचनसार टीकाके तृतीयभाग—चारित्र-तत्वदीपिकासे जानना योग्य है।

(४) आदाननिक्षेपण समिति—शास्त्र पीछी कमंडल व अपना शरीर देखकर पीछीसे झाड़कर रखना व उठाना कि किसी भी जन्तुको बाधा न हो।

(५) प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति-मलमूत्रादि जंतु रहित प्रासुक स्थानोंमें करना।

(३) तीन गुप्ति—(१) मनोगुप्ति—मनमें धर्मध्यानके सिवाय प्रपंचोंको न आने देना। (२) वचन गुप्ति—मौन रहना। यदि कहना पड़े तो शास्त्रोक्त वचन कहना। (३) कायगुप्ति—शरीरको आसनरूप निश्चल रखना। शयन भी एक करवटसे करना। यदि करवट बदलनी हो तो पीछीसे स्थान साफ कर व देखभाल कर बदलना। प्रमाद व आलस्यरूप शरीरको नहीं रखना। ये १३ प्रकार मुनिका चारित्र है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारमें साधुके २८ मूल गुण बताए हैं। व मूलाचारादि आचार ग्रन्थोंमें भी २८ मूलगुणोंका कथन है। वे नीचे प्रकार हैं—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सकमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च॥ ८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदो वट्ठावगो होदि॥ ९॥

भावार्थ–५ महाव्रत ५ समिति ५ इंद्रियोंका वशीकरण ६ आवश्यक नित्यकर्म (प्रतिक्रमण–गत दोषोंका प्रायश्चित्त, २ प्रत्याख्यान–आगामी दोषोंके त्यागकी भावना, ३ सामायिक–रागद्वेष त्याग समताका मनन, ४ स्तुति–२४ तीर्थंकरोंकी स्तुति, ५ वंदना एक तीर्थंकर मुख्य करके व प्रतिमादिको वंदना, ६ कायोत्सर्ग–शरीरादिके ममत्वका त्याग) (१) लोच–केशोंका लोच करना। ममता हटानेके लिये व स्वतंत्रवृत्तिके लिये साधुगण २ मास ३ मास या अधिकसे अधिक ४ मास पीछे एकांतमें बैठकर अपने सिरके डाढ़ी व मूछके बालोंको इस तरह उखाडके फैंक देते हैं जिस तरह घासको उखाड लिया जावे। वे इस बातकी परीक्षा साधु होते हुए ही देते हैं, जो केशोंको उपाडनेमें खेद व दुःख मानता है वह साधु पदवीके योग्य नहीं गिना जाता है। (२) अचेलकत्व–वस्त्र, चर्म मृगछाला, वल्कल, रेशम, ऊन, पत्तों आदिसे अपने शरीरको नहीं ढकना। जन्मके बालकके समान नग्न रहना। साधु व सागारमें यही अन्तर है। जहांतक एक लंगोटी मात्र भी वस्त्रका ग्रहण है वहांतक वह श्रावक है, वह पूर्ण परिग्रहका त्यागी नहीं है। जो साधु शीत, उष्ण, डांस, मच्छर, नग्नता आदि २२ परिषहोंको जीत सकता है वही साधुके योग्य ध्यानका अभ्यास कर सक्ता है। साधुके जो कोई वस्त्रत्याग अनावश्यक बताते हैं उनके मतमें परिग्रह त्याग महाव्रत साधुके नहीं बनता है। शीत व उष्णकी परीषहका सहना नहीं बनता है। जैसे सुवर्णकी शुद्धिके लिये बाहरी निमित्त १६ पाणीका ताप आवश्यक है, उसके बिना वह शुद्ध नहीं होसक्ता है उसी तरह साधुके गुणस्थानोंमें जो

अंतरंग वीतरागता आवश्यक है, इसके लिये बाहरी वस्त्र त्यागका होना आवश्यक है। प्राचीन कालमें श्री महावीरस्वामीके समयमें तथा उनसे पहले जैन साधु निर्ग्रन्थ कहलाते थे और वे नग्न ही विहार करते थे। इतिहास इस बातकी साक्षी देता है। स्वयं श्री महावीर भगवानने सर्व परिग्रह त्यागकर नग्न ही विहार करके तपस्या की थी। यदि वस्त्र त्यागकी आवश्यक्ता न होती तो वृथा ही वस्त्र त्यागका कष्ट क्यों सहा जाता? पात्रकेशरी मुनिने अपने रचित स्तोत्रमें नग्नताकी पुष्टिमें यह श्लोक कहा है—

जिनेश्वर न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो।
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः॥
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता।
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते॥ ४१॥

भावार्थ—हे जिनेश्वर! आपके मतमें साधुओंके लिये ऊन कपासादिके वस्त्र रखना व भिक्षा लेनेका पात्र रखना नहीं कहा गया है। इनको सुखका कारण जानके स्वयं असमर्थ साधुओंने इनका विधान किया है। यदि परिग्रह सहित मुनिपना भी मोक्षमार्ग होजावे तो आपका नग्न होना वृथा होजावे। क्योंकि यदि वृक्षका फल हाथसे मिलना सुलभ हो तो कौन बुद्धिमान वृक्षपर चढ़े?

(१) अस्नान—मुनि स्नान नहीं करते हैं। स्नान करनेसे जलका आरम्भ होता है। जलके आरम्भसे वृथा ही त्रसादिकी हिंसा होती है। उनको शरीरका शृङ्गार नहीं करना है। परम वैराग्यभावके हेतु व जीवदया पालनके हेतु साधु स्नान नहीं करते हैं। उनके वस्त्रका सम्बन्ध न होनेसे व गृहस्थी योग्य आरंभका सम्बन्ध न होनेसे कोई शरीरमें अशुचिपना नहीं आता है। वनकी

पवन उनके शरीरको शुचि रखती है। तथा मुनियोंके मंत्र स्नान है। जब वे मल मूत्र कर चुकते हैं तब कायोत्सर्ग द्वारा ध्यान करते हैं इसीसे उनके शरीरकी शुचिता होजाती है।

(१) क्षितिशयन-प्रासुक भूमिमें विना संथारेके या अपने शरीर प्रमाण सूखे तृणादिके संथारेमें योग्य एकांत स्थानमें जहां स्त्री, पशु, नपुंसकोंका संचार न हो, धनुषके समान व लकड़ीके समान एक पसवाड़ेसे सोना। साधु अधोमुख या ऊपरको मुख करके नहीं सोते हैं। कंकड़ीली भूमिको भी कोमल शय्या समझते हैं, शरीरसे अति निर्मोही हैं।

(१) अदन्त मन-संयमके लिये व श्रृंगार त्यागके लिये साधु गृहस्थोंकी तरह दन्तवन नहीं करते हैं, किन्तु वे दिन रातमें एकवार भोजन करते हैं। भोजनके समय ही भोजनके पीछे मुखको व दांतोंको स्वच्छ कर लेते हैं कि कोई कण न लगा रहे, क्योंकि कण रहनेसे जंतुओंकी उत्पत्ति होजायगी। इतनी ही क्रिया मुख व दांत स्वच्छ रखनेके लिये बस है।

(१) स्थिति भोजन-खड़े होकर भोजन लेना। मुनि अपने हाथोंको ही पात्र बनाकर भींत आदिका सहारा न लेते हुए चार अंगुलके अंतरसे दोनों अंगोंको रखते हुए खड़े भोजन करें तब यह भी देखले कि जहां आप भोजन करने खड़े हैं व जहां भोजनांश गिरेगा व जहां दातार खड़ा है, तीनों स्थानोंमें किसी जंतुकी बाधा तो न होगी। खड़े भोजन करनेसे रागका अभाव होता है। साधु गिनतीके ग्रास लेते हैं व अल्प भोजन करते हैं। अन्तराय पड़े तो १ ही ग्रासकी उच्छिष्टता हो, विशेष न हो।

(१) एक भक्त—एक दफे दिनमें भोजन करना। सूर्योदय तथा अस्तके कालमें तीन घड़ी अर्थात् १ घण्टा १२ मिनिट छोड़कर शेष मध्यके कालमें एक, दो, या तीन मुहूर्तके भीतर मुनि एक दफे भोजन करते हैं। ये २८ मूलगुण १३ प्रकार चारित्रका विस्तार ही है। इनको साधुगण भले प्रकार पालते हुए आत्मध्यान व शास्त्र स्वाध्याय व धर्मोपदेशमें निरत रहते हैं। जिन प्रतिमाओंका दर्शन भी करते हैं क्योंकि ध्यानस्थ प्रतिमा दर्शन ध्यानमें सहायक है। वनमें ठहरनेके कारण यदि दर्शन न हुआ तो उनके गृहस्थकी तरह दर्शनका नियम नहीं होता है। वे अपने छः आवश्यक कर्म एकांतमें ही प्रातःकाल करलेते हैं। उनके भाव पूजाकी मुख्यता है। वे वनमें बैठे हुए ही सिद्ध पूजा पढ़के अपना ध्यान जमा लेते हैं। साधुओंके साधारण तया अभ्यास करते हुए वारम्वार प्रमत्त व अप्रमत्त गुणस्थान होता है। हरएक गुणस्थानका काल एक अंतर्मुहूर्त है, इससे कोई साधु एक अंतर्मुहूर्तसे अधिक प्रमादी या निद्रित नहीं रह सक्ता। मध्यमें आत्मध्यान अवश्य होजायगा। साधुगण प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तीन काल शक्तिके अनुसार छः घड़ी, ४ घड़ी या २ घड़ी ध्यान सहित सामायिक करते हैं। रात्रिको मौन रहते हुए एकांतवास करते हैं, उस समय भी ध्यान व शास्त्र विचार व शास्त्र पाठ किया करते हैं। एक मिनिट भी साधुगण वृथा नहीं खोते हैं। उपयोग लगानेको शास्त्र रचना करते, शास्त्रकी टीका करते, यदि गृहस्थोंका निमित्त मिल गया तो उनको धर्मोपदेश देते हैं। वे बड़े परोपकारी होते हैं। नीच व ऊँचका भेद न करके प्राणी मात्रको

सच्चा उपदेश देकर जैनधर्मकी श्रद्धामें लाते हैं। अपने भाषणोंसे धर्मकी सच्ची प्रभावना करते हैं। वे ग्रामके बाहर एक रात्रि व कोट सहित नगरके बाहर पांच रात्रिसे अधिक नहीं ठहरते हैं। चातुर्मासके सिवाय यत्रतत्र विहार करते हुए अनेक प्राणियोंको सुमार्गपर लगाते हैं। स्वपर हित करना ही साधुओंका ध्येय रहता है। साधुजन मान अपमानमें समानभाव रखते हैं। ख्याति लाभ पूजादिकी चाहना नहीं रखते हैं। ऐसे साधु निरन्तर धर्मध्यानका अभ्यास करते हैं क्योंकि छठे व सातवें गुणस्थानमें धर्मध्यान ही संभव है। धर्मध्यानके चार भेद हैं। (१) आज्ञा विचय। जिनेन्द्रके आगमके अनुकूल तत्त्वोंका विचार करना। (२) अपाय विचय-हमारे रागादि दोषोंका व अज्ञानका व कर्मोंका नाश कैसे हो व दूसरे प्राणियोंका दोष व कर्म मैल कैसे हटे ऐसा विचारना। (३) विपाक विचय-कर्मोंके शुभ व अशुभ फलका स्वरूप विचारना। कर्म सिद्धांतके अनुसार कर्मोंके बंध, उदय, सत्ता आदिका मनन करना। (४) संस्थान विचय-तीन लोकका आकार विचारना व अपने आत्माके स्वरूपका चिंतवन करना। इसी संस्थान विचय ध्यानके चार भेद और भी हैं। (१) पिंडस्थ ध्यान-शरीरमें स्थित अपने आत्माका ध्यान करना। इसके लिये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व तत्वरूपवती पांच धारणाओंका विचार करना। (२) पदस्थ ध्यान-णमोकार मंत्रका व अन्यमंत्रोंका व ॐका व अर्हका ध्यान करना। पदोंके द्वारा पदोंके वाचक पांच परमेष्ठीका ध्यान धरना। (३) रूपस्थ ध्यान-समवशरण स्थित तीर्थंकरके स्वरूपका ध्यान करना व किसी अर्हंत या सिद्ध प्रतिमाका ध्यान

करना, (४) रूपातीत ध्यान—एकदमसे सिद्ध परमात्माका व अपने आत्माका ध्यान करना। ध्यानका विशेष स्वरूप ज्ञानार्णव ग्रन्थसे जानना योग्य है। बारह तपोंका व उत्तमक्षमादि दशलक्षणी धर्मका अभ्यास करते हुए साधुको निश्चय सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिपर मुख्य लक्ष्य रखना चाहिये। व्यवहार चारित्रको तो मात्र परिणामोंकी निराकुलताके लिये बाहरी निमित्त कारण जानना चाहिये। निश्चय चारित्र आत्मस्थिरतारूप है। सो शुद्ध निश्चयनयपर लक्ष रखते हुए आत्माके स्वरूपके रमणका विशेष प्रेम रखना चाहिये। व तब ही संतोष मानना चाहिये, जब आत्मानुभव करके आत्मीक-रसका पान किया गया हो। साम्यभाव ही चारित्र है। निश्चय चारित्रके लिये ही मनको निराकुल रखनेके हेतु ही से व्यवहार चारित्रका आलम्बन साधुजन करते हैं। निराकुलतासे आत्मामें थिरता पानेके लिये व्यवहार चारित्रका संयम बहुत उपकारी है। समय-सार कलशमें कहा है—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां।
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः॥
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री—
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः॥ १२॥

भावार्थ—जो स्याद्वादके समझनेमें कुशल हैं व संयममें निश्चल हैं तथा जो प्रतिदिन उपयोग लगाकर अपने आत्माको ध्याता है वही एक ज्ञान नय और क्रियानय दोनोंमें परस्पर तीव्र मैत्रीका पात्र होता हुआ इस मोक्षमार्गकी भूमिका आश्रय करता है।

आत्मामें तल्लीनताको ही सामायिक चारित्र कहते हैं। सामायिकसे छूटकर फिर सामायिकमें जमना छेदोपस्थापना चारित्र

है। परिहारविशुद्धि चारित्र एक खास ऋद्धि है जो उस मुनिको प्राप्त होती है जो ३० वर्ष गृहस्थीमें सुखसे रहकर फिर दीक्षित हो और ८ वर्षतक तीर्थंकर भगवानकी संगति करे व प्रत्याख्यान पूर्व पढ़ा हो। इससे जीवहिंसामें विशेष प्रकारसे बचाव होता है। छठे सातवें गुणस्थानमें यह परिहारविशुद्धि चारित्र होता है। सामायिक व छेदोपस्थापना नौमें गुणस्थानतक होती हैं। १० वें गुणस्थानमें मात्र सूक्ष्मलोभका उदय रहनेसे चारित्र निर्मलताके निकट होता है। इसको सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। यथाख्यात चारित्र या पूर्ण वीतराग भाव सर्व कषायोंके उपशम या क्षयसे ११-१२-१३-१४ गुणस्थानोंमें होता है। इस पंचमकालमें सातमें गुणस्थानसे आगेके गुणस्थान नहीं होते हैं। क्योंकि उपशम श्रेणी चढ़ने लायक उत्तम संहनन व क्षपकश्रेणी चढ़ने लायक प्रथम संहनन इस पंचमकालके मानवोंमें नहीं होता है। जब कषाय सातवें गुणस्थानमें अति मन्द होजाती है तब साधु उपशमश्रेणी चढ़ने योग्य होता है। वेदक सम्यग्दृष्टि नहीं चढ़ सक्ता। वेदकसे यातो सातों प्रकृतियोंका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होगा या उपशमकर द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होगा तब ही श्रेणी चढ़ेगा। चारित्र मोहनीयकी २१ प्रकृतियोंके उपशम करनेका कार्य उपशम श्रेणीमें होता है। अधोकरण लब्धि तो सातवेमें ही होजाती है फिर अपूर्वकरण लब्धि अंतर्मुहूर्तके लिये होती है इसहीको अपूर्वकरण आठवां गुणस्थान कहते हैं। फिर अनिवृत्तिकरणलब्धि अन्तर्मुहूर्तके लिये होती है, इसहीको नौमा गुणस्थान कहते हैं। यहांतक सर्व कषाय उपशम होजाती हैं, मात्र सूक्ष्म लोभ रहजाता

है तब १०वां गुणस्थान अन्तर्मुहूर्तके लिये होता है जिसको सूक्ष्म लोभ कहते हैं, फिर सूक्ष्म लोभको भी उपशांत करके ११ वां गुणस्थान उपशांत मोह होता है। वहां अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं ठहर सक्ता है। फिर यदि मरजावे तो चौथे गुणस्थानमें आकर देव होता है नहीं तो जहांसे चढ़ा था वहीं तक अर्थात सातवें तक क्रमसे गिरता है, कषायका उदय हो जाता है। जो साधु तद्भव मोक्षगामी होता है वह क्षायिक सम्यक्ती होकर क्षपकश्रेणी अवश्य चढ़ेगा। वह भी इस ही तरह तीन करणलब्धिके द्वारा चारित्र मोहका क्षय करेगा। वह दसवेंमें मात्र सूक्ष्म लोभको बाकी रक्खेगा। उसका भी नाश कर वह १० वेंसे १२ वें क्षीणमोह गुणस्थानमें जायगा। वहां अंतर्मुहूर्त विश्राम करके द्वितीय शुक्लध्यानके बलसे तीन शेष घातीय कर्मोंको नाशकर अर्हंत केवली होकर १३ वें सयोग केवली गुणस्थानमें आयगा। यहां जीवन पर्यंत रहेगा, जब आयुमें इतना काल शेष रहे कि जितनी देर अ इ उ ऋ ऌ ये पांच अक्षर बोले जावे उतनी देरके लिये १४ वें अयोग केवली गुणस्थानमें ठहरकर चार अघातिय कर्मोंका क्षय करके सर्व कर्म व शरीरादिसे छूटकर परम शुद्ध होकर व सिद्ध परमात्मा नाम पाकर स्वभावसे ऊर्ध्व जाकर सिद्धक्षेत्रमें ठहर जाता है।

सकल चारित्रधारी साधु ही गुणस्थानोंमें उन्नति करके मोक्ष-पदवीको पाता है। आठवें गुणस्थानसे ग्यारहवें तक व बारहवें गुणस्थानके कुछ भागतक प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्क विचार रहता है। बारहवेंमें एकत्व वितर्क अविचार दूसरा

है। परिहारविशुद्धि चारित्र एक खास ऋद्धि है जो उस मुनिको प्राप्त होती है जो ३० वर्ष गृहस्थीमें सुखसे रहकर फिर दीक्षित हो और ८ वर्षतक तीर्थंकर भगवानकी संगति करे व प्रत्याख्यान पूर्व पढ़ा हो। इससे जीवहिंसामें विशेष प्रकारसे बचाव होता है। छठे सातवें गुणस्थानमें यह परिहारविशुद्धि चारित्र होता है। सामायिक व छेदोपस्थापना नोमें गुणस्थानतक होती हैं। १० वें गुणस्थानमें मात्र सूक्ष्मलोभका उदय रहनेसे चारित्र निर्मलताके निकट होता है। इसको सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। यथाख्यात चारित्र या पूर्ण वीतराग भाव सर्व कषायोंके उपशम या क्षयसे ११-१२-१३-१४ गुणस्थानोंमें होता है। इस पंचमकालमें सातमें गुणस्थानसे आगेके गुणस्थान नहीं होते हैं। क्योंकि उपशम श्रेणी चढ़ने लायक उत्तम संहनन व क्षपकश्रेणी चढ़ने लायक प्रथम संहनन इस पंचमकालके मानवोंमें नहीं होता है। जब कषाय सातवें गुणस्थानमें अति मन्द होजाती है तब साधु उपशमश्रेणी चढ़ने योग्य होता है। वेदक सम्यग्दृष्टि नहीं चढ़ सक्ता। वेदकसे यातो सातों प्रकृतियोंका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होगा या उपशमकर द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होगा तब ही श्रेणी चढ़ेगा। चारित्र मोहनीयकी २१ प्रकृतियोंके उपशम करनेका कार्य उपशम श्रेणीमें होता है। अधोकरण लब्धि तो सातवेमें ही होजाती है फिर अपूर्वकरण लब्धि अंतर्मुहूर्तके लिये होती है इसहीको अपूर्वकरण आठवां गुणस्थान कहते हैं। फिर अनिवृत्तिकरणलब्धि अन्तर्मुहूर्तके लिये होती है, इसहीको नौमा गुणस्थान कहते हैं। यहांतक सर्व कषाय उपशम होजाती हैं, मात्र सूक्ष्म लोभ रहजाता

आगेके बारहवें गुणस्थान तक होता है। मात्र उसमें वीतरागताका अँश कषायकी मन्दता होते२ बढ़ता जाता है। बारहवें तक श्रुतज्ञानके आश्रय स्वात्मानुभव है। १३ वें व चौदहवें गुणस्थानोंमें व सिद्ध परमेष्ठीके केवलज्ञानके आश्रय परम प्रत्यक्ष परम शुद्ध आत्मानुभव होता है जो सदा बना रहता है।

इस तरह सकल चारित्रकी क्या सहायता मोक्ष प्राप्तिमें है सो बताई गई है। यहां यह भलेप्रकार जान लेना चाहिये कि व्यवहार चारित्र शुभोपयोगरूप है, पुण्य बन्धका कारण है। इससे वास्तवमें त्यागने योग्य है, परन्तु निश्चय चारित्र शुद्धोपयोगरूप आत्मानुभवके लिये निमित्त कारण है इसलिये जैसे सीढीपर चढ़ते हुए भी चढ़नेवाला सीढीको योग्य समझता है, ऊपर पहुंचकर सीढीका कुछ प्रयोजन नहीं रहता है, इसी तरह साधु व्यवहार चारित्रको पालते हुए त्याग योग्य समझते हैं। जब इसके आलम्बनसे स्वस्वरूपमें रम जाते हैं तब व्यवहार चारित्रका भाव स्वयं नहीं रहता है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी साधु व्यवहार चारित्र पालते हुए भी ध्यान निश्चय चारित्रकी तरफ रखते हैं। जैसे पनिहारी पानीका घड़ा सिरपर रक्खे आरही है, मार्गमें दूसरी स्त्रियोंसे वात कर रही है परन्तु उसका ध्यान सिरके घड़ेपर है कि कहीं गिर न जावे। सम्यक्ती साधु भले प्रकार जानते हैं कि मोक्ष आत्माका स्वभाव है इसलिये उसका साधन भी निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मीक भाव शुद्ध आत्मा ही साधक है, आत्मा ही साध्य है। आत्मामें ही मोक्ष विचार आत्मामें ही मोक्षमार्ग है। ऐसे आत्मानुभवी साधु ही मोक्षके होते हैं।

विकल या देश चारित्र।

जो मानव सम्यग्दृष्टी प्रत्याख्यानावरण कषायके उपशम न होनेसे सकल चारित्रके पालनेके लिये असमर्थ हैं उनके लिये ही उचित है कि वे गृहस्थोंका एकदेश चारित्र पालकर अपनी योग्यता बढ़ावें और मुनिधर्म पालनेकी उत्कण्ठा रक्खें। जब अन्तरंग प्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम हो जावे तब साक्षात् मोक्षके कारण सकल चारित्रको धारण करें। देश चारित्र पांचमा गुणस्थान है। इसके ग्यारह भेद उत्तरोत्तर चढ़ते हुए किए गए हैं। उनको ग्यारह प्रतिमा या श्रेणी कहते हैं, इन श्रेणियोंके द्वारा जैसे २ बाहरी चारित्र बढ़ता जाता है वैसे अन्तरंग चारित्र भी बढता जाता है। इस समय तक जो श्रावकाचार प्राप्त हैं उनमें श्री समन्तभद्राचार्यकृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार द्वितीय शताब्दिका बहुत प्राचीन है उसमें विस्तारसे श्रावक धर्मका कथन है, यद्यपि ११ प्रतिमाओंके भेदोंका कथन श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीने भी अपने ग्रंथ द्वादश अनुप्रेक्षामें किया है। श्रावक धर्मका कथन भी परम्परासे चला आ रहा है। यहांपर मुख्यतासे रत्नकरण्डके व तत्वार्थ-सूत्रके आधारसे कथन किया जाता है। चारित्रका प्रारम्भ दर्शन प्रतिमासे होजाता है। उन प्रतिमाओंके नाम हैं—१ दर्शन, २ व्रत, ३ सामायिक, ४ प्रोषधोपवास, ५ सचित्तत्याग, ६ रात्रि भुक्ति त्याग, ७ ब्रह्मचर्य, ८ आरम्भ त्याग, ९ परिग्रह त्याग, १० अनुमति त्याग, ११ उद्दिष्ट त्याग।

दर्शन प्रतिमा—इस श्रेणीमें मुख्यता सम्यग्दर्शनके निर्दोष आचरण की है। इसलिये श्रावकको २५ दोषोंको बचाते हुए

अपना श्रद्धान निर्मल रखना चाहिये। २५दोषोंका कथन सम्यक्तके स्वरूपमें पहले अध्यायमें कहा जा चुका है। चारित्रमें यह व्रत-प्रतिमाके लिये तैयारी करता हुआ आठ मूल गुणोंको स्थूलपने पालता है। वे आठ मूल नीचे प्रकार हैं। आठ मूल गुण— इनको मूलगुण इसलिये कहते हैं कि इनके विना श्रावक श्रावक नाम नहीं पा सक्ता है। जैसे २८ मूलगुण पालना साधुके लिये आवश्यक है, उनके धारे विना साधु साधुनाम नहीं पा सक्ता है।

(१) मदिरा त्याग—मदिरा सड़ाकर बनती है उसमें वे गिनती त्रस जंतुओंकी भी हिंसा होती है। मदिरा ज्ञानको विकारी बनानेमें सहकारी कारण है। नशा चढ़नेसे मानव अयोग्य वर्तन करने लगजाता है। माता बहनका भी ध्यान नहीं रखता है। मुखसे अनुचित शब्द बकने लगजाता है। जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ खोता है। द्रव्यका भी नाश करता है। शरीरकी दशा भी बिगड़ जाती है। अतएव मदिरा पीनेका त्याग करना जरूरी है।

(२) मांस त्याग—मांस पशुहिंसाका कारण है। मांसाहारके लिये निरपराध बकरे आदि पशु मारे जाते हैं। यदि स्वयमेव मरे हुए प्राणीका भी मांस लिया जावे तो उस मांसकी डलीमें वेगिनती सन्मूर्छन त्रस जंतु उसी जातिके पैदा होते हैं जिसका वह कलेवर है। इसीलिये पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें ऐसा कहा है—

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥ ६६ ॥

आमास्वपि, पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥ ६८ ॥

भावार्थ—यद्यपि स्वयमेव मरे हुए भैंस वृषभ आदिका भी मांस होता है परन्तु वहां भी उस मांसके आश्रय पैदा होनेवाले सम्मूर्छन त्रस जंतुओंकी हिंसा होती है। कच्ची, पक्की, व पकती हुई मांसकी डलियोंमें निरन्तर इसी जातिके सम्मूर्छन त्रस जंतुओंकी उत्पत्ति होती है जिस जातिके पशुका वह मांस है। इसलिये जो कोई मांसकी कच्ची वा पक्की डलीको खाता है वा स्पर्श करता है वह दीर्घकालके एकत्रित करोडों जन्तुओंके पिंडकी हिंसा करता है। इसलिये हिंसाके कारण मांसको कभी नहीं खाना चाहिये। यह प्राकृतिक आहार नहीं है। मानवने अपनी बुरी आदत बना ली है। मांसके खानेसे परिणाममें क्रूरता आती है, दयाका अंश पशुओंपरसे बहुधा निकल जाता है, शरीरको भी लाभ नहीं होता है। इससे अनेक रोग पैदा होजाते हैं। मांसमें शक्तिवर्धक अंश भी बहुत कम है। यदि बादाममें ९१, चनेमें, गेहूंमें ८७, चावलमें ८६ व शुद्ध घीमें ८७ है तब मांसमें २८.२३ आदि है। श्रावकको तो मांसका त्याग आवश्यक है।

(३) मधुका त्याग—मधु मक्खियोंके द्वारा छत्तेमें एकत्र किया हुआ होता है। मधु भी श्रावकको नहीं खाना चाहिये। मधुके लिये छत्तेको तोड़ डाला जाता है। यदि छत्तेमें सुराख करके मधु एकत्र किया जावे तौभी उस गीले रसमें बेगिनती त्रस जंतु पैदा होते हैं व मरते हैं यही दोष मधुके खानेमें है। श्रावकको मधु कभी न खाना चाहिये।

(४) अहिंसा अणुव्रत—आरम्भी हिंसाका यहां त्याग न होकरके मात्र संकल्पी त्रस हिंसाका त्याग किया जाता है। हिंसा करनेके अभिप्रायसे द्वेंद्रियादि त्रस जन्तुओंकी हत्या करनेका त्याग संकल्पी हिंसाका त्याग है। यदि कोई कहे कि तुम्हें १०) देंगे तुम एक मक्खीको या चींटीको मार डालो तो वह कभी नहीं मारेगा। यद्यपि घरका आरम्भ करते हुए, नहाते धोते हुए, पानी बहाते हुए, बहुतसी चींटियोंका मर जाना सम्भव है। परन्तु इस हिंसाका इरादा या संकल्प नहीं है, वह गृहारम्भमें होती हुई हिंसा है, आरम्भी हिंसा है। धर्मके नामसे पशुओंकी बलि करना, शिकार खेलना, मांसाहारके लिये वध करना संकल्पी हिंसाके उदाहरण हैं। दयाभाव रखता हुआ यह श्रावक वर्तन करता है। वृथा आरम्भी हिंसा भी नहीं होने देता है। वृथा एकेंद्रियादि स्थावरका भी घात नहीं करता है। इस दयावानको जैसे अपने प्राण प्यारे हैं वैसे दूसरोंके प्राण प्यारे हैं। आरम्भी हिंसाके तीन भेद हैं—

(१) उद्यमी हिंसा—न्याय पूर्वक धन कमानेका उद्यम असि कर्म (शस्त्र चलाना या सिपाहीपना), मसिकर्म (लेखन,) कृषिकर्म, वाणिज्य कर्म, शिल्पकर्म, विद्या कर्म (नाचना, गाना, बजाना आदि) इन छः उद्योगों द्वारा किया जाता है। इनमें जो त्रस हिंसा व स्थावर हिंसा होजाती है वह आरम्भी हिंसामें गर्भित है।

(२) गृहारम्भी हिंसा—घरके भीतर बुहारी देने, चक्की पीसने, ऊखलीमें कूटने, पानी भरने, रसोई बनाने, कपड़ा धोने, व मकान बनाने, कूप खुदाने, बाग लगाने, आदि गृहस्थीके आवश्यक कामोंमें जो हिंसा होती है वह गृहारम्भी हिंसा है।

(३) विरोधी हिंसा-यदि कोई दुष्ट मानव या चोर लुटेरे जानमाल कुटुम्बको कष्ट पहुंचाते हों व कोई शत्रु देशके ऊपर आक्रमण करते हों और वे सब अन्य किसी उपायसे अपना दुष्ट कर्म न छोड़ें तब अपनी रक्षा करनेको इनका सामना करके इनको शस्त्रादिके बलसे हटाना, शस्त्र प्रयोग करना, इनमें जो हिंसा होती है इसको विरोधी हिंसा कहते हैं।

इस तीन प्रकारको आरम्भी हिंसाको यथाशक्ति यह श्रावक न होनेका उपाय रखता है। अपनी बुद्धि पूर्वक हिंसाके बचानेका उपाय करता है। निरुपाय होकर यदि करनी पड़े तो करता है। इस आरम्भ हिंसाका त्याग आठवीं आरम्भ त्याग प्रतिमामें नियम पूर्वक होजाता है।

(२) सत्य अणुव्रत-परको ठगनेके अभिप्रायसे ऐसा झूठ नहीं बोलता जिससे राज्य दण्ड व पंच दण्ड मिले, सत्य अणुव्रत है। जो चीज हो उसको ना न कहना, जो नहीं है उसको हां न कहना, है कुछ कहना कुछ ऐसा न कहना, गर्हित, कठोर, असभ्य, दुष्ट, परबाधाकारी वचन न बोलना सत्य अणुव्रत है। गृहस्थ उन वचनोंको नहीं छोड़ सक्ता जो गृहारम्भ, उद्यम व विरोधी हिंसाके लिये कहना पड़ें। जैसे-रसोई बनाओ, चूल्हा जलाओ, पानी भरो, पलंग बिछाओ, कपड़े धो, हल जोतो, माल गाड़ीपर भरो, चोरके मारनेको लाठी उठाओ, इन आवश्यक गृहस्थी सम्बन्धी पापरूप वचनोंके सिवाय और सब अप्रशस्त या असत्य वचन कषायके वश हो अणुव्रतीको नहीं बोलना चाहिये। यह श्रावक सत्य वचनको मानवका भूषण समझता है, असत्यको अविश्वासका कारण व दूषण

समझता है । सत्य बोलनेसे व सत्य व्यवहार करनेसे ही अहिंसा अणुव्रतका पालन होता है । इससे सत्य बोलनेके लिये पूरा २ उद्यम रखता है ।

(३) अचौर्य अणुव्रत–गिरी, पड़ी, भूली, रखी हुई दूसरोंके स्वामित्वकी वस्तुओंको नहीं लेता है । अपने हक्के द्रव्यको ही अपना समझता है। किसीको धमकाकर व विश्वासघात करके किसीका धन लेना हिंसाकारी पाप समझता है । जिन वस्तुओंके लिये सर्व साधारणसे व राज्यसे मनाई नहीं है उनको अणुव्रती ले सक्ता है, जैसे कूपजल, नदीजल, शौचके लिये मिट्टी, कोई जंगलका फल फूल, या जंगलकी लकड़ी या घास, जिस वस्तुके लेनेमें उसको कोई यह न कहे कि चोरी की उसे वह ले सक्ता है । चोरी करना वैसे ही बुरा समझता है जैसे किसीके प्राण लेना ।

(४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत–या स्वस्त्री संतोष। गृहस्थ श्रावक विवाह इसीलिये करता है कि पति व पत्नी दोनों संतोषित रहकर पति परस्त्री व पत्नी परपुरुषसे विरक्त रहे । चौथा अणुव्रती अपनी स्त्रीके सिवाय अन्य स्त्रियोंको माता बहिन पुत्रीके समान समझता है व स्त्री अपने विवाहित पतिके सिवाय अन्य पुरुषोंको पिता भाई व पुत्रके समान समझती है । वीर्यरक्षा मानवका धर्म है । वीर्य शरीरका राजा है । इसीसे शरीरके अंगोंमें पुष्टि रहती है । ज्ञानी मानव केवल संतानके लिये इसका उपयोग करते हैं । शेष रीतिमें दुरुपयोग न करके बलिष्ठ बने रहते हैं ।

(५) परिग्रह प्रमाण अणुव्रत- गृहस्थ जन्म पर्यंतके

लिये १० प्रकार परिग्रहका नियम कर लेता है, जिनके नाम पहिले परिग्रहत्याग महाव्रतमें कहे जाचुके हैं। जैसे मैं इतनी भूमि, इतने मकान, इतने रुपये, इतना सोना, इतना जवाहरात, इतना गोधन, इतना धान्य जैसे (एक मासके वर्तने लायक,) इतने कपड़े, इतने वर्तन रखता हूं व इतने दासी व दास नौकर रक्खूंगा। इनको तफसीलवार लिखले, फिर सबका मूल्य ठहराकर कुल जायदादका प्रमाण करले कि एक लाखकी व चार लाखकी व १ करोड़की व ५ हजारकी व जितनी इच्छा हो उतनी रखले। इस अणुव्रतको इच्छा परिणाम भी कहते हैं।

इस तरह दर्शन प्रतिमावाला स्थूलरूपसे इन आठ मूल-गुणोंको पालता है। इनके भीतर पांच अणुव्रतोंको पालनेके लिये हरएककी पांच २ भावनाएं जो पांच महाव्रतोंके कथनमें बताचुके हैं, उनको भाता रहता है व हरएकके पांच पांच अतीचार हैं जिनका वर्णन व्रत प्रतिमामें किया जायगा। उनके भी बचानेका यथाशक्ति उद्यम रखता है। जहांतक होता है शुद्ध भोजन करता है, पानी छानकर पीता है, रात्रि भोजनसे यथासंभव बचता है। कीट सहित फल नहीं खाता है। वह दर्शन प्रतिमाधारी अभक्ष्य तथा अन्यायसे बचनेका सदा उद्यम रखता है।

अन्य ग्रन्थकारके मतसे दर्शनप्रतिमाके पहले एक पाक्षिक श्रावकका पद माना गया है जिसको चौथे गुणस्थानमें ही रक्खा है। पाक्षिक श्रावककी ये क्रियाएं बताई हैं कि वह मद्य, मांस, मधु, व बड़ फल, पीपल फल, गूलर, पाकर व अंजीर फल न खावे व सात व्यसनोंसे बचे। जुआ न खेले, मांस न ले, मद्य न

ले, चोरी न करे, शिकार न खेले, वेश्या सेवन न करे, व परस्त्री सेवन न करे। व्यसन बुरी आदतको कहते हैं। इन सात बातोंकी बुरी टेवसे बचे, पानी छानकर पिये, रात्रिको पानी व औषधिके सिवाय और वस्तुओंको न लेवे। तथा छः कर्म नित्य करे। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप या सामायिक व दान। इन छः कर्मोका तो अभ्यास हरएक श्रावकको करना ही चाहिये। इसमें सर्व ही ग्रन्थकार एकमत हैं क्योंकि छहों कार्य सम्यग्दर्शनके पोषक तथा सम्यग्ज्ञान व चारित्रके वर्द्धक हैं।

दर्शनप्रतिमामें भरती होकर यह श्रावक जिन बातोंको पाक्षिक अवस्थामें छोड़ा था उनके अतीचारोंको भी बचावे। वे अतीचार इस प्रकार हैं—

(१) मद्यके दोष—कोई प्रकारका नशा न ले; भांग, चरस, गांजा, तम्बाकू आदि न पीवे न उन पदार्थोको खाए जो सड़ गए हों, बसा गए हों, जिनका स्वाद बिगड़ गया हो।

(२) मांसके अतीचार—भोजनपान मर्यादाके भीतरका करे। पानीकी मर्यादा दोहरे छन्नेसे छाननेके पीछे दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनटकी है। इस समयके बाद फिर छानना योग्य है। यदि छने हुए पानीमें लौंग कूटी हुई, नोन, मिर्च, खटाई, राख, चंदन, बूरा व अन्य नमकीन या कषायला व ऐसा पदार्थ डाल दिया जावे जिससे उस पानीका रंग बदल जावे, स्वाद बदल जावे, गंध बदल जावे, ऐसा प्रासुक पानी छः घंटे चल सक्ता है। यदि पानीको विना उबाल आए तक गर्म किया जावे तो वह १२ घंटेतक यदि उसे उबाल लिया जावे तो २४ घंटेतक वह पानी चल सक्ता

है। परन्तु इस ६, १२ व २४, घंटेकी मर्यादावाले पानीको उसी मर्यादाके भीतर वर्तलेना चाहिये या कहीं फेंक देना चाहिये, यथा संभव सूखी जगह पर डालना चाहिये। फिर वह छाननेसे भी कामका नहीं रहता है। भोजनकी मर्यादामें दाल, कढ़ी, भात आदिके बननेसे छः घंटेतक। सूखी रोटी, पूरी, तरकारीकी दिन-भरकी; सुहाल, मठरी, बरफी, पेड़ा, लड्डू आदि मिठाईकी जिसमें पानी डाला जाय और वह उसमें खुश्क होजावे व जल जावे २४ घंटेकी, जिसमें पानी न डाला जावे किन्तु घीसे बना ली जावे और उसमें अन्न पड़ा होतो उसकी मर्यादा आटेकी मर्यादाके समान है। पीसा हुआ आटा शरदीमें ७ दिन, गर्मीमें ५ दिन व वर्षातमें ३ दिन चलता है। बूरेकी मर्यादा जाड़ेमें १ मास, गर्मीमें १५ दिन व वर्षामें ७ दिन हैं; आचार, व मुरब्बा, अग्नि द्वारा बनाया जावे उसकी मर्यादा आठ पहरकी है। बड़ी, मंगौड़ी पापड़ जो उसी दिन सूख जावें तो आठ प्रहर या २४ घंटेतक वर्ते जा सकते हैं। दूधको दोहनेके पीछे ||| घण्टेके भीतर औटने रख दिया जावे या ||| घण्टेके भीतर छानकर पी लिया जावे। यह औंटा हुआ दूध २४ घण्टे काममें आसक्ता है। इसीका दही जमाया जावे, वह भी २४ घण्टे चलसक्ता है। माखन जो निकाला जाय उसका घी ||| घण्टेके भीतर निकाल लेना चाहिये। मक्खनको न खाकर घी खाया जाना चाहिये। घीकी मर्यादा वहांतक है जहांतक उसका स्वाद न बिगड़े। यह सब मर्यादा भारतवर्षकी ऋतुकी अपेक्षासे है। चमड़ेमें रक्खा घी, तेल, निमक, हींगको नहीं खाना चाहिये

(३) मधुके अतीचार—जितने जातिके फूल हैं उनको नहीं खाना चाहिये जैसे गोभी, कचनार आदि

(४) पांच उदम्बर फलके अतीचार—कोई फल विना तोड़े व विना देखे न खाना चाहिये ।

(५) जूएके अतीचार—विना रुपया पैसा बदे हुए भी झूठी हारजीत रूप चौपड़, सतरंज, गंजीफा आदि नहीं खेलना चाहिये ।

(६) चोरीके अतीचार—चोरीका माल नहीं खरीदना व चोरोंकी संगतिमें न बैठना चाहिये ।

(७) शिकारके अतीचार—मूर्ति व चित्र जो मानव या पशुओंके हों उनको क्रोधादि कषायके वश हो फाड़ना चीरना व भ्रष्ट नहीं करना चाहिये ।

(८) वेश्याके अतीचार—वेश्याका नाच गाना न सुनना न उनकी संगति रखना चाहिये ।

(९) परस्त्रीके अतीचार—व्यभिचारिणी परस्त्रीसे हास्यादि लेनदेन करना व किसी भी परस्त्रीसे बिलकुल एकांतमें बातचीत करना व उसके पास बैठना उठना ।

(१०) पानी छाननेके अतीचार—पानी छानकर उसकी जीवानी यत्नपूर्वक कूप या बावड़ीमें पहुँचाना जहांसे जल भरागया हो ।

(११) रात्रिभोजनके अतीचार—रात्रिको पानी न पीवे, दो घड़ी या दो मिनट दिन रहते हुए भोजन करले व ४८ मिनट दिन चढ़ेपर भोजन करे ।

(१२) व्रत प्रतिमा—दर्शन प्रतिमाके नियमोंको पालता हुआ जब भीतर कषाय मंद होजावे तब इस दूसरी व्रतप्रतिमाके नियमोंको धारण करे।

इस प्रतिमामें आकर पांच अणुव्रतोंको अतीचार टालके पाले व तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रतोंको पालता हुआ उनके अतीचारोंको टालनेका यथाशक्ति उद्यम करे। पांच अणुव्रतोंका स्वरूप जो पहिले कहा गया है, उनके पांच २ अतीचार नीचे प्रमाण हैं—

अहिंसा अणुव्रतके अतीचार—प्रमाद या कषायके वशीभूत होकर किसी मानव व पशुपक्षीको (१) १ वध अर्थात् लाठी, चाबुक बेत आदिसे पीटना (२) २ बंधन—बंधन या कैदमें या पींजरेमें डाल देना। ३ छेद—उसके अंग या उपांग छेद डालना, जैसे पशुओंकी गुप्त इंद्रियां छेद डाली जाती हैं।

(४) अतिभारारोपण—मानव या पशुओंपर मर्यादासे अधिक बोझा डाल देना।

(५) अन्नपान निरोध—अपने आधीन स्त्री, पुरुष, बच्चोंका व नौकर चाकरका या पशुओंका अन्न पान रोक देना, कमदेना, न देना या समयपर न देना, इन पांच दोषोंको बचाना उचित है। इसी प्रकारके और भी दोष हों जिनसे क्रूरता हो व दुष्टता हो व परपीड़ा हो उनको बचाना चाहिये।

दूसरोंको शिक्षा देनेके लिये व सुधारनेके हेतुसे मारना, पीटना या बंधनमें डालना व अन्य दंड देना अतीचार रूप नहीं होगा क्योंकि वहां हिंसक भाव नहीं है किंतु दया व उपकारका भाव है।

(२) सत्य अणुव्रतके अतीचार– (१) मिथ्योपदेश– जो क्रिया मोक्षमार्गकी साधक हैं व हितकारी हैं उनको औरका और दूसरोंको बता देना अथवा मिथ्या कहनेका व करनेका उपदेश देना (२) रहोभ्याख्यान–स्त्री पुरुष द्वारा एकांतमें की हुई चेष्टाको देखकर प्रकाश कर देना। जिसे वे प्रकाश कराना नहीं चाहते थे। (३) कूटलेख क्रिया–असत्य लेख लिखना व असत्य वही खाता लिखना। ठगनेके निमित्त ऐसा करलेना। (४) न्यासापहार–किसीने कुछ द्रव्य धरोहर रख दिया हो, भूलसे रखनेवाला कम मांगे तो उसको कहना कि तुम्हारा मांगना ठीक है ऐसा कहकर कम देदेना। (५) साकार मंत्र भेद– कुछ लोग परस्पर किसी सलाहको कर रहे हों उस सलाहको उन लोगोंके भौविकार मुखकी चेष्टा आदि आकारोंसे जानकर प्रकाश कर देना। सर्व अतीचारोंमें अभिप्राय प्रमाद या कषाय पुष्टिका है।

(३) अचौर्य अणुव्रतके अतीचार–(१) स्तेन प्रयोग- चोरी करनेकी दूसरेको प्रेरणा करना व उसको चोरीका उपाय बता देना व किसीने किसीको चोरीका उपाय बताया हो तो उसकी सराहना कर देना। (२) तदाहृतादान–चोरीसे लाए हुए मालको उचित दामके सिवाय कम दाममें लेलेना। (३) विरुद्ध राज्यातिक्रम–विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं विरुद्धराज्येऽतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः तत्र हि अल्पमूल्यलभ्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणि इति प्रयत्नः (सर्वार्थसिद्धि) जो राज्य विरुद्ध होजाय अर्थात् जहां प्रबंध बिगड़ जावे उस राज्यमें नीतिका उल्लंघन करके अल्प-

हार करना, अल्प मूल्यमें मिलनेवाली वस्तुओंको अधिक मूल्यमें वेचना, अधिक मूल्यकी वस्तुको बहुत अल्प मूल्यमें लेना।

(४) हीनाधिकमानोन्मान—बाट, तराजू, गज आदि देनेके कमती लेनेके बढ़ती रखना।

(५) प्रतिरूपक व्यवहार—बनावटी सिक्का चलाना या खरीमें खोटी वस्तु मिलाकर खरी कहके वेचना।

(४) ब्रह्मचर्य अणुव्रतके पांच अतीचार—(१) परविवाह करना—अपने कुटुम्बी पुत्र पुत्रियोंकी सगाईके सिवाय दूसरोंके लड़का लड़कियोंकी सगाई करना। (२) परिगृहीता इत्वरिका गमन—विवाही हुई व्यभिचारिणी स्त्रीके पास आना जाना—उससे सम्बन्ध रखना। (३) अपरिग्रहीता इत्वरिका गमन—विना विवाही वैश्या आदिके पास आना जाना लेन देन कौतूहल करना।

(४) अनङ्ग क्रीड़ा—कामके नियत अंगोंको छोड़कर अन्य अंगोंसे काम चेष्टा करनी। (५) कामतीव्राभिनिवेश—अपनी स्त्रीसे भी कामसेवनकी तीव्र लालसा रखनी।

(५) परिग्रहप्रमाण व्रतके पांच अतीचार—क्षेत्रवास्तु, हिरण्य सुवर्ण, धनधान्य, दासीदास, कुप्य भांड। इन पांच जोड़ोंमें हरएक जोड़ेमें दो वस्तुओंमेंसे एकके प्रमाणको बढ़ा लेना, दूसरेके प्रमाणको घटा देना, जैसे क्षेत्र १० वीघा था सो १२ वीघा कर लेना, ४ मकान थे, तीन रख लेना। व्रतप्रतिमाधारी इन पांच अणुव्रतोंको अतीचार रहित भले प्रकार पालता है—

इनही व्रतोंके मूल्यको बढ़ानेके लिये तीन गुणव्रत हैं।

(१) दिग्विरति—दश दिशाओंमें लौकिक कार्यके लिये

-व व्यापारादि करनेके लिये जहांतक काम पड़ता जाने जन्मपर्यंतके लिये मर्यादा बांध लेना दिग्विरति है। जैसे मैं पूर्वदिशामें बंगालतक जाऊँगा इत्यादि। जितनी मर्यादा रक्खी है उसके बाहर त्रस स्थावर हिंसाका बिलकुल त्याग होनेसे महाव्रतके समान व्रत होजाता है। जो कुछ पंच पाप प्रयोजन वश करेगा वह इसी मर्यादाके भीतर करेगा। इसके पांच अतीचार हैं सो बचाने चाहिये। (१) ऊर्ध्वातिक्रम-ऊपर जानेकी जो मर्यादा की हो उसको कभी लोभ या प्रमादसे उल्लंघन कर जाना। (२) अधोतिक्रम-नीचे जानेकी जो मर्यादा की हो उसको कभी लोभ या प्रमादसे उल्लंघन करजाना। (३) तिर्यगतिक्रम-आठ दिशाओंमें जो मर्यादा की हो उसको कभी लोभ या प्रमादसे उल्लंघन करजाना।

(४) क्षेत्रवृद्धि-किसी तरह व्यापारादि कामकी अधिकता जानकर क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना तथा दूसरी तरफ घटा देना।

(५) स्मृत्यन्तराधान-जो मर्यादा की हो उसको भूल जाना।

(२) देशविरति गुणव्रत-दिग्विरतिमें जो जन्म पर्यंत मर्यादा की हो उसमेंसे घटाकर प्रयोजन जितना जाने उतने क्षेत्रकी मर्यादा १ सप्ताह १ पक्ष १ मास व १ दिन आधे दिन कालके प्रमाणसे करलेना। जैसे आज मैं इस ग्रामसे बाहिर नहीं जाऊँगा, आज मैं इस घरके बाहर नहीं जाऊँगा। इससे अणुव्रतोंका मूल्य और भी बढ़ जाता है। उतने थोड़े ही क्षेत्रमें वह अपना प्रयोजन साधता है। इसके भी पांच अतीचार हैं (१) आनयन-जितनी मर्यादा की हो उसके बाहरसे कोई वस्तु मंगाना (२) प्रेष्य प्रयोग-मर्यादाके बाहर किसीको भेजना व वस्तु भेजना (३) शब्दानुपात-

मर्यादासे बाहर किसीसे बात कर लेना या शब्दसे मतलब बता देना (४) रूपानुपात–मर्यादासे बाहर अपना रूप या अंग दिखाकर या अंगुलीसे संकेत करना मतलब बता देना। (५) पुद्गलक्षेप–मर्यादाके बाहर कंकड़ पत्थर या पत्र आदि फेंककर मतलब बता देना। इन अतीचारोंसे संतोषकी विजय नहीं होती है। लोभको जीतनेके लिये ही देशव्रतकी मर्यादा की जाती है।

(३) अनर्थदण्डविरति गुणव्रत–मर्यादा किये हुए क्षेत्रके भीतर बेमतलब पापके कामोंको नहीं करना अनर्थदण्ड त्याग है। वे निष्प्रयोजन पापके काम पांच तरहके होते हैं। (१) अपध्यान–दूसरेका वध, बन्धन, हानि, लाभ, जय, पराजय, आदि विचारते रहना। कषाय तो बढ़े प्रयोजन कुछ सिद्ध न हो ऐसे वे मतलब विचार करना, जैसे उसका धन चलाजाय तो ठीक, उसका अपमान होजाय तो ठीक, उसका पुत्र न रहे तो ठीक, उसकी हिंसा होजाय तो ठीक। (२) पापोपदेश–प्राणीवधकारक आरम्भोंका उपदेश देना, जैसे तुम पशुओंको बेचाकरो, खेती करलो, मकान बनवालो–किसी खास व्यक्तिको बेमतलब आरम्भका उपदेश देना पापोपदेश है। (३) प्रमादचरित-प्रमाद या आलस्यसे व्यवहार करते हुए बेमतलब वृक्ष तोडना, पत्ते तोडना, भूमि कूटना, पानी ढुंधाना, आग जलाना, आदि। (४) हिंसाप्रदान–हिंसाकारी वस्तु, विष, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, लकड़ी आदि दूसरोंको मांगे देना, हमारे पास ये चीज हैं किसीके काम आवे तो ठीक है ऐसे नामवरीके लिये हिंसाकारी वस्तु देना बेमतलब पापमें प्रेरणा करना

है। (५) अशुभश्रुति या दुःश्रुति-शृंगाररस, हिंसामई, राग-द्वेष वर्धक कथाओंको, उपन्यासोंको सुनना, पढ़ना, रचना आदि। यह पांच तरहके अनर्थदंड त्यागने योग्य हैं। और भी इसी प्रकारके वेमतलबके पाप हों उनका त्याग करना चाहिये। इस व्रतके कारण अणुव्रतोंका मूल्य और भी बढ़ जाता है। इसके भी पांच अतीचार बचाने चाहिये। (१) कंदर्प-रागभावसे हास्य मिश्रित भंड असभ्य वचन कहना। (२) कौत्कुच्य-भंडवचनोंके साथ२ खोटी कायकी चेष्टा भी करना। (३) मौखर्य-धृष्टतासे बहुत बकवाद करना। (४) असमीक्ष्य अधिकरण-विना विचारे विना प्रयोजन काम करना (५) उपभोग परिभोगानर्थक्य-भोग व उपभोगके योग्य पदार्थोंका वृथा ही अधिक संग्रह करना।

व्रत प्रतिमा वाला इन तीन गुणव्रतोंको पालता है। अती-चारोंको बचानेकी पूर्ण चेष्टा करता है। इनके सिवाय चार शिक्षा-व्रत भी पालता है। ये चार शिक्षाव्रत अणुव्रतोंके रक्षक हैं तथा मुनिव्रतकी शिक्षा देनेवाले हैं। इसी लिये इनको शिक्षाव्रत कहते हैं।

(१) सामायिक शिक्षाव्रत-सर्वार्थसिद्धिमें कहा है "सम् एकीभावे वर्तते एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकं, समयः प्रयोजनम् अस्य इति वा विगृह्य सामायिकम्" अपने आत्मामें एकतारूप प्राप्त होजाना-रागद्वेषको छोड़ देना सो सामायिक है। इसकी विधि पहले अध्यायमें कही जाचुकी है। निराकुल स्थानमें बैठकर विधि सहित सामायिक करें। सामायिकका काल छः घड़ी प्रातःकाल, छः घड़ी मध्यह्नकाल, छः घड़ी सायं-काल है। एक घड़ी २४ मिनटकी होती है।

तीन घड़ी इधर व ३ घड़ी उधर इस तरह छः घड़ी लेना चाहिये। उत्तम सामायिक छः घड़ी है, मध्यम चार घड़ी व जघन्य २ घड़ी है। हरएक विधिमें आधा समय पहले व आधा समय पीछे लगाना चाहिये, बीचमें प्रातःकाल, मध्यह्नकाल व संध्याकाल आना चाहिये। कभी कोई कारण हो तो अंतर्मुहूर्त भी सामायिक की जासक्ती है। इस व्रत प्रतिमामें अभ्यास मात्र है। यह श्रावक इच्छानुसार तीन, दो या १ दफे सामायिक कर सक्ता है। इसके लिये समयका नियम नहीं है। जितना समय देसके उतना देवें, कभी कोई विशेष कारणसे सामायिक न कर सके तो इस शिक्षाव्रतमें बाधा न आवेगी। प्रमाद या आलस्य वश यह व्रती सामायिक नहीं छोड़ता है। जघन्य विधि यह भी है कि यदि दो घड़ी सामायिक करनी हो तो छः घड़ीके भीतर कभी भी कर लेवे। यह विशेष कारणकी अपेक्षासे है। वास्तवमें सामायिक ही परम कल्याणकारी है। इसीसे ध्यानका अभ्यास होता है। इसीसे भेद विज्ञानका प्रकाश होता है। इसीसे स्वात्मानुभवका लाभ होता है। सामायिकसे ही श्रावकके व्रतोंकी शोभा है। सामायिक ही मुनिव्रत पालनेकी योग्यता पैदा करती है। व्रती श्रावकको सामायिक करनेका बड़ा उत्साही होना चाहिये।

इसके भी पांच अतीचार हैं—(१) कायदुष्प्रणिधान—सामायिक करते हुए आसन निश्चल न रखके शरीरको आलस्यरूप चाहे जैसे रखना व शरीरसे कोई लौकिक काम कर लेना। (२) वाग्दुष्प्रणिधान—सामायिकके पाठ व जापके सिवाय दूसरोंसे बात करना व लौकिक चर्चा करनी। (३) मनोदुष्प्रणिधान—मनमें धर्मध्या-

नके सिवाय संसारिक बातोंका चिन्तवन करना । (४) अनादर—उत्साह विना जैसे तैसे सामायिक करना । (५) स्मृत्यनुपस्थान—चित्तकी एकाग्रता न रखते हुए पाठ आदि भूल जाना । इन पांच अतीचारोंको बचाते हुए सामायिक करनी चाहिये । व्रत प्रतिमा-वाला यथाशक्ति इन्हें बचाता है ।

२—प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत—प्रोषध पर्वको कहते हैं । एक महीनेमें दो अष्टमी व दो चौदस आती हैं, इन चारों दिनोंमें उप-वास करना प्रोषधोपवास है । संसारीक कामोंको छोड़कर चैत्याल-यमें, साधुनिवासमें या प्रोषधघरमें या अन्य एकांत स्थानमें धर्म-ध्यान करता हुआ, स्वाध्याय आदि करता हुआ उपवासके समयको बड़े आनन्दसे पूर्ण करे । जहां मन व इंद्रियोंको संकोच करके आत्महितमें लगाया जावे वही उपवास है । जहां चार कषाय, पांच इंद्रियके विषय तथा चार प्रकारका आहार छोड़ा जावे उसको उपवास कहते हैं । खाद्य—जिससे पेट भरे, स्वाद्य—इलायची, पान आदि, लेह्य—चाटनेकी वस्तु, पेय—पीनेकी वस्तु । ये चार तरहका आहार है । यदि मात्र पानी रक्खे तो उसको अनुपवास कहते हैं । यह उपवास दो प्रकारसे किया जाता है—एक प्रकार उत्तम उपवास यह है कि सप्तमीकी दोपहरसे लेकर नौमीकी दोपहरतक १६ पहरतक करे । आगे व पिछले दिन एकासन करे, बीचमें उपवास करे, मध्यम यह है कि सप्तमीकी संध्यासे नौमीके प्रातःकाल तक १२ प्रहर करे । जघन्य यह है कि आहार-पान तो १२ प्रहर छोड़े परन्तु आरम्भादि लौकिक काम मात्र ८ प्रहर अष्टमीकी दिनरातको छोड़े । दूसरा प्रकार यह है कि

उत्तम तो १६ पहर पहलेके समान है। मध्यम यह है कि १६ पहरके मध्यमें जलकी छुट्टी रक्खे। जघन्य यह है कि जलके सिवाय अष्टमी या चौदसको नीरस या सरस शक्तिके अनुसार एक दफे भोजन भी करे, परन्तु १६ पहर धर्मध्यानमें पूर्ण करे।

व्रत प्रतिमावाला मात्र अभ्यासी है। यह अपनी शक्तिके अनुसार करता है। वह १२ पहरका आहार पान त्याग करके बीचमें एकासन भी कर सक्ता है। कभी कोई शरीरकी अस्वच्छता आदि कारण हो तो नहीं भी करे। इस व्रतके भी पांच अतीचार हैं, जिनको यह व्रती यथाशक्ति बचाता है—(१) अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग—विना देखे व विना कोमल उपकरणसे झाड़े हुए भूमिपर मल मूत्रादि करना व अन्य वस्तु रखना, (२) अप्र० अप्रमा० आदान—विना देखे व विना झाड़े शास्त्र, पूजाके वर्तन, वस्त्र आदि उठाना, (३) अप्र० अप्रमा० संस्तरोपक्रमण—विना देखे व विना झाड़े भूमिपर चटाई या बिछौना बिछाना।

(४) अनादर—उत्साह विना उपवासको जैसेतैसे पूरा करना

(५) स्मृत्यनुपस्थान—उपवासके दिन धर्मकार्य भूल जाना। प्रमादमें समय बिताना।

(३) भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत—भोग और उपभोगका नियम कर लेना। जो वस्तु एक दफे काममें आती है फिर भोगी न जावे वह भोग है, जैसे भोजनपानी फूलकी माला आदि। जो बारबार भोगी जासके वह उपभोग है जैसे—कपड़ा, गहना, शय्या आसन, घर, सवारी, पालकी आदि। उनमेंसे जो पदार्थ बिलकुल छोड़ने लायक हैं, उनको तो जन्म पर्यंतके लिये यह त्याग देता

है। जैसे—मद्य, मांस व मधु। व जिनके खानेमें फल अल्प हो व हिंसा अनन्त एकेन्द्रिय जीवोंके करनी पड़े ऐसी अनन्तकाय सप्रतिष्ठित वनस्पतिका भी संहार न करे। सर्वार्थसिद्धिमें कहा है—" केतकीअर्जुनपुष्पादीनि, शृंगवेरमूलकादीनि, बहुजन्तु-योनिस्थानानि, अनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात् ॥" अर्थात् केतकी, अर्जुन, गोभी, कचनार आदि फलोंको, अदरक मूली आलू आदिको अनंतकाय होनेके कारण छोड़ दे जिनमें फल अल्प है व हिंसा बहुत है। जो पदार्थ अपने शरीरमें रोगकारक अनिष्ट हों उनका भी सेवन नहीं करे तथा जो देश व्यवहारके अयोग्य निंदाके कारण पदार्थ हों उन अनुपसेव्यको भी सेवन न करे। जैसे भारतवासी डबल रोटी बिस्कुट आदि खावें व मिट्टी, विष आदि खाना। जो भोग उपभोग करने योग्य हैं उनको नित्य सवेरे गिनती करके रख लेवे। १७ नियमोंको विचार लेवे (१) भोजन के दफे करूँगा। (२) दूध, दही, घी, मीठा, नोन, तेल, इन छः रसोंमेंसे किसको छोड़ा। (३) पानी भोजनके सिवाय कई दफे पीऊँगा। (४) कुंकुम तैलादि लगाऊँगा या नहीं, यदि लगाऊं तो कै दफे। (५) पुष्प सूँघूंगा या नहीं, सूंघूं तो कै दफे, (६) ताम्बूल खाऊंगा या नहीं, खाऊं तो कै दफे, (७) गाना—बजाना करूंगा व सुनूंगा या नहीं, यदि करूं या सुनूं तो कै दफे, (८) लौकिक नाच देखूँगा या नहीं, देखूं तो कै दफे, (९) ब्रह्मचर्य पालूँगा या नहीं, यदि स्वस्त्री भोग हो तो कै दफे, (१०) स्नान के दफे करूँगा, (११) वस्त्र कितने काममें लूंगा, (१२) आभूषण कितने पहनूँगा, (१३) बैठनेके आसन कौन २ रक्खे,

(१४) सोने व लेटनेके आसन कौन २ रक्खे, (१५) वाहन या सवारी कौन २ रक्खी व के दफे चढूंगा, (१६) तरकारी फल आदि कौन २ रक्खे, (१७) कुल खानपानकी वस्तु कितनी रक्खीं। इस नियममें बनी हुई वस्तु एक मानी जायगी। अलग २ जो वस्तु ली जायगी वह गिनी जायगी। इन १७ नियमोंको व्रत प्रतिमा-वाला नित्य विचार लेवे। जरूरतसे अधिक न रक्खे। इसके पांच अतीचार रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें इस तरहपर हैं-(१) विषयोंकी वारवार भावना करनी, (२) पहलेके भोगोंको वारवार स्मरण करना, (३) भोगोपभोगकी अति लालसा रखनी, (४) भोगोपभोगकी तृष्णाको बढ़ाते रहना, (५) भोगोपभोगकी मर्यादा न विचारके अति भोग लेना। सर्वार्थसिद्धिमें पांच अतीचार ये हैं:-इन पांच अतीचारोंमें तीन, सचित्त वस्तु त्यागकी अपेक्षासे हैं।

जैसे किसीने कई सचित्त हरी वस्तुओंका त्याग किया है तब (१) सचित्ताहार-भूलसे उस त्यागी हुई सचित्तको खा लेना। (२) सचित्त सम्बन्ध आहार-त्यागे हुए सचित्त पदार्थपर रक्खे हुए व उससे ढके हुए पदार्थको खाना (३) सचित्त संमिश्र आहार-सचित्तको अचित्तमें मिलाकर रखना। (४) अभिषव आहार-कामोद्दीपक मनको बिगाड़नेवाले पदार्थोंको खाना। (५) दुःपक्काहार-कम पके व अधिक पके हुए पदार्थको खाना।

भोग उपभोग गृहस्थको ऐसा करना चाहिये जिससे शरीरमें रोगादि न हों। शरीर धर्मध्यानके लिये सदा उत्साही व वीर्यवान बना रहे।

(४) अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत—जो संयमकी रक्षा करते हुए भ्रमण करते हैं व जिनको खास तिथिमें भोजन न करनेका नियम नहीं है उनको जैन साधु कहते हैं। उनको अपने लिये बने भोजनमेंसे विभाग करना अतिथि संविभाग है। साधुओंको चार प्रकार दान करना चाहिये। (१) भिक्षा या भोजन (२) शास्त्र पीछी या कमंडल (३) औषधि (४) आश्रय निवास। साधु उत्तम पात्र हैं। मध्यमपात्र पहली प्रतिमासे लेकर ११ प्रतिमातकके श्रावक हैं। जघन्यपात्र व्रत रहित सम्यग्दृष्टी हैं। इन तीनोंको यथायोग्य भक्ति करके दान देना योग्य है। व्रती श्रावक नित्य दान देकरके फिर भोजन करता है। यदि कोई पात्र न मिले तो करुणा बुद्धिसे किसी भी भूखेको खिलाकर जीमता है या उसके लिये पदार्थ अलग रख देता है। कमसेकम रोटी आधी रोटी व एक ग्रास भी अलग निकाले विना भोजन नहीं करता है। उस निकाले हुए पदार्थको किसी भूखे मानव या पशुको देदेता है।

मुनि आदिको दान देते हुए दातारको सात गुण रखने चाहिये। (१) दान देकर उससे इस लोकमें किसी फलकी इच्छा न करे। (२) दान देते हुए क्षमाभाव रक्खे। (३) कपटसे दान न दे। (४) इर्षासे दान न दे। (५) विषादसे दान न दे (६) हर्षित मनसे दान दे। (७) अहंकार छोड़कर दान दे तथा नौ प्रकारकी भक्तिसे मुनिको दान देना चाहिये। (१) संग्रह—पड़गाहना, यहां आहारपानी शुद्ध है, तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ तीन दफे कहना (२) (२) उच्चासन—उच्चस्थान। जब मुनि घरकी तरफ मुंडें तब आप आगे उनको ऊंचे स्थानपर विराजमान करे। (३) पादोदकम्—

उनके चरणोंको किसी पात्रमें धोवे-उनका चरणजल पवित्र होता है। (४) अर्चन-फिर उनकी आठ द्रव्योंसे पूजा करे, समय कम हो तो अर्घ चढ़ावे (५) प्रणाम-तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करे। (६) (७) (८) मन, वचन व कायको शुद्ध रखे (९) भोजन शुद्ध दे। मुनि व सचित्त त्यागी श्रावकोंको दान देते हुए नीचे लिखे अतिचारोंको बचावे। (१) सचित्त निक्षेप-सचित्त हरे पत्ते आदिपर पदार्थको रक्खे, ऐसा पदार्थ दान न दे। (२) सचित्त अपिधान-सचित्तसे ढके हुए पदार्थको दे। (३) पर व्यपदेश-दातारने पड़गाहा हो परन्तु दूसरेको दान देनेको कहकर आप कामको चला जावे, (४) मात्सर्य-दान देते हुए आदर भाव न रक्खे या ईर्षाभावसे देवे। (५) कालातिक्रम-कालका उल्लँघन करके देवे, देर लगा देवे, या पात्रको विठा रक्खे। व्रती श्रावक नित्य दान देनेमें बड़ी भक्ति रखता है। इसके सिवाय गृहस्थ श्रावक जो लक्ष्मी पैदा करता है उसका चौथाई भाग या छठा भाग या आठवां भाग या कमसेकम १० वां भाग दानके लिये अलग करता है, उस द्रव्यको धर्मकी उन्नतिमें या चार प्रकार दानमें लगाकर सफल करता है (१) आहार दान (२) औषधि दान (३) विद्यादान या शास्त्र दान (४) अभयदान या आश्रयदान। पात्र दान तो भक्तिपूर्वक धर्मके पात्रोंको देता है परन्तु करुणादान दया करके सर्व ही प्रकार मानव, पशु, पक्षी आदिको देता है। उनके कष्टोंको अपने ऊपर आया हुआ कष्ट समझलेता है। दानके लिये गृहस्थी सदा उत्साहवान् रहता है।

इस तरह बारह व्रतोंको जो पालता है वह व्रत प्रतिमाधारी

शिक्षाव्रत—जो संयमकी रक्षा
खास तिथिमें भोजन न
कहते हैं। उनको अपने
संविभाग है। साधु-
ऐसा या भोजन
निवास।

श्रावक है। भोजनकी शुद्धि या मर्यादाको
किया है उसको बराबर यहां पालता है। मां
हिंसाके कारणोंको बचाता है। यह बात स्मरण र
गृहस्थ श्रावक नित्य देवपूजादि छः कर्ममें सदा अनुरक्त
जैसे देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप या सामायिक
दान। देवपूजाको श्री समंतभद्राचार्यने दानके भीतर चौथे शिक्षाव्र-
तमें गर्भित किया है क्योंकि जिन आठ द्रव्योंका आलम्बन कर वह
अपने भावोंकी शुद्धिके लिये पूजन करता है उन द्रव्योंसे अपना
ममत्व छोड़ देता है फिर उनको अपने निजी काममें नहीं लेता
है। इसीलिये देव पूजाको दानमें गर्भित किया है। देव पूजाके लिये
समय लगाते हुए अपने लौकिक कामोंका लोभ भी त्यागना पडता
है इसलिये भी वह दानमें गर्भित है।

व्रती श्रावक मौन सहित संतोषसे भोजन करता है, मौन रहनेसे इन्द्रिय विजय होता है, संतोष होता है। इष्ट पदार्थ न होनेपर भी क्रोधको जीतना पड़ता है। मौन रखनेसे भोजनकी तरफ ध्यान रहेगा। जीवोंकी रक्षापर व शुद्धि अशुद्धिपर ख्याल रहेगा। भोजन शांतिसे चबाचबाकर किया जायगा। भोजनके समय मुखसे इशारेसे भी भोजन मांगना उचित नहीं है। यदि आप ही प्रबन्धक हो तो भी मौनसे भोजन करे। जो कुछ मिले उसमें अपने पुण्यका उदय समझे, बड़ा ही संतोष माने।

व्रती श्रावक अंतरायोंको टालकर भोजन करते हैं। सागारधर्मामृतमें आशाधरजीके अनुसार अंतराय नीचे प्रकार हैं। जिनके होनेपर भोजन उस समयका छोड़ देना चाहिये, नहीं करना चाहिये।

देखने और छूने दोनोंके अन्तराय ये हैं-(१) गीला चमड़ा, (२) गीली हड्डी, (३) मदिरा, (४) मांस, (५) लोहू, (६) पीप, (७) नसे आंतें वगैरह।

केवल छूनेके अन्तराय-देखनेके नहीं। (१) रजस्वला स्त्री, (२) सूखा चमड़ा, (३) सूखी हड्डी, (४) कुत्ता, बिल्ली, चाण्डालादि हिंसक मानव या पशु।

केवल सुननेके अन्तराय-(१) इसका मस्तक काट डालो ऐसे कठोर शब्द (२) हाय २ करके आर्त बढ़ानेवाला रुदन, (३) आपत्तियोंका सुनना जैसे शत्रुकी सेनाका आना, रोग फैलना, अग्नि लगना, मंदिरपर उपसर्ग, जहाज डूबना आदि।

केवल भोजन करनेके अन्तराय-(१) छोड़ा हुआ पदार्थ भूलसे खानेमें आजावे। (२) भोजनमें दो इंद्रियसे चौंद्रिय तक कई जंतु पड़ जावें व जीतेजी निकाले जासकें, (३) भोजनमें तीन चार मरे जंतु मिल जावें, (४) यह भोजन मांसके समान हैं, सांपके समान है ऐसी मनमें ग्लानि हो जावे और वह मिटे नहीं।

ज्ञानानंद निजरस निर्भर श्रावकाचारमें अन्तराय इस भांति कहे हैं—

१ मदिरा, २ मांस, ३ हाड़, ४ काचाचर्म, ५ चार अंगुल लोहूकी धारा, ६ बड़ा पंचेंद्रिय मरा जानवर, ७ विष्टा, मूत्र ८ चूहड़ा (चांडालादि) इन आठोंको देखनेका अन्तराय है। १ सूखा-चर्म, २ नख, ३ केश, ४ खून, ५ पांख, ६ असंयमी स्त्री या पुरुष, ७ बड़ा पंचेंद्रिय तिर्यंच, ८ रजस्वला स्त्री, ९ मुरदा, इनका स्पर्श होजावे। १-आखड़ीका भंग हो, २-मलमूत्रकी शंका हो,

३—थालीमें कोई त्रस मृतक जीव निकले, ४—बाल थालीमें निकले, ५—हाथादिसे इंद्रियादिका मरण होजावे। भोजनके समय मरणके रोनेका शब्द, आग लगी है, नगरमें मारपीटका, धर्मात्मापर उपसर्गका, किसीके मरनेका, किसीके नाक कान छेदनेका, किसीके लुटनेका, चण्डालके बोलनेका शब्द, जिनबिम्ब व जिनध्वनिके अविनयका, इत्यादि वचन सुनकर भोजन छोड़ देवे। भोजन करते समय यह शँका उपजे कि यह वस्तु मांस व लोहूके समान है या हाड़ चामके समान है या भिष्टा या शहतके समान है ऐसी ग्लानि आजावे और न मिटे तो अन्तराय हो। इस तरह अन्तरायोंको टालकर व्रती श्रावक भोजन करते हैं।

व्रतप्रतिमावाला मोक्षमार्गका अत्यन्त उत्साही है, बड़ा ही संतोषी है। मन व इंद्रियोंका विजयी है। इसलिये अपना खान-पान व्यवहार इस तरह रखता है जिससे १२ व्रतोंके पालनमें बाधा नहीं आवे। तथा यह १३ वां व्रत सल्लेखनाकी भी भावना रखता है कि मेरा मरण समाधि सहित हो। मैं धर्मध्यानमें लीन हुआ प्राण छोडूं। जब कोई अकस्मात कारण आन पड़े व अपनी आयु अल्प जान पड़े तब सर्व परिग्रहको त्याग मामूली वस्त्र बिछौना रखकर धीरे२ आहारको घटाना सो काय सल्लेखना है व सर्वसे क्षमा कराकर एक धर्मसे प्रेम करते हुए कषायको घटाना सो कषाय सल्लेखना है, इस तरह शांतभाव सहित प्राण छोड़ना सो समाधि-[मर]ण है। सुगतिका कारण है। समाधिमरण करनेके लिये चार [ध]र्मात्माओंसे धर्म मित्रता रखनी चाहिये कि ये ऐसे समयपर धर्मध्यान होनेमें मदद देवें व कुटुम्ब द्वारा आर्तध्यान न होने देवें।

इस सल्लेखनाके भी पांच अतीचारोंको बचाना चाहिये-(१) जीवित आशंसा-अधिक जीते रहनेकी इच्छा, (२) मरणाशंसा-जल्दी मर जानेकी इच्छा, (३) मित्रानुराग-पहलेके मित्रोंसे जो क्रीड़ा आदि व लौकिक व्यवहार किया हो उसको स्मरण करना, (४) सुखानुबन्ध-पहलें भोगे हुए सुखोंको याद करना, (५) निदान-आगे भोगोंको पानेकी इच्छा करना। इन पांच दोषोंको टालकर निर्दोष समाधिमरण करना उचित है। यह श्रावकका १३वां व्रत है।

इस तरह व्रत प्रतिमामें बाहरी चारित्रकी सहायतासे अंतरंग भावोंकी निर्मलता रखते हुए व सन्तोषसे रहते हुए मुख्य अंतरंग चारित्र जो स्वात्मानुभव या स्वरूपाचरण है उसका अभ्यास करना चाहिये। अंतरंग चारित्रके विना व्यवहार चारित्र मात्र चावल विना भूसीके समान है। आत्माकी उन्नतिका साधन तो आत्म-ध्यान ही है। बाहरी व्रत नियमकी मर्यादा इसीलिये होती है कि चित्तमें आकुलता घटे व चिन्ताएँ कम हों। जितनी लौकिक चिंताएँ कम होंगी उतना ध्यानमें बाधकपना मिटेगा। जब कोई तत्त्व चिन्तवन या ध्यान करने बैठता है तो बहुधा वे ही बातें सामने आजाती हैं जो व्यवहारमें आचुकी हैं व आगे व्यवहारमें लानी हैं। व्रती सुमार्ग गामी है, सर्व जीवोंपर दयालु है, किसीका बुरा करना नहीं चाहता है, सदा धर्मकी प्रभावना चाहता है, जगतके साथ परम नीतिसे वर्तता है। इससे उसके ध्यानमें यदि विचार आवेंगे भी तो शुभ विचार अधिक आएंगे। वह आर्त व रौद्रध्या-नसे बहुत अंशमें बच सकेगा। ऐसा व्रत प्रतिमाका स्वरूप संक्षे-पसे जानना योग्य है।

तीसरी सामायिक प्रतिमाका स्वरूप-इस श्रेणीको धारण करते हुए श्रावकके लिये यह दृढ़ नियम होजायगा कि वह प्रतिदिन तीनों संध्याओंमें अवश्य सामायिक करें, विधि सहित बड़े उत्साहसे करे। अर्थात् हरसमय कमसेकम दो घड़ी या ४८ मिनिट तो अवश्य करे। यदि कोई विशेष कारण होजावे तो अंतर्मुहूर्त भी सामायिक कर सक्ता है। सामायिकके पांचों अतीचारोंको बचाकर बड़े ही शांतभावसे सामायिक करे। सामायिकको ही मोक्षमार्ग जाने। यदि कदाचित् बीमार होजावे तो भी यथाशक्ति बैठे १ लेटे २ सामायिक करे। सामायिकके कालको अपने जीवनका एक अपूर्व अवसर समझे। करोड़ों काम छोड़कर समयपर सामायिक अवश्य करे। इस प्रतिमाका नियम लेता हुआ वह अपना सर्व सुभीता देख लेता है कि वह स्वाधीनतासे तीनों समय सामायिकके लिये काल निकाल सकेगा या नहीं। निराकुलताके बढानेके लिये ही बड़ीही निराकुलतासे सामायिक करता है-पहलेके नियमोंको भलेप्रकार पालता रहता है।

४-प्रोषधोपवास प्रतिमा-इस चौथी श्रेणीको तीसरी प्रतिमावाला तब ही धारण करता है जब वह देखता है कि प्रत्येक अष्टमी व चौदसको मासमें चार दफे अवश्य उत्तम, मध्यम या जघन्य उपवास कर सकेगा। दुसरी प्रतिमावालेके पक्का नियम नहीं है, कभी नहीं भी करे अथवा विधिमें कमती भी करे। परन्तु चौथी प्रतिमावाला विधि सहित शक्तिको न छिपाकर शक्तिके अनुसार बड़े आनन्द व उत्साहके साथ उपवास करेगा व अपना समय सामायिक, ध्यान, स्वाध्याय व प्रासुक द्रव्योंसे जिन पुजन आदिमें

बिताएगा। प्रमादमें व लौकिक कामोंमें अपने समयको नहीं खरचेगा। पांचों अतीचारोंको भी बचाएगा। जितना एकांत स्थान प्राप्त होसकेगा वहां प्रोषधका काल पूरा करेगा। विषयोंके विचारसे व क्रोधादि कषायसे बचेगा, समताभावमें रमण करेगा। आरम्भसे छुट्टी पाकर खूब दिल लगाकर धर्मकी कमाई करेगा। अपने आत्माको शुद्ध करेगा, कर्मकी निर्जरा करेगा।

५-सचित्त त्याग प्रतिमा-इस श्रेणीका धारी श्रावक एकेंद्रिय जीव सहित सचित्त पदार्थको नहीं खाता है, किसी वृक्षके मूलको, फलको, शाकको, शाखाको, गांठको, कन्दको, फलको, व बीजको मुँहमें नहीं देता है, कच्चा पानी नहीं पीता है। यह श्रावक अति दयावान होता है। जिन वस्तुओंको दूसरी प्रतिमामें त्यागकर चुका है उनको जिह्वा इंद्रियकी लोलुपतासे प्रासुक करके भी नहीं खाता है। जैसे अनंतकाय साधारण वनस्पतिको अर्थात् फूलोंको व आलू घुइयां अदरक आदिको त्याग कर चुका है। इससे वह राग वश इनको अचित्त नहीं करेगा। इसको सचित्तको अचित्त करनेका अभी त्याग नहीं है। यह त्याग आरम्भ प्रतिमा आठमीमें होजायगा। अभी यह पानीको छानके कच्चेको प्राशुक या गर्म करके पीसक्ता है। भोगोपभोग परिमाणमें गिनतीमें रक्खे हुए फलोंको अचित्त करके खासक्ता है। फलोंका पका गूदा अचित्त होता है। उनका बीज सचित्त होता है। ककड़ी, परवल आदि सागोंको रांधकर खासक्ता है। सचित्त प्रतिमावाला इस नीचेकी गाथाके अनुसार पदार्थको प्रासुक करके खासक्ता है—

तत्तं पक्कं सुक्कं अंबलिलवणेहिं मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेणय छिण्णं तं सव्वं पासुयं भणियं॥

भावार्थ–जो वस्तु गर्म की गई हो या पकाई गई हो, खुद पकी हो या सूखी हुई हो या कषायला पदार्थ या लवणादिसे मिलाई गई हो या यंत्रसे छिन्नभिन्न की गई हो सो सब प्राशुक या एकेंद्रिय जंतु रहित होजाती है। क्योंकि यह दयावान है इसलिये प्रयोजनसे अधिक साग व फलोंका उपयोग नहीं करता है। यह एकेंद्रियकी हिंसाको भी त्यागने योग्य समझता है। इसके अभी सचित्तके व्यवहारका त्याग नहीं है। यह कच्चे छने पानीसे स्नान कर सक्ता है। क्योंकि यह अभी आरम्भके करने व करानेका व अनुमोदनाका त्यागी नहीं है इसलिये जिन सचित्तोंको अचित्त करके खानेका इसके नियम है उन हीको खायगा। दूसरोंके द्वारा अचित्त किये हुए उन साग व फलोंको नहीं खायगा जिनकी गिनती उसने अपने नियममें नहीं की है, ऐसा भाव हमको झलकता है। जैसे इसे स्वयं सचित्त खानेपीनेका त्याग है वैसे यह दूसरेको भी सचित्त भोजन पान न देगा। यदि देना हो तो प्रासुक या अचित्त ही भोजन पान देगा। इस श्रेणीमें स्वच्छन्दतासे वनस्पतिके छेदनका व खानेका विरोध होजाता है। कुछ जिव्हा इंद्रियकी विजयका भी अभ्यास होता है। एकेंद्रियोंकी दया भी विशेष पलती है। यह यथाशक्ति अल्प सचित्तको अचित्त करके व्यवहार करनेकी सम्हाल रखता है।

(६) छठी रात्रिभुक्त त्याग प्रतिमा–इस श्रेणीमें श्रावकके लिये यह पक्का नियम होजाता है कि वह रात्रिको खाद्य, स्वाद्य, लेह्य,

पेय चारों ही प्रकारके आहारको न करें। दो घड़ी दिन रहते हुए खाले व दो घड़ी दिन चढ़नेपर फिर खानपान करे। यद्यपि रात्रि भोजनके त्यागका कार्य पहली दूसरी प्रतिमामें ही करना उचित था। तथापि कोई मानव अपनी किसी कामकाजकी लाचारीके कारण यदि छठी प्रतिमा धारण करनेके पहले तक रात्रि भोजनसे नहीं बच सके व कम त्याग कर सके तो उसके अन्य व्रतोंके पालनेमें व पांचमी प्रतिमा तक चढ़नेमें कोई बाधा न होगी। वह दयावान चेष्टा तो करेगा कि पहली या दूसरी प्रतिमामें ही रात्रिको जल भी न लेवे। परन्तु देश कालकी लाचारीके कारण यदि सर्वथा छोड़ न सके तो उसको छठी श्रेणीमें तो बिलकुल त्यागना होगा। यहांपर जैसे उसे स्वयं रात्रिभोजन पान करनेका त्याग होगा वैसे वह दूसरोंको भी रात्रिको भोजन पान न कराएगा न करनेवालोंकी अनुमोदना करेगा। पांचमी प्रतिमा तक यदि वह स्वयं रात्रिको नहीं खाता पीता था तौभी वह दूसरोंको खिला देता था। यहां वह इस बातसे निश्चिन्त होगया है। इस प्रतिमाका धारी रात्रिको भोजन संबंधी आरम्भ करना, पीसना, सामान एकत्र करना आदि नहीं करेगा। भोजनके विकल्पोंसे ही छूट जायगा। घरमें रहते हुए वह कुटुम्बसे कह देगा कि मैं रात्रिको भोजन संबंधी सर्व चर्चाको छोड़ चुका हूं इससे कोई मुझे इस संबंधमें न पुछे।

७–ब्रह्मचर्य प्रतिमा–सातमी श्रेणीको धारण करते हुए श्रावक अपनी स्त्रीका भी राग छोड़ देगा, काम भावसे विरक्त हो जायगा। मन, वचन, काय व कृतकारित अनुमोदनासे शीलव्रत पालेगा। यह परम वैरागी होजाता है। सर्व स्त्री मात्रसे समता-

धारण कर लेता है। यह ब्रह्मचारी कामकी इन १० चेष्टाओंसे बचता है (१) शरीरका श्रृंगार, (२) श्रृंगार रसकी कथा करना, (३) हास्य क्रीड़ा करना, (४) स्त्रीकी संगतिकी इच्छा (५) विषय सेवनका संकल्प, (६) स्त्रीकी देह देखना, (७) शरीरको आभूषणोंसे सजाना, (८) स्नेह बढ़ानेको परको प्रिय वस्तु देना, (९) पूर्व भोगोंका स्मरण करना (१०) मनमें मैथुनकी चिंता करना। कामभाव १० प्रकारका होता है उनसे बचता है, जैसे (१) स्त्रीकी चिंता, (२) उसको देखनेकी इच्छा, (३) दीर्घ श्वास लेना, (४) शरीरमें पीड़ा, (५) शरीरमें जलन, (६) मंदाग्नि-भोजन न रुचना, (७) मूर्च्छा, (८) बावला होना, (९) प्राण सँदेह, (१०) वीर्य छूट जाना।

शीलव्रतकी रक्षार्थ ९ वाड़ोंको बचाता है—१ स्त्रियोंके स्थानोंमें रहना, २ रुचि व प्रेमसे स्त्रियोंको देखना, ३ मीठे वचनोंसे उनसे भाषण करना, ४ पूर्व भोगोंको याद करना, ५ गरिष्ट भोजन पेट भरके खाना, ६ शरीरका श्रृंगार करना ७ स्त्रीकी खाटपर या उसके आसनपर सोना बैठना, ८—काम कथाएँ करना, ९—पेट भरके भोजन करना। ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी अपना भेष बहुत सादा रखता है। उदासीनता झलके ऐसे कपड़े पहनता है। गृहस्थीके योग्य वस्त्रोंको उतार देता है। जैसे पगड़ी, टोपी, कोट, कुरता आदि—मिरजई चद्दर व मुरेठा रखता है। वस्त्र मोटे पहनता है। सफेद भी पहन सक्ता है व लाल भी पहन सक्ता है। सर्व आभूषण त्यागता है। रागी पुरुषोंकी संगति नहीं करता है। यदि घरमें रहता है तो अलग स्थानपर सोता—बैठता है। यदि देशाटन

करता है तौभी एकान्त स्थानोंमें ठहरता है, जहां शीलकी रक्षा होसके। अध्यात्मीक व वैराग्य पूर्ण ग्रन्थोंकी स्वाध्याय विशेष करता है। यह पान नहीं खाता है। स्नानका भी नित्य नियम नहीं है। पूजनके लिये तो स्नान करता ही है।

८–आरम्भ त्याग प्रतिमा–सातमी प्रतिमातक तो आजीविकाका साधन व घरका आरम्भ आदि किया जासक्ता है। आठमी प्रतिमाको वही धारण करता है जो आरंभी हिंसाको भी त्याग देता है। जो सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भ नहीं करता है। न गृहका रोटी पान आदिका आरम्भ करता है। त्रस व स्थावरोंके घात होनेवाले सर्वारम्भसे यह विरक्त होजाता है। जब श्रावकोंका ऐसा समागम देखता है कि वे इसकी आवश्यक्ताको पूरी करेंगे या घरवालोंसे ऐसी आशा रखता है कि वे शारीरिक जरूरतोंको स्वयं पूरी करेंगे तब ही श्रावक आरम्भ त्यागका नियम लेता है। अभी इसको परिग्रहका त्याग नहीं है। यह अपने घर ही में एकांतमें धर्मध्यान करता हुआ रहसक्ता है। जब घरवाले बुलावें तब भोजन कर आ सक्ता है या वे ही प्रासुक पानी इसको शौचादिके लिये देते हैं। या अन्य श्रावक निमंत्रण दे तो यह भोजन कर लेता है। यह भोजन कहके कराता नहीं है मात्र अपनी त्याग की हुई वस्तुको बतादेता है। यह अभी परिग्रहधारी है इससे दानमें धन देसक्ता है, मंदिरजीमें सामग्री लेजाकर पूजन अभिषेक कर सक्ता है। क्योंकि आठमी प्रतिमावाला आरम्भी हिंसाका त्यागी है इसलिये वह वाहनादि किसी सवारीपर नहीं चढ़ता है, पैदल ही गमन करता है। इसको यह विचार है कि

उसके शरीर द्वारा प्राणियोंकी हिंसा न होजावे। यह अत्यन्त दयावान होता है। यह उद्योगी, गृहारंभी, व विरोधी हिंसासे भी विरक्त होजाता है। पुत्रादिको लौकिक कार्योंमें यदि वे सलाह पूछे तो सलाह देसक्ता है। उनको किसी कार्यके करनेकी प्रेरणा नहीं करता है, मात्र लाभ व हानि बता देता है।

परिग्रह त्याग प्रतिमा—जब भीतरसे धनादिसे व कुटुम्बादिसे बिलकुल ममता हट जाती है तब यह नौमी प्रतिमा धारण की जाती है। इस श्रेणीका धारी श्रावक भूमि मकानादि १० प्रकारके सर्व परिग्रहको छोड़ देता है। जिसको देना हो देदेता है, जो दान करना हो उसे कर देता है। मात्र कुछ ओढ़ने पहननेके मामूली वस्त्र रख लेता है ताकि पानी पीनेमें व शौच जानेमें सुगमता पड़े। यह अब अपने घरमें नहीं रहता है। धर्मशाला, नसियाँ व अन्य एकांत स्थानमें रहता है। मेरा कुछ भी है इस ममता भावका त्यागी होजाता है। यहांतकके श्रावक पहलेसे निमंत्रण मानके भोजन करने जा सक्ते हैं। यह धर्मध्यानमें बहुत आसक्त होजाता है व भावना भाता है कि कब मैं शीघ्र ११ वीं श्रेणीपर चढ़ जाऊं।

१०—अनुमति त्याग प्रतिमा—जो आरम्भमें परिग्रहमें व इस लोकसंबंधी कार्योंमें सम्मति न देवे वह १० वीं प्रतिमावाला अनुमति त्यागी है। नौमी प्रतिमातक यदि कोई लौकिक कार्योंमें सम्मति पूछता था तो उसके गुण दोष बता देता था, प्रेरणा नहीं करता था। अब वह इस सलाह देनेके कार्यको भी छोड़ देता है। धर्मकार्योंकी मात्र सलाह देता है। यह श्रावक बहुत ही विरक्त

होता है। पहलेसे निमंत्रण नहीं मानता है। चैत्यालयमें स्वाध्याय करता रहता है। भोजनके समय जो संकेत करे उसके साथ जाकर शुद्ध भोजन जीम आता है। पहलेसे निमंत्रण माननेसे उसकी अनुमतिसे भोजन बननेका दोष आता है। भोजनके समय जानेसे उसकी अनुमति कुछ भी नहीं होती है।

११-उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा-जो श्रावक अपने निमित्त किया हुआ, कराया हुआ व अपनी सलाहसे या रुचिसे किया हुआ भोजन नहीं ग्रहण करता है, वह उद्दिष्ट आहार त्यागी श्रावक है। "पात्रं निर्मीयतं उद्दिष्टः स च असौ आहारः उद्दिष्टाहारः" स्वा० का० सं० टीका) किसी पात्रके लिये भोजन बनाना है इस उद्देश्यसे बनाया हुआ भोजन उद्दिष्टाहार है। यह श्रावक मुनिके पास जाके मुनिकी संगतिमें रहता है व उनके द्वारा अपने व्रतोंको धारण करता है। यह वही भोजन लेता है जिसे गृहस्थने कुटुम्बके लिये बनाया हो।

इस ११ वीं प्रतिमाधारीके दो भेद हैं-(१) क्षुल्लक (२) ऐलक। क्षुल्लक एक कोपीन व एक खंड वस्त्र रक्खे जिससे पूरा शरीर न ढके। यदि मस्तक खुला रहे तो पग ढके रहें, पग ढके रहें तो मस्तक खुला रहे। यह नियम इसीलिये किया जाता है कि क्षुल्लकको आगे मुनि होना है इसलिये उसके अंगोंको शीत, उष्ण, डांस, मच्छरकी बाधा सहनेकी आदत होजावे। क्षुल्लक मोरपिच्छिका जीवदयाके लिये व पीतल आदि धातुका कमंडल शौचके लिये रक्खे। चार पर्वोमें उपवास आदि पहलेके नियमोंको पाले। गृहस्थीके घर उसके आंगन तक जावे और खड़ा होकर

धर्मलाभ कहें, मौनसे अपना अंग दिखावें। यदि वे पड़गाह लें तो ठीक नहीं तो लाभ व अलाभमें समभाव रखता हुआ दूसरे घरमें जावे। अपने पास पानी पात्रके सिवाय एक भोजन लेनेका भी पात्र रखता है। उसमें जो भोजन कोई श्रावक दान करदे उसे ले दूसरे घरमें जावे। जहांतक उदरपूर्ति होनेतक न मिले वहांतक ७ घरोंमें जावे, अंतके घरमें प्राशुक जल लेकर संतोषसे भोजन कर लेवे और भिक्षाके पात्रको आप ही धो लेवे, मद नहीं करे। जिस क्षुल्लकको एक ही घरमें भिक्षा लेनेका नियम हो वह एक ही घरमें थालीमें जीम लेवे। या हाथमें रखवाकर भी जीम सक्ता है। क्षुल्लक अपने केशोंको कतरनी वा क्षुरेसे साफ करा सक्ता है।

ऐलक मात्र एक लंगोट ही रखते हैं, खण्ड वस्त्र छोड़ देते हैं और सब क्रिया पहलेकी तरह करते हैं। यह मुनिवत् अपने केशोंका लोंच करते हैं। यह काठका कमंडल व पीछी रक्खें। भिक्षवृत्तिसे श्रावकके यहां बैठकर अपने हाथमें ही भोजन करे। ऐलक किसी घरमें जावे तब वहां कायोत्सर्ग करके अक्षयदान शब्द कहे, इतनेमें यदि श्रावक पड़गाह ले तो आहार करले नहीं तो दूसरे घरमें जावे। भिक्षाको जब निकले तब घरोंका नियम करले। यह ऐलक मुनि योग्य क्रियाओंका अभ्यास करता है, रात्रिको मौन रहता है व प्रतिमायोग धारण करता है। यह परम वैरागी होता है और निरंतर मुनि होनेकी भावना भाता है। जब समर्थ होजाता है व लज्जाभावको जीत सक्ता है तब लगोटी त्याग मुनिव्रत धारण कर लेता है।

एकदेश चारित्रका ग्यारह प्रतिमारूपसे जो क्रप आचार

शास्त्रमें बताया गया है वह बड़ा ही वैज्ञानिक है। इस रीतिसे जो श्रावक चलता है व अभ्यास करता है वह बड़ी सुगमतासे मुनिपदका आचरण पाल सक्ता है क्योंकि आठवीं प्रतिमासे आरंभ त्याग है, इससे आठमी प्रतिमासे लेकर मुनितक किसी सचित्तका संहार नहीं करते हैं। जो दातार अचित्त या प्रासुक वस्तु देता है उसे ही शुद्ध समझकर लेलेते हैं। सचित्त वस्तुका नियम ८ मी प्रतिमासे बंद होजाता है। जैसे सवारीका त्याग होजाता है। जैसा व्यवहार चारित्र प्रतिमाओंसे बढ़ता जाता है वैसे अंतरंग स्वरूपाचरण चारित्र भी बढ़ता जाता है। जितनी २ थिरता बढ़ती है उतनी २ ध्यान करनेकी अधिक योग्यता होजाती है।

यह व्यवहारचारित्र सकल या विकल दोनों ही प्रकारका रागद्वेष घटानेके हेतुसे ही बताया गया है। संसारी जीवोंके परिणाम बाहरी निमित्त वश औरके और होजाते हैं इसलिये आरम्भ परिग्रहका त्याग परिणामोंको विक्षिप्त व आकुलित व क्षोभित होनेसे बचाता है, आत्मानुभवमें पूरी २ मदद देता है। मुमुक्षुको यह विश्वास रखना चाहिये कि निश्चयरत्नत्रयमई आत्माका एक शुद्धोपयोग भाव ही कर्मनिर्जराका कारण मोक्षमार्ग है। जितने अंश कषायका मंद भी उदय है वह शुभोपयोग है और वह बंधका कारण है। यद्यपि अशुभोपयोगकी अपेक्षा शुभोपयोग ठीक है क्योंकि अशुभोपयोगसे तो पापका ही बंध होता है, जब कि शुभोपयोगसे पुण्यका बंध होता है। तथा सम्यग्दृष्टी ज्ञानीकी जो प्रवृत्ति शुभोपयोगमें होती है वह इसलिये होती है कि वह इस आलंबनके द्वारा अशुभोपयोगसे बचे और शुद्धोपयोगमें चढ़ सके।

ज्ञानी तो शुभोपयोगको भी त्यागना ही चाहता है, वह मात्र शुद्धोपयोगका ही उत्सुक होता है, जो आत्मानंद प्रदान करता है व कर्मोंकी निर्जरा करता है व साक्षात् मोक्षका साधन है।

श्री प्रवचनसारमें शुद्धोपयोगमई भावमें लीन जो साधु हैं उसीके मुनिपना कहा है—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं ॥ ४२ ॥

भावार्थ—जो महात्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें एक ही काल भलेप्रकार प्रवर्तता है वह एकाग्रताको पाजाता है। और उसीके मुनिपना परिपूर्ण होता है। वास्तवमें श्रद्धा व ज्ञान सहित आत्मामें तल्लीनता ही मुनिपना है।

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ ४३ ॥

भावार्थ—जो आत्मज्ञानसे रहित साधु आत्माको छोड़कर व अन्य द्रव्यमें उपयुक्त होकर उससे मोह करता है व राग करता है व द्वेष करता है वह नानाप्रकार कर्मोंसे बंधता है। भावार्थ—परमुखी बंधकारक है व स्वमुखी बंधनाशक है—

अत्थेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जो मुनि परपदार्थोंमें मोह नहीं करता है, उनमें राग नहीं करता है, उनसे द्वेष नहीं करता है, वह साधु निश्चयसे अनेक प्रकार कर्मोंको क्षय करता है। वास्तवमें आत्माके साम्य-भावमें रहना ही कर्मक्षयका उपाय है।

समणा सुद्धवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्मि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ ४५ ॥

भावार्थ—आगममें मुनि दो प्रकारके व दो अवस्थाओंके धारी होते हैं—एक शुद्धोपयोगी दूसरे शुभोपयोगी, उनमें आत्मलीन शुद्धोपयोगी मुनिके कर्मोका आश्रव नहीं होता है जब कि शुभोपयोगीके कर्मोका आश्रव होता है। क्योंकि शुभोपयोगमें मंद कषाय है, यही कषायपना कर्मबंधका कारण है।

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि समण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जब मुनियोंके अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन पांच परमेष्ठीकी भक्ति होती है व परमागमके ज्ञाता व शास्त्रानुसार चलनेवाले साधुओंमें प्रेम होता है, वह साधु अन्य साधुओंकी सेवा करता है, उस समय साधुकी चर्या शुभोपयोग रूप कही जाती है, यह क्रिया बंधकी कारण है।

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा ॥ ७३ ॥

भावार्थ—जो मुनि भलेप्रकार जीवादि पदार्थोंके ज्ञाता हैं, बाहरी व अन्तरंग परिग्रहके त्यागी हैं, इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं हैं ऐसे समताभाव धारक शुद्धोपयोगी साधु कहे गए हैं।

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ ७४ ॥

भावार्थ—शुद्धोपयोगीके ही साधुपना है व शुद्धोपयोगीके ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान हैं या दर्शन ज्ञानकी एकता है।

शुद्धोपयोगीके ही निर्वाण होती है। वही सिद्ध परमात्मा होजाता है इसलिये शुद्धोपयोगीको नमस्कार है।

यथार्थमें आत्मामें ही मोक्षमार्ग है, आत्मा हीमें मोक्ष है। आत्मा ही साधक है, आत्मा ही साध्य है। आत्मामें ही उपाय तत्व है, आत्मामें ही उपेय तत्व है। समयसार कलशमें कहा है—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां ।
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ॥
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः ।
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥ २०–११ ॥

भावार्थ—जो किसी भी तरहसे मोहको दूर करके ज्ञानमात्र अपने आत्मीक भावमई निश्चल शुद्धोपयोग रूप भूमिका आश्रय लेते हैं वे साधक होते हुए सिद्ध होजाते हैं। अज्ञानी इस आत्मीक भावको न पाकर भ्रमण करते रहते हैं। निश्चयसे मोक्षमार्ग व मोक्ष आत्मामें ही है। व्यवहारको मात्र आलंबन या निमित्तकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग कहा है। वास्तवमें वह मोक्षमार्ग नहीं है। इस मोक्षमार्गप्रकाशकका तात्पर्य यही है कि अपने असली आत्मीक भावरूपी मोक्षमार्गको समझकर उसीका प्रकाश अपने भीतर करो जिससे केवलज्ञानका प्रकाश होजावे और यह आत्मा सदाके लिये परमानंदित और मुक्त होजावे।

ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्ति ।

दोहा ।

वंदहु श्री अरहंतको, वंदहु सिद्ध महान ।
सूरि उपाध्याय साधुको, वंदो कर नित ध्यान ॥१॥
अवध लक्ष्मणपुर बसे, अग्रवाल कुल लीन ।
मङ्गलसेन महागुणी, जिनमतमें परवीन ॥२॥
तिन सुत मक्खनलाल हैं, गृही धर्ममें दक्ष ।
तृतीय पुत्र सीतल यही, धारत जिन मत पक्ष ॥३॥
विक्रम उन्निस पैंतिसे, जन्म सुकार्तिक मास ।
बत्तीस वय अनुमानसे, घरसे भयो उदास ॥४॥
श्रावक धर्म सम्हालते, विहरे भारतवर्ष ।
आय रहो वर्षातमें, उनिस अठासी वर्ष ॥५॥
नगर मुरादाबाद है, युक्त प्रान्त सदार ।
बनत पात्र अतिशिलके, फैले देश मंझार ॥६॥
जिन मंदिर दो बन रहे, श्रावक घर हैं साठ ।
सेवत जिन मत प्रेमसे, काटत कर्मन काठ ॥७॥
मुँशी बाबूलालजी, राय बसन्तीलाल ।
सुन्दरमल कालीचरण, विज्ञ मुरारीलाल ॥ ८ ॥
वैद्य सु शंकरलालजी, प्यारेलाल प्रवीण ।
कल्लूमल भूकनशरण, रामस्वरूप अदीन ॥ ९ ॥

हुकमचन्द मलकेशरी, नन्दकिशोर सुहाय ।
छोटेलाल रईस हैं, इत्यादिक समुदाय ॥१०॥

पंडित पातीराम हैं, शिक्षक शाला एक ।
शाला धर्म सुहावनी, जहं साधर्मी टेक ॥११॥

मोक्ष मार्ग परकाश है, ग्रन्थ महा गुणलीन ।
पंडित टोडरमल्लजी, लिखो आतमगुण चिह्न ॥१२॥

आयु पूर्ण हो चल दिये, पूरण भयो न ग्रन्थ ।
बहुजन चिंतामें पड़े, किम पूरै यह ग्रन्थ ॥१३॥

मन उमंग मेरे भयो, साहस कर मन लाय ।
ग्रंथ पूर्ण यह लिख गयो, श्रीजिनवाणी सहाय ॥१४॥

बुधजन इसे सम्हारियो, भूल चूक जो होय ।
आतमहित उद्यम कियो, और न मनशा कोय ॥१५॥

कार्तिक वद चौदस महा, मोक्ष दिवस जिनवीर ।
चौवीससे सत्तावना, सम्वत है महावीर ॥१६॥

तादिन ग्रंथ समाप्त किय, हर्ष न हिये समाय ।
पढ़ैं पढ़ावैं ज्ञानीजन, हो सबको सुखदाय ॥१७॥

वंदहु श्री महावीरको, गौतम गणधर ध्याय ।
मंगलकारी हो सदा, शिवपुर मार्ग सहाय ॥१८॥

समाप्तम् ।

कार्तिक सुदी १४ वीर सं० २४५७
विक्रम सम्वत् १९८८
ता० ९-११-३१.

ब्र० सीतलप्रसाद,
मुरादाबाद ।